प्रेमचंद

लेख, भाषण एवं संस्मरण

[हिन्दीकोश]

Tittle: Lekh, Bhashan evam Sansmaran

Author: Premchand

Release Date: 20 Jan 2021.

Edition: 1.0

Language: Hindi

While every precaution has been taken in the preparation of this book, the publisher assumes no responsibility for errors or omissions, or for damages resulting from the use of the information contained herein.

Suggestions and corrections are welcome.

Visit https://www.hindikosh.in for more...

सूची

जीवन-सार

घृणा का स्थान

अंधा पूँजीवाद

बातचीत करने की कला

जॉन आफ आर्क

शहीद-ए-आज़म

इत्तिफाक ताकत है

अहदे अकबर

आबशारे न्याग्रा

कलामे सुरूर

कलामे अकबर पर एक नजर

शरर और सरशार

जुलेखा

मजनूँ

गालियाँ

हँसी

दुःखी जीवन

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र

कालिदास की कविता

पैके अब्र

बिहारी

केशव

जॉन गाल्सवर्दी

पुराना जमाना, नया जमाना

प्राचीन मिस्र जाति के धर्मतत्त्व

मनुष्यता का अकाल

हिन्दू-मुसलिम प्रश्न

कर्बला-2

इस्लामी सभ्यता

गुरुकुल में तीन दिन

शांतिनिकेतन में
आजादी की लड़ाई
उर्दू में फिरऔनियत
मानसिक पराधीनता
उपन्यास रचना
उपन्यास 1
उपन्यास 2
उपन्यास का विषय
जीवन में साहित्य का स्थान
साहित्य का आधार
साहित्य की प्रगति
कौमी भाषा के विषय में
राष्ट्रभाषा हिन्दी
दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार
उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी
हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी
फिल्म और साहित्य
साहित्य और मनोविज्ञान
देशी चीज़ों का प्रचारक
स्वदेशी आंदोलन

जीवन-सार

मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमे कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी। मेरा जन्म सम्वत् 1967 में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज। एक बड़ी बहिन भी थी। उस समय पिताजी शायद 20 रुपये पाते थे। 40 रुपये तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गयी। यों वह बड़े ही विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलने वाले आदमी थे; लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थी, उनके दो बालक थे, और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूँजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था, वकील बनने का और एम. ए. पास करने का। नौकरी उस

जमाने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस-बारह की कोई जगह पा जाता; पर यहाँ तो आगे पढ़ने की धुन थी — पाँव में लोहे की नहीं अष्टधातु की बेड़ियाँ थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर!

पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महँगी अलग — 10 सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था। और मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।

मैट्रिकुलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकेण्ड डिवीजन में और क्वींस कालेज में भरती होने की आशा न रही। फ़ीस केवल अव्वल दरजे वाले की ही मुआफ़ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया। मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसिपल

थे मि. रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे। कुरता और धोती पहने फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज को तबदील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर – आधी ही कहने पाया था – बोले कि घर में कालेज की बातचीत नहीं करता, कालेज में आओ। खैर, कालेज में गया। मुलाकात हुई; पर निराशाजनक। फ़ीस मुआफ़ न हो सकती थी। अब क्या करूँ? अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता, तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता; लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था?

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफ़ारिश लाऊँ, पर बारह मील की मंजिल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ? कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों के बाद एक सिफ़ारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्धकारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गयी। सिफ़ारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न रही। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिन्सिपल से मिलने का इरादा था; लेकिन घर पहुँचते ही मुझे ज्वर आ गया। और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया। एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहितजी आ गये। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा और

तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाये और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ पिसवाकर मुझे पिला दिया। उसने जादू-सा असर किया। ज्वर चढ़ने में घंटे ही भर की देर थी। इस औषध ने, मानों जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने पंडितजी से बार-बार उस जड़ी का नाम पूछा, पर उन्होंने न बताया। कहा – नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं फिर मि. रिचर्डसन से मिला और सिफ़ारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा – इतने दिनों कहाँ थे?

'बीमार हो गया था।'

'क्या बीमारी थी?'

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी-सी चीज थी, जिसके लिए इतनी लम्बी गैरहाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह से जब मैं

सिफ़ारिश के लिए मिला था, तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया।

मैंने कहा – पैलपिटेशन आफ हार्ट सर!

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा – अब तुम बिलकुल अच्छे हो?

'जी हाँ!'

'अच्छा, प्रवेश-पत्र भरकर लाओ।'

मैंने समझा बेड़ा पार हुआ। फार्म लिया, खानापुरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा था – इसकी योग्यता की जाँच की जाएँ।

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेजी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी। और बीजगणित और रेखागणित से तो रूह काँपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था; लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफेसर साहब बंगाली थे अंग्रेजी पढ़ा रहे थे।

वाशिंगटन इर्विंग का 'रिपिवान विंकिल' था। मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो-ही-चार मिनिट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घंटा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और फ़ार्म पर 'सन्तोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घंटा बीजगणित का था। इसके प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फ़ार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया, वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फ़ार्म पर गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया।

मैं इतना हताश हुआ कि फ़ार्म लेकर फिर प्रिन्सिपल के पास न गया। सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका। 'इंटरमीडिएट' में दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा में अख्तियारी हो गयी, तब मैंने दूसरे विषय लेकर उसे आसानी से पास कर लिया। उस समय तक यूनिवर्सिटी के इस नियम ने, कितने युवकों की

आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। खैर मैं निराश होकर घर तो लौट आया; लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किसी तरह गणित को सुधारू और कालेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली! एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया! बाजार से एक छोटा सा लैम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ दर का 'फसाना-ए-आजाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिकुलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफ़ारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब जरूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल

जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता; लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो-महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया! चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी जमाने में शहर का एक बेलदार मुझसे हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सखुन तकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वह पैसे उसने मुझसे मेरे घर गाँव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी; लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था, कहीं नौकरी कर लूँ। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था, या संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुक सेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया था। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दूकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा – तुम कहाँ पढ़ते हो?

मैंने कहा – पढ़ता तो कहीं नहीं हूँ; पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखा लूँगा।

‘मैट्रिकुलेशन पास हो?’

‘जी हाँ।’

‘नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है?’

‘नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।’

वह सज्जन एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे। इन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस जमाने मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हेडमास्टर साहब से मिलने का वादा करके चला, तो पाँव जमीन पर न पड़ते थे। यह सन् 1899 की बात है। परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता; पर सबसे कठिन परिस्थिति यूनिवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक ही खाट पर सुलाता है।

2

मैंने पहले-पहल 1907 में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने 1901 ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में; लेकिन गल्प 1907 से

पहिले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था – 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह 1907 में 'जमाना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से 1909 में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गयी थी।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में सब डिप्टी इन्सपेक्टर था और हमीरपुर जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा, कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात 30-40 मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोजे वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और इसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा – यह पुस्तक तुमने लिखी है?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़कर बोले – तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेजी सरकार की तौहीन की है, आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोजे वतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ता छूटे। एक हजार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुश्किल से 300 बिकी थीं। 700 प्रतियाँ मैंने 'जमाना कार्यालय' से मँगवाकर साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गयी; किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिंटेंडेंट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इन्सपेक्टर – जिनका मैं मातहत था मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिड़ीशन के सिवा और कुछ नहीं है। और सिडीशन भी साधारण नहीं; बल्कि संक्रामक।

पुलिस के देवता ने कहा – ऐसे खतरनाक आदमी को जरूर सख्त सजा देनी चाहिए। डिप्टी-इन्सपेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से कि कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वह मित्रभाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था, कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें, कि लेखक केवल क़लम का उग्र है और राजनैतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालाँकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलेक्टर साहब ने डिप्टी इन्सपेक्टर से पूछा – आपको आशा है कि वह आपसे अपने दिल की बातें कह देगा? आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूँ।'

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले – मैं तो हुजूर के हुक्म .....

साहब ने बात काटी – नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है। मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक के लेखक का सिडीशन साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुकदमा चलाइए, नहीं धमकी देकर छोड़ दीजिए। 'मुँह में राम, बगल में छुरी' मुझे पसन्द नहीं।

जब यह वृत्तान्त डिप्टी इन्सपेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कहा, तो मैंने पूछा – क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते?

वह हँसकर बोले – असम्भव! कोई लाख रुपये भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था, और वह रुक गयी। मुकदमा अदालत में आता, तो सजा हो जाना यकीनी था। यहाँ आपकी पैरवी करने वाला भी कोई न मिलता; मगर साहब हैं शरीफ आदमी।

मैंने स्वीकार किया – बहुत ही शरीफ।

3

मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गयी। गर्मी के दिनों में देहातों में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुँइयाँ खानी पड़ीं। यों मैं घुँइयों को बिच्छू समझता हूँ और तब भी समझता था; लेकिन न-जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गयी कि अजवाइन से घुँइयाँ का बादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन खा लिया करता।

दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा, शायद बुन्देलखंड की पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल पाचन शक्ति को तीव्र कर दिया; लेकिन एक दिन पेट में दर्द हुआ और

सारे दिन मैं मछली की भाँति तड़पता रहा। फँकियाँ लगायीं; मगर दर्द न कम हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गयी; मल के साथ आँव आने लगा; लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुँचा, तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे थाने में ही ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूँग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा क्या हरज है, आज यहीं ठहरो। भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा! थाने में ही अड्डा जमा दिया। दारोगाजी ने जमींकन्द का सालन पकवाया, पकौड़ियाँ, दही-बड़े, पुलाव।

मैंने एहतियात से खाया — जमींकन्द तो मैंने केवल दो फाँकें खायीं; लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दारोगाजी के फूस के बँगले में लेटा, तो दो-ढाई घंटे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन-भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमींकन्द की कारस्तानी है। घुँइयाँ से

पहले मेरी कुट्टी हो चुकी थी। अब जमींकन्द से भी बैर हो गया। तबसे इन दोनों चीजों की सूरत देखकर मैं काँप जाता हूँ। दर्द तो फिर जाता रहा; पर पेचिश ने अड्डा जमा दिया। पेट में चौबीसों घंटे तनाव बना रहता। अफरा हुआ करता। संयम के साथ चार-पाँच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई-न-कोई औषधि भी खाया करता; किन्तु पेचिश टलने का नाम न लेती थी, और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा करायी, एक बार महीने-भर प्रयाग में डाक्टरी और आयुर्वेदिक औषधियों का सेवन किया; पर कोई फायदा नहीं।

तब मैंने तबादला कराया। चाहता था रोहेलखंड; पर पटका गया बस्ती के जिले में, और हलका वह मिला जो नेपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्व. पं. मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ, जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी-कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी; लेकिन यहाँ आकर पेचिश और बढ़ गयी। तब मैंने छः महीने की छुट्टी ली; और लखनऊ के मेडिकल कालेज से निराश होकर काशी के एक हकीम से इलाज कराने लगा। तीन-चार महीने बाद कुछ थोड़ा-सा फायदा तो मालूम हुआ, पर बीमारी जड़ से न गयी। जब फिर बस्ती में पहुँचा तो वही हालत हो गयी। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती हाईस्कूल में स्कूल-

मास्टर हो गया। फिर यहाँ से तबदील होकर गोरखपुर पहुँचा। पेचिश पूर्ववत जारी रही।

यहाँ मेरा परिचय महावीर प्रसादजी पोद्दार से हुआ जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े ही उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती से ही 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवायीं थीं।

पोद्दारजी की प्रेरणा से मैंने फिर उपन्यास लिखा और 'सेवासदन' की सृष्टि हुई। वहीं मैंने प्राइवेट बी. ए. भी पास किया। 'सेवासदन' का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित होकर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पें भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों की, विशेषकर पोद्दारजी की सलाह से मैंने जल-चिकित्सा आरम्भ की; लेकिन तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक जीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और लोग धड़धड़ाते हुए चले गये, पर मेरे पाँव ही न उठते थे।

बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। उसी दिन मुझे अपनी कमजोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया, अब थोड़े दिनों का और मेहमान हूँ, जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन सन्ध्या समय 'उर्दू बाजार' में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी, सम्पादक 'स्वदेश' से मेरी भेंट हो गयी। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा – बाबूजी, आप तो बिलकुल पीले पड़ गये हैं, कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का जिन्दगी से नाता है, तो क्यों न हँसकर मरूँ? मैंने चिढ़कर कहा – मर ही तो जाऊँगा भई, या और कुछ! मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। द्विवेदीजी बेचारे लज्जित हो गये। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह 1921 की बात है। असहयोग आन्दोलन जोरों पर था। जलियावाला बाग का हत्याकांड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था,

कि मुझ-जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी 20 साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

अब देहात में चलकर कुछ प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दारजी का देहात में एक मकान था। हम और वह दोनों वहाँ चले गये और चर्खे बनवाने लगे। वहाँ जाने के एक ही सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी। यहाँ तक कि एक महीने के अन्दर मल के साथ आँव आना बन्द हो गया।

फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठकर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। गुलामी से मुक्त होते ही मैं नौ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् की जो इच्छा होती है वही होता है, और मनुष्य का उद्योग भी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।

[‘हंस’, जनवरी-फरवरी. 1932 में प्रकाशित]

घृणा का स्थान

जीवन में घृणा का स्थान

निंदा, क्रोध और घृणा ये सभी दुर्गुण हैं, लेकिन मानव जीवन में से अगर इन दुर्गुणों को निकल दीजिए, तो संसार नरक हो जायेगा। यह निंदा का ही भय है, जो दुराचारियों पर अंकुश का काम करता है। यह क्रोध ही है, जो न्याय और सत्य की रक्षा करता है और यह घृणा ही है जो पाखंड और धूर्तता का दमन करती है। निंदा का भय न हो, क्रोध का आतंक न हो, घृणा की धाक न हो तो जीवन विशृंखल हो जाएँ और समाज नष्ट हो जाएँ। इनका जब हम दुरुपयोग करते हैं, तभी ये दुर्गुण हो जाते हैं, लेकिन दुरुपयोग तो अगर दया, करुणा, प्रशंसा और भक्ति का भी किया जाएँ, तो वह दुर्गुण हो जायेंगे। अंधी दया अपने पात्र को पुरुषार्थ-हीन बना देती है, अंधी करुणा कायर, अंधी प्रशंसा घमंडी और अंधी भक्ति धूर्त। प्रकृति जो कुछ करती है, जीवन की रक्षा ही के लिए करती है। आत्म-रक्षा प्राणी का सबसे बड़ा धर्म है और हमारी सभी भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। कौन

नहीं जानता कि वही विष, जो प्राणों का नाश कर सकता है, प्राणों का संकट भी दूर कर सकता है। अवसर और अवस्था का भेद है। मनुष्य को गंदगी से, दुर्गन्ध से, जघन्य वस्तुओं से क्यों स्वाभाविक घृणा होती है? केवल इसलिए कि गंदगी और दुर्गन्ध से बचे रहना उसकी आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक है। जिन प्राणियों में घृणा का भाव विकसित नहीं हुआ, उनकी रक्षा के लिए प्रकृति ने उनमें दुबकने, दम साथ लेने या छिप जाने की शक्ति डाल दी है। मनुष्य विकास-क्षेत्र में उन्नति करते-करते इस पद को पहुँच गया है कि उसे हानिकर वस्तुओं से आप ही आप घृणा हो जाती है। घृणा का ही उग्र रूप भय है और परिष्कृत रूप विवेक। ये तीनों एक ही वस्तु के नाम हैं, उनमें केवल मात्रा का अंतर है।

तो घृणा स्वाभाविक मनोवृति है और प्रकृति द्वारा आत्म-रक्षा के लिए सिरजी गयी है। या यों कहो कि वह आत्म-रक्षा का ही एक रूप है। अगर हम उससे वंचित हो जाएँ, तो हमारा अस्तित्व बहुत दिन न रहे। जिस वस्तु का जीवन में इतना मूल्य है, उसे शिथिल होने देना, अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारना है। हममें अगर भय न हो तो साहस का उदय कहाँ से हो। बल्कि जिस तरह घृणा का उग्र रूप भय है, उसी तरह भय का प्रचंड रूप ही साहस है। जरूरत केवल इस बात की है कि घृणा का परित्याग करके उसे विवेक बना दें। इसका अर्थ यही है कि हम व्यक्तियों से घृणा न करके उनके

बुरे आचरण से घृणा करें। धूर्त से हमें क्यों घृणा होती है? इसलिए कि उसमे धूर्तता है। अगर आज वह धूर्तता का परित्याग कर दे, तो हमारी घृणा भी जाती रहेगी। एक शराबी के मुँह से शराब की दुर्गन्ध आने के कारण हमें उससे घृणा होती है, लेकिन थोड़ी देर के बाद जब उसका नशा उतर जाता है और उसके मुँह से दुर्गन्ध आना बन्द हो जाती है, तो हमारी घृणा भी गायब हो जाती है। एक पाखंडी पुजारी को सरल ग्रामीणों को ठगते देखकर हमें उससे घृणा होती है, लेकिन कल उसी पुजारी को हम ग्रामीणों की सेवा करते देखें, तो हमें उससे भक्ति होगी। घृणा का उद्देश्य ही यह है कि उससे बुराइयों का परिष्कार हो। पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अंदर जितनी ही प्रचंड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी। घृणा के शिथिल होने से ही हम बहुधा स्वयं उन्हीं बुराइयों में पड़ जाते हैं और स्वयं वैसा ही घृणित व्यवहार करने लगते हैं। जिसमे प्रचंड घृणा है, वह जान पर खेलकर भी उनसे अपनी रक्षा करेगा और तभी उनकी जड़ खोदकर फेंक देने में वह अपने प्राणों की बाजी लगा देगा। महात्मा गाँधी इसलिए अछूतपन को मिटाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं कि उन्हें अछूतपन से प्रचंड घृणा है।

साहित्य और कला में घृणा का स्थान

जीवन में जब घृणा का इतना महत्व है, तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिंब है? मानव-हृदय आदि से ही 'सु' और 'कु' का रंगस्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि ही इसलिए हुई कि संसार में जो सु या सुंदर है और इसलिए कल्याणकर है, उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और 'कु' या असुंदर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। 'कु' और 'सु' का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है। प्राचीन साहित्य धर्म और ईश्वर द्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावों की सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून चूसने वालों, रंगे सियारों , हथकंडेबाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये हुओं के लिए उतने ही जोर से सदानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। संभव है, वह भावनाओं की तरंग में और कठोर सत्य की ओर से आँखें बन्द करके संसार में क्रांति मचा देने का स्वप्न देख रहा हो, जिन्हें वह दरिद्रता के कारण सहानुभूति का पात्र समझ रहा है, उसकी सारी बुराइयों को दुरवस्था ओर दरिद्रता के सिर मढ़ रहा है। वे इतने भोले-भाले

प्राणी न हों, पर वह नवयुग का स्वर्ग स्वप्न देखने में इतना मग्न हैं कि इस समय उसे किसी बाधा-विघ्न की और ध्यान देने का अवकाश नहीं है। लेकिन उन कलाकारों का उद्देश्य क्या यह था, कि वे किसी व्यक्ति या समाज के प्रति घृणा फैलायें? वे व्यक्तियों के शत्रु नहीं है, न वे द्वेष या ईर्ष्या के कारण साहित्य की रचना करते हैं। वे उन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के शत्रु हैं, जिनके हाथों ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। व्यक्तियों से उन्हें उतना ही प्रेम है, जितना अपने किसी भाई से हो सकता है। जिन सूदखोर महाजनों या मजदूरों के पसीने की कमाई पर मोटे होनेवाले मिल-मालिकों के प्रति वह अपनी कृतियों में जहर उगलता है, उन्हीं को संकट में देखकर वह उनकी सेवा करता अपना अहोभाग्य समझेगा। वह जानता है कि यह गरीब खुद अपनी स्वार्थान्धता के हाथों दुखी है और अपनी धनलिप्सा के शिकार होकर गरीबों को सता रहे हैं। उसे उनसे सहानुभूति होती है, पर उन परिस्थितियों के साथ वे बिल्कुल समझौता नहीं कर सकते। हो सकता है, उनमें कुछ ऐसे भी हों, जिन्हें सूदखारों के हाथों कष्ट उठाने पड़े हों, संभव है, उन्हीं के हाथों उनका सर्वनाश हो गया हो, लेकिन अगर वह कलाकार है, तो उसमे वह व्यक्ति विशेष पर दिल का गुबार निकालने न बैठेगा। हाँ, यह हो सकता है कि सूदखोरी के प्रति उसकी लेखनी ज्यादा तीव्र और पैनी हो जाये। इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु

आलोचक ने यह आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है। अव्वल तो उसे किसी ब्राह्मण के हाथों कोई कष्ट नहीं पहुँचा और मान लो किसी ब्राह्मण ने उस पर डिगरी करके उसका घर नीलाम करा लिया हो , या उसे सरे बाजार गाली दे दी हो तो इसलिए वह समस्त ब्राह्मण-समुदाय का दुश्मन क्यों हो जाएँगा? जीवन में आदमी को सभी तरह के अनुभव होते हैं। प्राय: सभी समुदायों में उसके मित्र हो सकते हैं और शत्रु भी, फिर वह किसी एक समुदाय को क्यों चुनकर उन्हीं के प्रति घृणा फैलायेगा? हाँ, चूँकि धर्म के नाम पर अपना उल्लू सीधा करने वाले, श्रद्धा की आड़ में श्रद्धालुओं का नोचने वाले, गया में मुसलमानों और चमारों तक से पिंडदान का संस्कार कराने वाले और नाना प्रकार से धर्म का पाखंड रचने वाले उस समुदाय के लोग हैं, जो दुर्भाग्यवश ब्राह्मण कह जाते हैं, पर जो ब्राह्मणत्व से उतना ही दूर हैं, जितना नरक से स्वर्ग, इसलिए कोई भी लेखक, जो समाज में सद्व्यवहार और सद्धर्म और राष्ट्रीय ऐक्य का राज देखना चाहता है, उनकी अपेक्षा नहीं कर सकता। कौन-सा इतना स्वाभिमानी भारतीय है, जो प्रातःकाल एक आदमी को अपने को ब्राह्मण बताकर भीख माँगते देखकर लज्जा से सिर झुका लेगा। यह उस समुदाय को बदनाम करने वाले लोग हैं जिन्होंने सच्चे जीवत और सच्चे विचारों की सरिता बहाई थी, जो हिन्दू समाज के पथ प्रदर्शक थे। उनका

यह पतन! लेकिन यह कौन नहीं जानता कि वह गरीब ऐसी परिस्थितियों में पला है, जहाँ भिक्षा माँगना लज्जा नहीं। मेरा खयाल है कि समाज में जितनी अनीति है, उनमें सबसे घृणित धार्मिक पाखंड और धूर्तता है। चोरी बदमाशी, रिश्वत, दगा, झूठ इन दुर्गुणों का किसी समाज विशेष से संबंध नहीं। एक जमाना था, जब अधिकतर कायस्थ, पटवारी और कानूनगो होते थे। यह भी बिहार और यू. पी. के पूर्वी भाग में, शायद बुंदेलखंड में भी, लेकिन अब वह बात नहीं रही। इसलिए केवल कानूनगो और पटवारी कह देने से कायस्थ का बोध नहीं होता, न बनिया कह देने से किसी विशेष समुदाय का बोध होता है। अब तो जो दौरी-दुकान करते थे, वह पटवारी हैं, जो पटवारी थे वह दौरी-दुकान करते हैं। केवल पंडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बड़ी दूर की कौड़ी लाना है कि जो इस पाखंडाचार के प्रति घृणा फैलाता है, वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है। ब्राह्मणत्व की आड़ में यह पाखंडाचार देखकर जितनी ग्लानि इन पंक्तियों के लेखक को हो सकती है, उससे कहीं ज्यादा स्वयं उन्हें होती है, जो वास्तव में ब्राह्मण हैं। लेखक को अपने पचपन साला जीवन में ऐसा कोई ब्राह्मण नहीं मिला, जिसने इस पाखंडाचार को घृणा की दृष्टि से न देखा हो। लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं , एक महान् पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा

और सदाचरण से पहुँचता है। हरेक टके-पंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषीय भावनाओं के प्रति जितनी ही घृणा फैलायी जाये, वह थोड़ी है, केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के संचालक हमारे वैसे ही भाई हैं, जैसे आलोचक महोदय के।

बस, इस विषय में कुछ और लिखने की जरूरत मैं नहीं समझता। मैंने अपनी पोजीशन बतला दी, अगर इस पर भी कोई सज्जन मुझे ब्राह्मण-द्रोही कहे जाएँ, तो मुझे परवाह नहीं है, मैं उसे दोष और दिल का गुबार समझ लूँगा।

इस आलोचना में आलोचक महोदय ने दो-एक और मजेदार बातें कही हैं, मसलन यह कि मैंने जो कुछ लिखा है, उसमे जो कुछ अच्छा है, वह माल मशरूका है जो कुछ बुरा है वह मेरा है, या यह कि मैंने दूसरों की खुशामद की है कि वे मुझे उपन्यास या औपन्यासिक-सम्राट कहें (और संभव है इस तरह की मेरी कोई दरख्वास्त आलोचक महोदय की सेवा में भी पहुँची हो।) या यह कि मैं एक मित्र के आग्रह करने पर भी केवल इसलिए

शान्तिनिकेतन नहीं गया कि मुझे स्वयं डा. रवीन्द्रनाथ ने नहीं बुलाया था और यह कि मुझे बंगाल का कोई कुत्ता भी नहीं जानता – यह सब बच्चों की-सी बातें हैं जिनका मेरे पास कोई जवाब नहीं है। हाँ, इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि आलोचक महोदय, या उनके कोई अन्य मित्र सम्राटई का मुकुट धारण करना चाहें, तो मैं बड़ी खुशी से उसे उनको भेंट कर दूँगा। इसके लिए उन्हें विशेष आंदोलन और विद्रोह करने की जरूरत नहीं। मैं दिल से तो नहीं चाहता कि अपना बहुमूल्य मुकुट उन्हें या उनके मित्रों को दे दूँ लेकिन यदि मेरे पास इस तरह का कोई डेपुटेशन आवेगा, तो अनिच्छा से ही सही, पर ज्यादा हिचड़-पिचड़ न करूँगा, क्योंकि मैं समय की रफ्तार पहचानता हूँ और जानता हूँ कि इस डिक्टेटरशिप के जमाने में मुकुट कोई लुभावनी वस्तु नहीं है।

[‘हंस’, दिसंबर, 1933]

अंधा पूँजीवाद

जिधर देखिए, उधर पूँजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुई है। किसानों के खेती उजड़ जाए उनकी बला से। कहावत के उस मूर्ख की भाँति जो उसी डाल की जड़ काट रहा था, जिस पर वह बैठा था, यह समुदाय भी उसी किसान की गर्दन काट रहा है, जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रह है।

पहले जब किसान निपट मूर्ख था, उसके लिए गोरे और काले पूँजीपतियों में कोई अन्तर न था। साँप और नाग दोनों ही उसके लिए समान थे। मि. बुल और सेठ पुनपनवाला दोनों ही को देखकर वह काँप उठता था।

तब धीरे-धीरे उसने कुछ राजनैतिक ज्ञान सीखा, राष्ट्र और जाति जैसे शब्दों से उसका परिचय हुआ और भोले बालकों की भांति जो हरेक वस्तु को मुँह में डाल लेते है, इस सरल व्यक्ति ने भी सेठ पुनपुनवाला के वैष्णव तिलक और हिन्दू धर्म के प्रति असीम श्रद्धा और उसके नाम को उजागर करने वाले धर्मशालों, मंदिरों और पाठशालों को देखकर, उनको अपना

उद्धारक समझा। यही सेठ पुनपुनवाला तो है, जिनके नाम और यश की कथाएँ मोटे मोटे अक्षरों में समाचार पत्रों में छपती हैं। ऐसे राष्ट्र-प्रेमी सेठजी से उसने मन में बड़ी बड़ी आशाएँ बाँध लीं। ये अपने है, अपने देश के हैं, कितने ही स्वार्थी क्यों ने हो विदेशियों से तो अच्छे ही होंगे। इतना पुण्य कमाया है, तभी तो लक्ष्मी ने उनके ऊपर कृपा की है। अपने दुःखी देशवासियों के लिए उनके मन में कहाँ तक दया न होगी।

लेकिन जब पुनपुनवाला के मिलों में उसकी ऊख की खरीद होने लगी, जब उनकी आढ़तों में उसका अनाज या सन तौला जाने लगा, तब उसे अनुभव हुआ कि सेठजी बाहर से जितने बड़े धर्मात्मा और देशभक्त है, भीतर से उतने ही लुटेरे और बंधुद्रोही भी है, और धर्म और देश प्रेम का यह आडंबर उन्होंने केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए रच रखा है। पहले तो उसे सहसा अपनी आँखों पर विश्वास न आया। सेठ पुनपुनवाला जिनके नाम से ऐसी ऐसी धर्म-संस्थाएँ चलती हैं कभी इतने पाषाण हृदय नहीं हो सकते। यह उनके मुखतारों और मुनीमों का चक्र है। उसने सेठजी से अपना दर्द-दिल कहने की अनुमति चाही, लेकिन बेकार, सेठजी के उसे दर्शन न हुए, उनके दरबानों ने उसे धक्के देकर निकाल दिया, यहाँ तक कि जब उसने रोना शुरू किया तो धर्मात्मा सेठ पुनपुनवाला खुद हंटर लेकर दौड़े। तब अभागा कृषक समझ गया कि इन सेठजी से उसने व्यर्थ आशाएँ बाँधी थीं।

वहीं उसे दूसरा अनुभव यह हुआ, और जिससे उसे और मर्मवेदना हुई, कि मि. बुल इन सेठ पुनपुनवाला से कहीं खरे, सच्चे और सज्जन है। उनके मिल में उसकी ऊख चटपट तुल जाती है, और तुरन्त दाम मिल जाते हैं। रौकड़ियों और प्यादों को कुछ न कुछ चटाना जरूर पड़ता है – और इसमें उसे लेशमात्र भी आपत्ति नहीं है – पर यदि इसकी शिकायत की जाए तो मि. बुल उसे सुनने और दूर करने के लिए तैयार रहते हैं। उनकी आढ़ती में भी ज्यादा धाँधली नहीं होती।

बिलकुल यही दृश्य आजकल बिहार में देखने में आ रहा है। बिहार में शक्कर के इतने मिल खुल गए है कि वह भारतवर्ष का खंडसाल हो गया है। वहीं की भूमि में उपजी हुई ऊख सफेद शक्कर बनाने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। बिहार ही क्यों, संयुक्त प्रांत के उत्तर पूर्व भाग में भी उसी तरह की जमीन है। इन मिलों में किसानों के साथ सफाई का व्यवहार किया जाता है, वहाँ भारतीय मिलों में इन गरीबों को तरह-तरह से सताया जाता है, कई कई दिन उनकी ऊख नहीं खरीदी जाती, यहाँ तक की जब ऊख सूखने लगती है, तो उसे नाममात्र का दाम देकर गिरवा लिया जाता है। मिल के समाने गरीब किसानों को कई-कई दिन वर्षा और ठंड में पड़ा रहना पड़ता है, क्लर्कों और मुंशियों की खुशामदें करनी पड़ती हैं, तब भी कोई उसकी नहीं सुनता। इसके प्रतिकूल अंग्रेजी मिलों में उनके ठहरने और जानवरों

को बाँधने के लिए टीन के छप्पर डाल दिए गए है। मैनेजर और अधिकारी भी ज्यादा इंसानियत से पेश आते हैं। हमसे यह वृतान्त बिहार के एक सज्जन ने जिन्हें इस व्यवसाय का प्रत्यक्ष अनुभव है बयान किया है, इसलिए सत्य होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। भारतीय पूँजीपतियों की नृशंसता इतना बढ़ गयी है कि बिहार सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है और उसने एक सरकुलर निकाल कर मिल के प्रबन्धकों को चेतावनी दे दी है कि वे ऊख की खरीद के दर लिखकर नगर के मुख्य-मुख्य स्थानों पर लगा दें, जिसमें किसानों को कोई धोखा न दे सके। बिहार सरकार ने शक्कर के बाजार-दर और शक्कर की तैयारी की लागत आदि का परता मिलाकर यह हिसाब लगाया है कि तैंतीस – चौंतीस में ऊख की खरीद सात आने मन के हिसाब से होनी चाहिए। अगर कोई मिल इस तरह की विज्ञप्ति न निकालेगी या इस दर से ऊख ने खरीदेगी तो उस पर पाँच सौ रुपये जुर्माना होगा। हम निजी मुआमलों में सरकार का पड़ना बहुत अच्छा नहीं समझते, लेकिन इस अवसर पर बिहार-सरकार की कार्रवाई पर उसे धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हमें आशा है कि हमारे प्रांत में भी किसानों को पूंजीपतियों के पंजे से बचाने की कोशिश की जाएगी। अब किसान-सभाओं के कार्यकर्ताओं का यह काम है कि वह मिल वालों पर कड़ी निगाह रखें और किसी को बेराह चलते देखें तो सरकार को सूचना

दें। यह आशा करना कि पूंजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने ले लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।

['जागरण', 6 नवम्बर 1933]

बातचीत करने की कला

बातचीत करना उतना आसान नहीं है, जितना हम समझते हैं। यों मामूली सवाल जवाब तो सभी कर लेते हैं, अपना दुःख सभी रो लेते हैं, उसी तरह, जैसी सभी थोडा-बहुत गाकर अपना मन प्रसन्न कर लेते हैं, लेकिन जिस तरह गाने को कला कुछ और है और उसे सीखने की जरूरत है, उसी तरह बातचीत करने की भी एक कला है, जो कुछ लोगों में तो ईश्वरदत्त होती है और कुछ लोगों को अभ्यास से आती है और जो आज अज्ञात कारणों से लुप्त होती जा रही है। आज दो चार हजार सुशिक्षित आदमियों में एक दो ही ऐसे निकलेंगे, जो अपने संभाषण से किसी समाज या मंडली का मनोरंजन कर सकते हों, अपनी लियाकत का सिक्का जमा सकते हों या अपने पक्ष का समर्थन कर सकते हों। और विचित्र बात यह है कि पढ़े-लिखे और विद्वान् लोग इस कला से जितने शून्य देखे जाते हैं, उतने अशिक्षित और ग्रामीण लोग नहीं।

किसी गाड़ी में दो पढ़े-लिखे सज्जन हजार-दो हजार मील की यात्रा साथ करेंगे, पर एक-दूसरे से सलाम-कलाम भी न करेंगे। एक अपना अखबार

पढ़ता रहेगा, दूसरा अपने उपन्यास में डूबा रहेगा। इससे उल्टे दो ग्रामीण ज्योंही गाड़ी में बैठे कि उनमें चिलमबाजी शुरू हो जाती है, फिर खेती बारी का जिक्र छिड़ जाता है, फिर मामले- मुकदमे की चर्चा होने लगती है, जमींदार ने कैसे उसे बेदखल किया या साहुकार ने कैसे सूद दर सूद लगाकर पचास के दो सौ पचास रुपये कर लिये और उसकी सारी जायदाद नीलाम करा ली। जब तक यात्रा समाप्त न होगी, उनकी जबान बन्द न होगी। संभव है, वे गाना शुरू कर दें | चलते-चलते उनमें एक सद्भाव पैदा हो जाता है। यहाँ हमारे बाबू साहब अपनी जगह पर बैठे अपने मुसाफिर भाई को गहरी आलोचना की आँखों से देखकर रह जाते हैं। आप एक ग्रामीण के साथ लंबी-से लंबी यात्रा हँसते हुए कर सकते हैं, लेकिन बाबू साहब के साथ आप छोटी यात्रा करके ऊब भी जाते हैं। उस ग्रामीण के जीवन में कुछ रस हे, कुछ उत्साह है| कुछ आशावादिता है, कुछ बालकों का-सा कुतूहल है, कुछ अपनी विपत्ति पर हँसने की सामर्थ्य है, लेकिन मिस्टर या बाबू साहब अपने आप में सिमटकर मानों सारी दुनिया से रूठ गए हैं। ऐसा क्यों होता हैं, समझ में नहीं आता।

लेकिन ग्रामीणों में भी यह कला तनज़ुल (अवनति, ह्रास) पर है। पुराने जमाने में नाई संभाषण-कला में जन्म ही से निपुण होता था, उसी तरह जैसे धोबी जन्म ही से कविता को कला में सिद्ध होता है। अलिफलैला में

नाइयों द्वारा कहीं गई कई कहानियाँ हैं और यह विशेषता कुछ ईरानी या अरबी हज्जामों ही में न थी, हमारे यहाँ भी नाई पक्का बातूनी होता था, बड़ा हाजिरजवाब, जिसका दिमाग लोकोक्तियों और चुटकुलों की खान होता था। गांवों में नाऊ ठाकुरों को हजारों कथाएँ आज भी प्रचलित हैं, लेकिन नाइयों में भी अब उस कला का लोप होता जा रहा है। अब तो वह मुहर्रमी सूरत लिए आता है, चुपचाप बाल बनाता है, और पैसे लेकर चला जाता है। |

नाइयों में तो इस कला के मिटने का कारण देहातों को बदहाली और साधारण जनता की गरीबी हो सकती है। जिनके पास पैसे हैं, वे अब अपने हाथों अपनी दाढ़ी साफ कर लेते हैं, कहीं छठे महीने उन्हें बाल कटवाने के लिए नाई को जरूरत पड़ती है। और देहातों में किसान आप ही दाने को मुहताज है, नाई का पेट कह से भरें। जब किसान के बखारों में अनाज और गायें-भैंसों क थनों में दूध भरा होता था, तब नाई ठाकुर मूँछों पर ताव देते थे और भरा हुआ पेट उबलते हुए झरने को तरह किलोलें करता था, आनंद बढ़ाने बाली भावनाएँ मन में उठती थीं और चुटकला के रूप में निकलती थीं। जहाँ किसान बाकी और ब्याज के भंवर में डूबता उतराता हो और उसके बच्चे भूख से बिलबिलाते हों, वहाँ हँसने हंसाने की किसे सूझती है।

शिक्षित लोगों में जो रूखापन और उदासीनता आ गई है, उसका कारण शायद आजकल की शिक्षा प्रणाली है। पहले साहित्य ही मुख्य पाठ्य विषय था। हम बड़े-बड़े कवियों की सूक्तियाँ याद कर लिया करते थे। सुभाषितों का एक खजाना हमारे दिमाग में जमा हो जाता था और कंठस्थ होने के कारण अवसर पड़ने पर हम संभाषण में उसका व्यवहार करते थे। अब बाल्यावस्था में जो किस्से-कहानियाँ या अन्य पाठ पढ़ाये जाते हैं, उनमें सुभाषितों का नाम भी नहीं होता। और जब ऊँची कक्षाओं में क्लासिक पढ़ने का समय आता है, तो उसके लिए पाठ्यक्रम में इतना कम समय होता है कि केवल उसका अर्थ समझ लेना ही काफी समझा जाता है। रटंत की किसे फुरसत है। अच्छे संभाषण के लिए अच्छी स्मरण-शक्ति का होना आवश्यक है, और यह शक्ति आजकल उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती है। बड़े-बड़े विद्वानों से कहिए कि शेक्सपियर की दो-चार सूक्तियाँ सुनाइए, ना वे केवल मुस्कराकर रह जाएँगे। गरीब को कुछ याद हो तब तो सुनाये। एक कारण यह भी है कि हमने जनता में मिलना-जुलना तर्क कर दिया है, जहाँ भावनाएँ अपने मौलिक और प्राकृतिक रूप में निवास करती हैं। जब तक आपको हजार पाँच सौ शेर और कवित्त या दोहे, सौ दो सौ चुटकुले, दो चार सौ सुभाषित और सूक्तियाँ याद न हों, आप मनोरंजक संभाषण नहीं कर सकते। किसी को स्पीच सुनने जाइए, अगर वह केवल फिलॉसफी

बघार रहा है, या बड़ी ओजस्विनी भाषा में परिस्थितियों पर अपना मत प्रकट कर रहा है तो आप बहुत जल्द ऊब जाएँगे। लेकिन अगर वह बीच-बीच में अपने कथनों को विनोद-भरे चुटकुलों और मुहावरों से अलंकृत करता जाता है, तो आप अंत तक मुग्ध बैठे रहेंगे। एक लतीफे से सारे संभाषण में जान-सी पट जाती है। सैकडों दलीलें एक तरफ और एक चुस्त सुभाषित एक तरफ। वह प्रतिद्वंद्वी को निरुत्तर कर देता है, उसके जबाब में उसकी जबान नहीं खुलती। उसका पक्ष कितना ही प्रबल हो, पर सुभाषितों में कुछ ऐसा जादू होता है कि मानों वह एक फूंक से दलीलों को उड़ा देता है। मौलाना मुहम्मदअली मरहूम जिन दिनों अंग्रेजी 'कामरेड' नाम का साप्ताहिक-पत्र लिखा करते थे तो उनके लेखों का हरेक पैराग्राफ ग़ालिब के शेरों से अलंकृत होता था और इससे राजनीति के रूखे विषय में भी रस आ जाता था। उनके इस तरह के लेख लाजवाब होते थे और बड़ी रुचि से पढ़े जाते थे। मौलाना मुहम्मदअली को ग़ालिब का पूरा दीवान कंठ था और शेर को वह कुछ इस तरह चिपका दिया करते थे कि मालूम होता था ग़ालिब ने वह शोर इसी अवसर के लिए कहा हो। स्व. अकबर की व्यंगोक्तियाँ भी दंदाशिकन हैं, इतनी संजीव और चुलबुली कि अगर हम अपनी बातचीत में मौके पर उनका व्यवहार कर सकें, तो सुनने वालों को फड़का दे। कबीर और तुलसी, रहीम, गिरधर आदि की रचनाएँ सुभाषितों

से भरी पड़ी है। मगर अंग्रेजी स्कूलों में हिन्दी साहित्य एक गौण विषय है, और जिन लोगों ने इन महाकवियों को केवल स्कूलों में पढ़ा है, वे शायद ही उनकी सूक्तियाँ को याद रख सकते हो। लतीफों की कोई अच्छी पुस्तक हिन्दी में हमारी नजर से नहीं गुजरी| बीरबल, अकबर और खुसरो के नाम से जो लतीफे प्रचलित हैं उनमें अधिकांश गन्दे और कुरुचिपूर्ण हैं ! अगर कोई सज्जन लतीफों को संग्रह कर सकें, तो साहित्य का उपकार करें। समाज में वार्ता-कुशल व्यक्ति का कितना सम्मान और प्रभाव होता है, यह लिखने की जरूरत नहीं। ऐसा आदमी किसी मंडली में पहुँच जाता है, तो तुंरत सबका ध्यान अपनी ओर खींच लेता है और मंडली पर मानों उसका आधिपत्य हो जाता है। हाँ, मौका देखकर हो जबान खोलना चाहिए और उसी विषय में बोलने का साहस करना चाहिए जिसका हमें कुछ अनुभव या ज्ञान है। मौन की बड़ी प्रशंसा की गई है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम मौका आने पर भी मुँह बन्द किए बैठे रहें। हाँ, अगर हमारे पास कहने को कुछ नहीं है, तो मौन रहना ही उचित है। मौन से कम-से-कम हमारी मूर्खता का परदा तो ढका रहता है। हम तो कहते हैं, हमारे थोथेपन के लिए बड़ी हद तक हमारी अयोग्यता ही जिम्मेदार है। अगर हमारे स्टॉक में लोकोक्तियों और लतीफों का अभाव न हो , तो हम थोथे बैठे ही नहीं रह सकते। जिसे नाचना आता है, वह अवसर पड़ने पर बिता नाचे रह ही नहीं

सकता। अगर उसे नाचने का अवसर + मिले, तो वह पन में बहुत दुःखी होगा और भाव-भंगियों से अपना असंतोष प्रकट करेगा। जो अच्छे वक्ता हैं, वे किसी सम्मेलन में चुप नहीं बैठ सकते। उनकी जीभ खुजलाने लगती है। और वे बार-बार स्लिप लिख-लिखकर सभापति से बोलने की अनुमति लेकर ही रहते हैं। जिन गरीबों को बोलने की शक्ति या अभ्यास नहीं है, वे तो बार-बार कहने पर भी मंच पर नहीं आते, मनाते रहते हैं कि यह बला मेरे सिर न आ जाएँ।

लगभग एक महीना हुआ हमारी मुलाकात एक ऐसे सज्जन से हुई, जिनकी वाचालता देखकर हम दंग रह गए। लतीफों और सुभाषितों का एक सोता था, जो उबलता चला आता था। ऐसा कोई विषय न था जिस पर उनकी अपनी एक स्वतंत्र राय न हो और जिसका समर्थन वह कायल कर देने वाले ढंग से न कर सकें। कई बार यह जानते हुए भी कि उनका कथन भ्रममूलक है, उनकी वाचालता से लाजवाब हो गये। अपने पक्ष में एक मार्मिक लतीफा कहकर वह कहकहा मारते थे और इसके साथ मैदान मार लेते थे। वह जानते थे, इस फैसले के खिलाफ मैं कुछ नहीं कह सकता। उन्होंने कितने लतीफे कहे, इस वक्त सब तो याद नहीं आते, लेकिन दो-चार याद हैं, उन्हें मैं पाठकों के मनोरंजन के लिए यहाँ देता हूँ और उनसे अनुरोध करता हूँ कि वह अपने दिमाग को ऐसे लतीफों से जितना सशस्त्र

कर सकें, कर लें। इससे वे अपने ही दु:खों पर नहीं, दूसरे के दु:खों पर भी प्रहार कर सकेंगे और अपने श्रद्धालुओं का दायरा फैला सकेंगे –

(1) दक्षिणी अफ्रीका में एक बार सरकारी कर्मचारी जन-गणना के सिलसिले में एक झोंपड़ी के सामने पहुँचा, जहाँ कई बच्चे खेल रहे थे। उसने आवाज दी, तो उसके जवाब में एक हबशिन बाहर निकल आई। कागजों की खानापूरी करने के लिए कर्मचारी ने पूछा – तुम्हारा शौहर क्या काम करता है?

हबशिन ने जवाब दिया – वह क्या करेगा। उसे मरे तो बीस साल हो चुके हैं।

'तो यह बच्चे किसके हैं?'

'मेरे हैं।'

'लेकिन तुम तो कहती हो कि तुम्हारे शौहर को मरे बीस साल हो गए?'

'हाँ, वह मर गया है, लेकिन मैं तो अभी जिंदा हूँ।'

(2) एक तेली ने अपने बैल के गले में घंटी बांध रक्खी थी। एक सज्जन ने पूछा – 'क्यों साहजी, बैल की गर्दन में घंटी क्यों बांध रक्खी है?'

तेली ने जवाब दिया – 'इसलिए कि बैल चलता रहता है, तो घंटी बजती रहती है। मैं कोई दूसरा काम भी करता रहता हूँ, तो मुझे मालूम रहता है कि बैल चल रहा है, खड़ा नहीं हो गया।'

'लेकिन अगर बैल खड़ा होकर सिर हिलाता रहे?'

'महाशय, मेरा बैल इतना समझदार नहीं है?'

(3) एक हिसाबदाँ ने दरिया को गहराई का अनुपात निकालकर घर वालों से कहा – पानी थोडा है, कोई डर नहीं, हम इसे पार कर लेंगे, लेकिन जब घर के सब लोग मध्य धारा में पहुँचते ही उसकी आँखों के सामने डूब गये, तो वह फिर किनारे पर पहुँचे और फिर अनुपात निकाला। वही जबाब निकाला जो पहले था, तो बोले – अभी ज्यो का त्यों, कुवां डूबा क्यों?

(4) एक अफीमची पिनक में राह में पड़ा हुआ था। एक फक्कड ने उसके सिर की पगडी उतार ली और उसकी जगह थोड़ी सी रुई रख दी। अफीमची तब पिनक से जागा, तो पगडी संभालने के लिए सिर की तरफ हाथ बढ़ाया। पगड़ी की जगह रुई उसके हाथ आयी तो बोला – कमबख़्त, धुनकी गयी, काती गथी, बुनी गयी, पगडी बनी। इतना सब कुछ हो चुकने के बाद फिर रुई की रुई।

(5) एक बार मि. हर्बर्ट स्पेंसर कहीं सैर करने जा रहे थे। आप इंगलैंड बहुत बड़े फिलॉसफर हो गुजरे हैं। रास्ते में आपको एक सौ साल की बुढिया बैठी पड़ी। हर्बर्ट स्पेंसर को मजाक की सूझी, बोले – मैडम, दुनिया में तुम्हारा कोई प्रेमी भी है? बुढिया ने छूटते ही जवाब दिया – बेटा, मेरे प्रेमी तो सब स्वर्ग सिधार, बस एक तुम जीते बचे हो। फिलॉसफर साहब ऐसे झेंपे कि भागते हो बना।

(6) तुर्कों के प्रसिद्ध प्रधानमंत्री असमत पाशा जब लोजान की कान्फ्रेंस में सेवरी की संधि को बदलवाने के लिए आये, तो आपका सामना लार्ड कर्जन से हुआ। लार्ड कर्जन की अकड़ तो मशहूर है। आपने इस घमंड में कि यह दुनिया के सबसे शक्ति-संपन्न साम्राज्य के प्रतिनिधि हैं, तुर्की प्रतिनिधियों पर रोब अमान के लिए राष्ट्रवादी तुर्कों पर खूब हमले किये। लार्ड कर्जन करा यह ढंग खरे असमत पाशा ने ऐसा मुँह बना लिया, मानों लार्ड कर्जन बोल ही नहीं रहे है। जब लार्ड कर्जन डेढ-दो घंटे तक डीगें मार कर बैठ गये, तो गाजी असमत पाशा चौंककर उठ खड़े हुए और कान पर हाथ रखकर बोले – क्या आप तुर्की के विषय में कुछ कह रहे हैं। मैंने तो कुछ सुना ही नहीं। दूसरे विचारों में डूबा हुआ था। लार्ड कर्जन पर घड़ों पानी पड़ गया।

[‘हंस’, दिसम्बर, 1934]

जॉन आफ आर्क

जिन लोगों ने महिला वर्ग को व्यर्थ और निकम्मा समझ रखा है वास्तव में वे भारी गलती पर हैं। कोई युग ऐसा नहीं है जिसमे उन्होंने जनता के मन में अपनी प्रतिष्ठा और बड़ाई का सिक्का न जमाया हो। इतिहास साक्षी है कि युद्ध क्षेत्र में भी उन्होंने शूरवीरता और साहस के वे आश्चर्यजनक सीन प्रस्तुत किए हैं जिन्हें पढ़कर और सुनकर आज जनता आश्चर्य-चकित रह जाती है। ये गुणवान और शुभ आचरण का पर्याय देवियाँ जिस समय ज्ञान और कला तथा दया और गुणों की ओर पग बढ़ाती हैं तो लीलावती सी अनसुलझी पहेलियाँ दृष्टि में आती हैं और यदि वे धनुष-बाण से सुसज्जित होकर शत्रु के समक्ष मैदान में उतरती हैं तो पंक्तियाँ की पंक्तियाँ और परे के परे साफ करती चली जाती हैं। वे पुरुषों से किसी बात में भी कम नहीं। उनका सच्चा उत्साह, देशभक्ति, स्वाभिमान, पवित्रता, सहानुभूति और अन्य गुण पूजा के योग्य हैं। पूरे हिन्दुस्तान और विशेषकर राजपूताने में ऐसी घटनाएँ सामने आती हैं जिनसे पता चलता है कि इन हिन्दुस्तानी देवियों ने अपने देश, अपनी पवित्रता और अपने सतीत्व पर प्राण न्योछावर कर दिए

और जलकर राख हो गईं, लेकिन अपने धर्म और जन्मभूमि पर मरते दम तक आँच न आने दी। अहिल्याबाई, रानी पद्मिनी, रजिया बेगम, चाँद बीबी, नूरजहाँ और इन अनेक देश पर मर मिटने वालों के उदाहरण मिलेंगे जिनके नाम जीवन-पटल पर चाँद-सूरज की भाँति टपका करेंगे। इन्हीं देवियों के कल्याणकारी अवतरण की कृपा से हमारा हिन्दुस्तान स्वर्ग जैसा हो रहा था। आज हमारे राष्ट्रीय पतन का मुख्य कारण यही है कि हमने उनको अपना गुलाम बनाकर, उनको अपने पाँवों की जूती समझकर और मानसिक क्षमताओं में अपने से कम मानकर उन्हें ज्ञान और कला के खजाने से वंचित कर दिया है। उनके लिये शिक्षा का द्वार बन्द कर दिया। परिणाम यह है जो हम आज आँखों से देख रहे हैं।

किसी देश का विकास और खुशहाली उसके उन युवा बच्चों पर आधारित है जिन्हें पुरुष नहीं वरन् माताएँ बनाती हैं। हमने उनको पर्दे और उपेक्षा में रखकर स्वतन्त्रता की झलक और नये युग के विकास से वंचित कर दिया। वे शारीरिक और मानसिक रूप से दुर्बल और अशक्त होती गईं और वही दुर्बलता, अशक्तता, अज्ञान और अशिक्षा हमें उत्तराधिकार में मिली। माताएँ ही हमको साहसी और गुणवान बनाया करती हैं और भावी खुशहाली तथा विकास की आधारशिला उनकी गोद में रखी जाती है। माताओं की बहादुरी, उनके साहस और दृढ़ संकल्प से ही राष्ट्रीय भवन के निर्माताओं

को मसाला प्राप्त होता है। जहाँ के पूर्व व वर्तमान आविष्कारक और आविष्कार, ज्ञानी और विद्वान्, सर्वज्ञ और विवेकी, वैज्ञानिक और बुद्धिमान माताओं के सुन्दर गुणों का गुलदस्ता हैं। ये गुण माताएँ अपने बच्चों में शैशवकाल से ही कूट-कूटकर भर देती हैं जो भावी पीढ़ियों में मानव जाति पर जान न्योछावर करना बच्चों का खेल समझते हैं। अतीत के वैभव पर हमारा गर्व करना मानो रेत के ऊँचे टीले पर खड़ा होना है जिसका एक पल का भी भरोसा नहीं कि किस समय वह प्रतिकूल हवा की टक्कर से खील-खील हो जाए और तितर-बितर होकर गिर पड़े। रूस, जापान, इंगलिस्तान, फ्रांस, इटली – चाहे किसी भी साम्राज्य को लीजिए, उस देश की सफलता, विकास, समृद्धि, स्वतन्त्रता और उसकी व्यवस्था तथा स्थिरता के मूल में आपको उस देश की उच्च साहसी महिलाएँ ही दिखाई देंगी।

आज मैं आपको फ्रांस के एक निर्धन लेकिन शरीफ खानदान की लड़की की कथा सुनाता हूँ जिसने देशभक्ति के नशे में चूर होकर किस प्रकार अपने प्रिय देश के लिए स्वयं को कष्टों व खतरों की जलती हुई आग में झोंक दिया और उस पर बलिदान हो गई। ऐसे पुण्यात्मा लोग जो दूसरों की भलाई के लिए अपने जान-माल की चिन्ता न करें, संसार में दुर्लभ हैं। हाँ, अपनी मुक्ति के अभिलाषी, यश के इच्छुक, अपनी श्रेष्ठता तथा खुशहाली के

दीवाने आपको बहुत से मिल जाएँगे। लेकिन निःस्वार्थ और निरुद्देश्य दूसरों की सेवा करने वाले देश के सच्चे हितैषी तथा जान छिड़कने वाले यदा-कदा ही दिखाई देंगे। कैसा अच्छा हो यदि उनको इस बात से परिचित कराया जाएँ कि जन सेवा ही ईश-मिलन है तो नरक के भयावह और हृदयद्रावक दृश्य स्वर्ग के शाश्वत सुख और विजयोल्लास में परिवर्तित हो जाएँ। किसी ने सत्य ही कहा है –

खुदा के आशिक तो हैं हजारों, बुतों में फिरते हैं मारे मारे।
मैं उसका बन्दा बनूँगा जिसको खुदा के बन्दों से प्यार होगा॥

मलूल अज हमरहान बूदन तरीके कारदानी नीस्त।
बेकश दुश्वारिय मंजिल ब यादे अहदे आसानी॥

सहयात्रियों से दुखी होना निपुणता का व्यवहार नहीं है। सुख के समय को स्मरण करके यात्रा की कठिनाइयों को सहन किया जा सकता है।]

आज देश इसी प्रश्न को हल करने में व्यस्त हैं कि महिलाओं की वर्तमान दशा चिन्तनीय है। अमरीका के प्रैजिडेंट रूजवेल्ट ने एक स्थान पर अपने भाषण में कहा कि "महिलाएँ ही देश की सम्पदा हैं। उनकी भलाई देश की

भलाई है। यदि वे दुर्बल हैं तो देश दुर्बल है।" आज देश के नेता इसी भेद को खोलने पर तुले हुए हैं।

जिस समय फ्रांस और इंगलिस्तान उस शतवर्षीय युद्ध में व्यस्त थे जो एडवर्ड तृतीय के युग में सन् 1328 में प्रारम्भ हुआ था और जो सन् 1453 में हेनरी षष्ठ के युग में समाप्त हुआ तो मित्रता, श्रेष्ठता और बड़ाई से चमकते अंग्रेज उस समय आए दिन शहर पर शहर जीतते जाते थे और बड़े-बड़े प्रान्तों और शहरों को अधिकृत कर चुके थे। समस्त बन्दरगाह और किले उनके हाथ में आ गए थे। पोर्ट स्मिथ, क्रेसी, कैले, पोर्सट्रिज, पेरिस, रून, पास्टस सब अंग्रेजों के राज्य में सम्मिलित हो चुके थे। दूसरे शब्दों में मानो वे सभी फ्रांस के प्रान्त बन गए थे। फ्रांसवासियों की दशा अकथनीय थी। वे आए दिन की पराजयों से दुखी थे। हर लड़ाई में हार ही हार हो रही थी। इंगलिस्तान का उत्कर्ष तथा प्रभुत्व प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गया था, दिलों पर उनका भय छा रहा था। उस समय समूचे योरोप की दृष्टि अंग्रेजों पर लगी हुई थी। लेकिन जय के साथ पराजय फूल में काँटे की भाँति सम्बद्ध होकर साथ-साथ चलती है क्योंकि प्रत्येक उत्थान के बाद पतन आवश्यक है। जब जीत पर जीत प्राप्त करते हुए उन्होंने पाँच वर्ष के अन्दर लगभग समूचा फ्रांस जीतकर अधीन कर लिया और जब ऑर्नलीज की घेराबंदी में सफल होने को ही थे कि अचानक वह आश्चर्यजनक घटना घटी

जो विश्व-इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। जब फ्रांस की ऐसी गम्भीर दशा थी और समस्याओं तथा कष्टों का सामना करते-करते जनता अन्ततः निराश हो चुकी थी और विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर आक्रमणों से देश नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था, देश से सुख-शान्ति विदा हो चुकी थी, उस समय जॉन ऑफ आर्क एक देवदूत की भाँति अवतरित हुई जिसे ईश्वर ने फ्रांस की दुर्दशा पर दया करके उसके बचाव और सहायता के लिए भेजा था। वह डोमरेमी में स्थित लोरीन के एक देहाती मजदूर की लड़की थी। उनके माता-पिता बहुत गरीब थे और झोंपड़ी में रहकर मेहनत-मजूरी से अपना पेट पालते थे। अपने घरेलू कार्यों और सीने-पिरोने से निपटकर जॉन ऑफ आर्क खेतों में भेड़ तथा अन्य पशु चराया करती थी। उस समय घर-घर पर अंग्रेजों का आतंक जमा हुआ था। लोग अपने घर-संपदा की सुरक्षा कठिनाई से कर सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति के मुँह पर पुरानी भविष्यवाणियाँ थीं। वह काल दुर्भाग्य का काल माना जाता है। ब्रंस नामक एक फ्रांसीसी कवि ने भविष्यवाणी की थी कि लोरीन के बालूत के जंगलों में एक लड़की पैदा होगी, और सौभाग्य से बालूत के जंगल डोमरेमी की पहाड़ियों में ही थे। प्रायः लोग कहा करते थे कि जिस फ्रांस को एक औरत (सम्राज्ञी इसाबेला से आशय है) ने अपने हाथों से खोया है वह एक लड़की के सहारे स्वाधीन होगा। और, यह भी प्रसिद्ध था कि लोरीन की एक उत्साही लड़की फ्रांस

को स्वतंत्रता का प्रकाश प्रदान करेगी। इन किंवदन्तियों ने उस तेरह वर्षीय लड़की के कोमल हृदय को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित किया। एक दिन उसने यह स्वप्न देखा कि महान् देवदूत जिबराइल उसे धर्मात्मा, आस्थावान, देश के लिये पूर्णतः समर्पित और पवित्र बनने का उपदेश दे रहे हैं। इसके बाद संत कैथेराइन और मार्गरेट प्रकट हुईं और उसे उपदेश देकर लुप्त हो गईं। आध्यात्मिकता अवतरित होने तथा अन्य आम चर्चाएँ होने पर भी जब उसने फ्रांस की ऐसी दुर्दशा देखी कि उसका प्यारा देश विजयी आक्रान्ताओं के आक्रमणों से बरबाद हो चुका है, लोगों का साहस टूट गया है और उत्साह ठंडा हो गया है, हर छोटा-बड़ा अपनी दुर्बलता और निर्धनता के हाथों रो-पीट रहा है, शत्रु के सामने आ डटना सरल कार्य नहीं रह गया है, तब देश के शासन और हानि व दुर्दशा से परिचित होकर वह शोक में डूबी हुई तथा अत्याचारों की तलवार से मारी हुई काँप उठी। और, दूसरी ओर जब उसने अपनी विपत्ति तथा निर्धनता का चिन्तन किया तो अनायास आँसू भरकर कहने लगी –

क्या हाथ उठाऊँ बहरे दुआ सूए आसमाँ
बर आए जो कभी वह मिरी आरजू नहीं

लेकिन फिर उसने अपने शोकाकुल हृदय को ढाढ़स बँधाया और उसके शरीर में एक बिजली सी कौंध गई। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का नाम सुनकर

उसका खून उबलने लगा। उसने राष्ट्रीय पराधीनता की शर्म अनुभव की। उसका दिल भर आया और उस गुप्त रहस्य तथा आकाशवाणी की याद ने उसके घायल हृदय को चीर दिया। वह देशभक्ति में डूबी बैरागिन एक सच्चे संन्यासी की भाँति एक वृक्ष के नीचे अपने परम पिता की गोद में बैठ गई। उसने अपना दायाँ हाथ आकाश की ओर उठाया और बाएँ हाथ में तलवार लेकर सम्पूर्ण समर्पण से प्रार्थनारत हो गई। उसकी आँखों से आँसुओं की बूँदें टप-टप टपक रही थीं, उसके मुँह से ये शब्द निकल रहे थे कि ऐ सृष्टि के रचयिता परमात्मा, ऐ दोनों लोकों के स्वामी और अन्तर्यामी, मेरे देश की दशा पर दया कर, मेरे प्यारे देशवासियों को इस बरबादी और विनाश से मुक्त कर, मुझे शक्ति दे कि मैं देश की सेवा कर सकूँ, मुझे देशभक्ति की क्षमता प्रदान कर, अपनी मातृभूमि से प्यार करने का साहस दे, मेरे भाइयों को विदेशी शासन से बचा, अन्याय-अत्याचार का सामना करने का साहस दे। मेरा शरीर इस देश के जान-माल पर अर्पित है। ऐ परम पिता! मेरी इस विनम्र प्रार्थना और इच्छा को पूर्ण कर। उसकी प्रार्थना ईश्वर के दरबार में स्वीकार हुई और जब उसने वह आवाज सुनी तो उसका मुरझाया हृदय गुलाब के फूल जैसा खिल गया, उसका अस्तित्व उस चुम्बकीय क्षमता से भर गया जो बाद में उसके जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण सिद्ध हुआ। कहते हैं कि उसकी वाणी में विचित्र प्रभाव था और उसकी उपस्थिति मनुष्य में

नवीनता और स्फूर्ति का संचार करती थी। उसके चेहरे से वह शराफत और रौब टपकता था जो मनुष्यों के दिल को जीत लेता है। इस प्रार्थना से उसके हृदय को शक्ति प्राप्त हुई। उसने हाथ में तलवार संभाली, उसे चूमा और आकाश की ओर देखकर संकल्प लिया कि मैं आज से अपना तन-मन देश को समर्पित करती हूँ। एक चित्रकार ने जॉन का ऐसा चित्र बनाया है जिसमे वह यह कहती हुई दिखाई देती है कि जब तलवार हाथ में है तो फ्रांस को छुड़ाना और स्वाधीन करना क्या बड़ी बात है। इसके बाद वह गाँव के पादरियों और लोगों के कहने के प्रतिकूल कप्तान के पास गई और उससे कहा कि मुझे कैंप में ले चलो। वह वैंकोलीवर में गई, फिर चिम्यान। वहाँ उसने अपने मिशन का वर्णन किया कि मैं एक मूर्ख लड़की हूँ लेकिन परमात्मा ने मुझे आदेश दिया है कि मैं ऑर्लनीज को अंग्रेजों के हाथों से बचाऊँ और फ्रांस के राजा को सिंहासन पर बैठाऊँ। मुझे न प्रशंसा की इच्छा है न पुरस्कार की चिन्ता, न शत्रु का भय न प्रतिद्वंद्वी का डर। मैं केवल ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय आदेश पूरा करने को आई हूँ। अलहमीस के बड़े पादरी ने उन ईश्वरीय प्रेरणाओं और खुलासों की चर्चाओं का वर्णन करके सम्राट् चार्ल्स को प्रेरणा दी कि वे इस समय उसकी सहायता से लाभ उठाएँ। जिसकी निराशा आशा में बदल गई ऐसे फ्रांस के राजा ने इस अवसर को अच्छा समझकर उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की

अनुमति दे दी। फिर वह जान हथेली पर रखकर सेनापति बन, घोड़े पर सवार हो, जिरह-बख्तर पहन, सिर पर लोहे की टोपी रखकर, हाथ में फ्रांस का शाही झंडा लेकर मौत की हँसी उड़ाने के लिए लड़ाई के मैदान में कूद पड़ी। वह शत्रु-सेना के दस हजार सशस्त्र जवानों पर इस प्रकार टूट पड़ी जैसे कोई बाज अपने शिकार पर बुरी तरह टूटता है। यद्यपि इस लड़ाई में उसे गहरे जख्म लगे लेकिन उसने ऑर्लनीज का घेरा उठवा दिया। अंग्रेज भयभीत हो गए और फ्रांसीसियों ने उसे दया का दूत माना। जो लड़ाई के अतिरिक्त कुछ भी पसंद नहीं करते थे, उन फ्रांसीसी जनरलों की कोई परवाह न करती हुई वह जीत के बाजे बजाती तथा बधाई और कुशलता की पुकार सुनती हुई 14 जुलाई 1429 को रेम्स में प्रविष्ट हुई और जो भी सामने आता गया, उसे जीतती गई। और, उसने वहाँ पहुँचकर दूसरे दिन 17 जुलाई को बड़े गिरिजाघर में फ्रांस के राजा चार्ल्स के राज्यारोहण की रस्म पूरी की।

उसके बाद पेरिस और कम्पेकिन की घेराबंदी होती रही जहाँ उसकी स्वामिभक्त और उत्साही सेना ने बड़े शानदार महान् कार्य किए। लेकिन अन्तिम शहर की सुरक्षा के समय वह ड्यूक ऑफ बरगंडी के हाथों गिरफ्तार हो गई जिसने उसे बंदी बना लिया और बाद में अंग्रेजों के हाथ बेच दिया। जब उसे युद्धक्षेत्र से बंदीगृह में ले गए, उस समय का दृश्य

अत्यन्त हृदय-द्रावक है। कड़ी परीक्षा का अवसर था और वह मृत्युपाश में फँसी पुकार-पुकारकर कह रही थी कि देश के प्रेम में इस सिर पर जो कुछ भी बीते वह कम है।

फिर अहंकारी न्यायालय का द्वार खुला। 3 जनवरी 1431 को उसे न्यायालय के अधिकारियों को सौंप दिया गया जहाँ छह दिनों तक उसकी पेशी होती रही। 24 मार्च को उस पर शत्रु और जादूगरनी होने का आरोप लगाया गया और वह 30 मई 1431 को 'ऊन' स्थान में जादूगरनी मानकर जिन्दा ही दहकते अंगारों के हवाले कर दी गई। और, वह पवित्र आत्मा उन मुहब्बत का दम भरने वाले झूठे दोस्तों और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने वाले निर्दयी तथा कातिल शत्रुओं से सदा के लिए उड़कर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ मानव शरीर की बुराई और विश्वासघात कुछ काम नहीं आते और जहाँ थके-हारों को स्थायी सुख-चैन प्राप्त होता है। जिन फ्रांसवासियों को बचाने के लिए उसने प्रसन्नता से शहादत का जाम पिया और जिन्होंने अपनी मुक्तिदाता को बचाने का तनिक भी प्रयास नहीं किया उनके लिए; और उसकी वीरता पर आश्चर्यचकित होकर उसकी शूरवीरता का लोहा मान चुके लेकिन जिन्होंने अपने शत्रु के सुगुणों का सम्मान न किया, ऐसे अंग्रेजों के लिए अन्ततः यह एक लज्जाजनक कहानी है।

लड़ाई फिर भी चलती रही लेकिन उसके बाद अंग्रेजों के पाँव ऐसे उखड़े कि फिर न जम सके। सफलता की आशा जाती रही क्योंकि ड्यूक ऑफ बरगंडी फ्रांस के राजा की ओर मिल गया। उसके बाद आपस में समझौता हो गया लेकिन चार्ल्स अष्टम ने फिर नोरमेडी को जीत लिया और चार वर्ष के अन्दर ही वह गाईन और बोड़दो का स्वामी बन गया। और इस प्रकार सन् 1453 में शतवर्षीय युद्ध समाप्त हुआ लेकिन उस समय केवल एक शहर कैले अंग्रेजों के अधिकार में शेष रह गया था।

जॉन के व्यक्तित्व में बहादुरी, पुरुषत्व, साहस, अकूत शक्ति, पवित्रता कूट-कूटकर भरी हुई थी। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से वह अत्यन्त स्वस्थ और सुदृढ़ थी। उसके चेहरे-मोहरे से जैसा तेज बरसता था वैसा ही उसके शरीर से रौब-दाब टपकता था। एक चितेरे ने जॉन का इस प्रकार चित्र बनाया है जिससे उसकी आध्यात्मिकता, धर्मनिष्ठा, सौन्दर्य, सरलता और अन्य वे गुण स्पष्ट दिखाई देते हैं जो उसके जीवन का सर्वश्रेष्ठ भाग थे।

जॉन के जीवन में शौर्य और सन्तों-जैसे गुण विद्यमान थे जो उसके बाल्यकाल से ही उजले दिन की भाँति प्रकट थे। उसमे महान् कार्य करने की असीम शक्ति थी। वह हर समय कठिनाइयों और कष्टों का सामना करने के लिए तैयार रहती थी। उसमे आदमियों में प्राण फूँकने की आश्चर्यजनक

शक्ति थी। उसकी समस्त विजयों और वीरता और बलिदान के कामों को अपनी आँखों से देखने वाले एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा है – जो समस्त घटनाएँ मैंने देखी, सुनी और मेरे समक्ष घटीं, उन सब में मैंने उसे ईशप्रिय, पवित्र और निःस्पृह पाया।

['जमाना', अप्रैल 1909]

शहीद-ए-आज़म

कर्बला की दुर्घटना विश्व इतिहास की उन सर्वश्रेष्ठ घटनाओं में है जिन्होंने सभ्यता की दिशा परिवर्तित कर दी है। यज़ीद के खानदान में इस्लामी खिलाफत [1] का जाना वास्तव में इस्लाम के विश्व-बंधुत्व और समानता के दीप का बुझ जाना था। यदि हजरत हुसैन के हाथों में खिलाफत होती तो इस्लामी परम्पराएँ अपने वास्तविक रूप में विकसित होतीं और विजयों तथा बादशाहत के वे बन्दर न आते जिन्होंने चाहे इस्लामी इतिहास को उलाहना न दिया हो मगर उस उद्देश्य से अवश्य ही गिरा दिया जो इस्लाम के अस्तित्व में आने का कारण बना था। इस्लाम का अवतरण दूसरे देशों को जीतने के लिए नहीं हुआ था, वह एक शुद्ध आध्यात्मिक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य दुनिया से जुल्म और बादशाहत को समाप्त करके

---

[1] हजरत मुहम्मद के जीवन-काल में और उसके कुछ दिनों बाद तक भाईचारा ही इस्लाम का विशेष गुण रहा जो हजरत हुसैन के बलिदान के साथ समाप्त हो गया। इस दृष्टिकोण से देखिए तो हजरत हुसैन का बलिदान संसार की सबसे महान् ऐतिहासिक घटना है।

विश्वव्यापी समानता का प्राकट्य था। हजरत अबू बकर, हजरत फारूक और हजरत उस्मान का युग इस आन्दोलन का प्रारम्भिक काल था जिसमे इस्लामी परम्पराओं की नींव पड़ रही थी। हजरत अली के खिलाफत के अल्पकालिक युग में इस्लामी सभ्यता का विकास जिस नाम से हुआ वह यदि बना रहता तो आज इस्लाम अपनी शानोशौकत और विजयों के लिए नहीं, वरन् अपनी आध्यात्मिकता और सत्यनिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित होता। देशों को जीतने की भूख हजरत मआविया के साथ इस्लाम में प्रविष्ट हुई और यह तत्त्व निरन्तर बढ़ता गया, यहाँ तक कि महमूद गजनवी के मूर्तिभंजक आक्रमणों और बर्बर विजयों के रूप में हम उसका निकृष्ट रूप देखते हैं।

हजरत हुसैन अलेहिस्सलाम खिलाफत और बादशाहत के सैद्धान्तिक मतभेदों और महत्त्व को भली प्रकार समझते थे और इसीलिए अपने पक्ष में वातावरण न होने पर भी उन्होंने अपना सब कुछ, यहाँ तक कि अपना और अपने आत्मीय जनों का प्रिय जीवन भी इस्लामी प्रतिष्ठा के समर्थन और सुरक्षा की भेंट कर दिया। यह स्वीकार करने के लिए बुद्धि सहमत नहीं होती कि ऐसा निःस्वार्थ, ऐसा कामनारहित, ऐसा सिद्धान्तप्रिय पूर्वज मात्र निजी व्यक्तिगत अधिकार के लिए इतना भयावह युद्ध ठान बैठता।

इस्लाम के अवतरण से पूर्व एकेश्वरवाद का स्वर गूँजने लगा था। इस विषय में हिन्दुस्तान को अग्रगामी होने का गौरव प्राप्त है। ईश्वर के अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ नष्ट होने वाली हैं, यह वास्तविकता पहली बार वेदों ने प्रकट की। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म ने 'अहिंसा' को श्रेष्ठ स्वीकार किया। बाद में हजरत ईसा अवतरित हुए और उन्होंने 'दया' को सर्वश्रेष्ठ सच्चाई माना। इस्लाम ने विश्व-बंधुत्व और समानता की पताका फहराई। उस समय भी संसार पारस्परिक ख़ूनख़राबे से तंग आ चुका था। उस ख़ूनख़राबे का कारण यही छोटे और बड़े, ऊँचे और नीचे का झगड़ा था। इस्लाम के प्रवर्तक ने संसार से ख़ूनख़राबे और शत्रुता को जड़ से मिटा देने का संकल्प कर लिया था और इस संकल्प को पूर्ण करने के लिए समानता से उत्कृष्ट कोई उपाय नहीं था। आज भी संसार समानता की खोज में उलझा है। सोशलिज्म और साम्यवाद क्या है; उसी समानता की खोज। तेरह-चौदह शताब्दियों के बाद भी संसार जिस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास कर रहा है, उसे इस्लाम के प्रवर्तक ने कब का सुलझा दिया था। खेद है कि जिस क्षेत्र में उसका बीजारोपण किया गया था वह उस समय इस खेती के योग्य न था।

खलीफा का शासन

वैचारिक, मानवीय या भावनात्मक, किसी भी दृष्टि से देखिए, हजरत हुसैन के लिए बलिदान अनिवार्य था। कूफावासियों का बार-बार निमन्त्रण देना क्या कुछ महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी? उन निमन्त्रणों को ठुकराना शिष्टाचार की दृष्टि से आपत्तिजनक था। इसके अतिरिक्त जब इस्लाम की सबसे प्रिय वस्तु को अधिकार में लेने का प्रयास किया जाता हो, तब इस्लामी प्रतिष्ठा के एकमात्र ध्वजवाहक व्यक्ति का इसके अतिरिक्त और क्या कर्त्तव्य हो सकता था कि वह व्यक्तिगत आशंकाओं को हेय समझे और यथासम्भव उसकी सुरक्षा करे। कूफियों के छल का भेद खुल जाने पर सम्भव था कि वे अधीनता स्वीकार करके जान बचा लेते, मगर मानवीय दृष्टि से यह दूषित कर्म होता। एक बार दृढ़ संकल्प कर लेने के बाद फिर बलिदान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। सम्भवतः हजरत हुसैन बलिदान होकर ही इस्लाम की उत्कृष्ट सेवा कर सकते थे। यहाँ मुहर्रम और अजादारी [1]

---

[1] मुहर्रम के महीने में हजरत इमाम हुसैन के बलिदान का शोक मनाना, मातम करना, ताजिया बनाना, उठाना और रोशनी आदि करना।

के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट करना सम्भवतः कुछ मित्रों को अरुचिकर प्रतीत हो, लेकिन मैं इसे स्पष्ट करना अपना दायित्व समझता हूँ।

राम, कृष्ण और बुद्ध इतिहास से होते हुए कहानियों की परिधि में आ गए हैं, यहाँ तक कि प्रायः शोधकर्ताओं के विचार में महाभारत और रामायण ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं बल्कि आध्यात्मिक अनुभव हैं। महात्मा गांधी इन्हीं लोगों में हैं; उनकी आस्था है कि प्रत्येक हृदय रामायण और महाभारत का मंच है और इन कहानियों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखना इनके महत्त्व को मिट्टी में मिलाना है। मगर कर्बला का युद्ध अभी तक प्रामाणिक ऐतिहासिक घटना है और सम्भवतः आज तक किसी अन्वेषक को यह कहने का साहस नहीं हुआ कि यह मात्र आध्यात्मिक अनुभव है और अच्छे व बुरे का अनादि काल से चला आता संघर्ष है जो प्रत्येक हृदय में सदैव होता रहता है। लेकिन इस पर भी हमारे कवियों और साहित्यकारों ने इस दुर्घटना को अपने नवचिन्तन का कार्यक्षेत्र बनाकर इसे कहानी का रूप दे दिया। इतिहास में काव्यात्मक अतिशयोक्ति को कोई स्थान नहीं होता। यदि हमारे साहित्यकारों ने स्वयं को ऐतिहासिक घटनाओं तक ही सीमित रखा होता तो शिकायत का कोई अवसर नहीं था लेकिन उन्होंने उनकी गाथा में उन समस्त शब्द तथा अर्थ-अलंकारों तथा नवोक्तियों का प्रयोग किया जो किसी विशुद्ध काव्यात्मक कहानी के लिए उचित था। और

इस प्रकार इस दुर्घटना के ऐतिहासिक महत्त्व को ही नहीं, उसकी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा को भी हानि पहुँचाई। धार्मिक सम्मान की यह अपेक्षा थी कि कर्बला के युद्ध को काव्यात्मक उड़ानों से कहीं ऊँचा रखा जाता लेकिन प्रकृति समूचे संसार में एक समान है और हरेक धर्म में ऐसे लोगों की बड़ी संख्या होती है जिन्हें उस समय तक तसल्ली नहीं होती जब तक कि धार्मिक महापुरुषों को महामानव न बना दिया जाए।

इत्तिहाद ताकत है

एक जमाने में हिन्दुस्तान के लोग इस सीमा तक युद्धप्रिय थे कि बात-बात पर तलवारें चलती और खून की नदियाँ बहती थीं। या अब लोग ऐसे शान्तिप्रिय हो गए हैं कि पत्तों के खड़कने से भी कान खड़े हो जाते हैं और हाय बवेला मच जाता है। यह अंग्रेजी राज की बड़ी अनुकम्पा है। जब से सूरत कांग्रेस कुछ अदूरदर्शी देशभक्तों की अन्यायपूर्ण कार्रवाइयों से छिन्न-भिन्न हो गई है, नेशनलिस्ट और माडरेट – दोनों पक्ष एक दूसरे के जानी दुश्मन हो गए हैं और जिम्मेदार हलकों से यह आवाज लगातार सुनाई देती है कि अब दोनों पक्षों में एकता होनी कठिन है। यहाँ तक कि दोनों ओर से अलग-अलग अधिवेशन किए गए और आगे भी किए जाने की तैयारियाँ हो रही हैं।

हिन्दुस्तान अपने विचार-स्वातंत्र्य और विशाल-हृदयता के लिए सदा प्रसिद्ध रहा है। यह बात इसी देश में देखने में आती है कि मामूली पत्थरों के समक्ष श्रद्धा से नतमस्तक होने वालों से लेकर उच्च कोटि के स्वतंत्र विचार दार्शनिक तक सभी हिन्दू-धर्म की विस्तृत सभा के सदस्य समझे

जाते हैं। मगर धर्म के बन्धन से मुक्त होने पर भी कांग्रेस समान विचार के पक्षों को अपनी मंडली में जगह नहीं दे सकती, और वह भी इस हालत में जबकि दोनों का विरोध वास्तविक नहीं है। हम मानते हैं कि अबकी कांग्रेस में कुछ दीवाने नौजवानों ने बहुत शोर मचाया और कुछ बड़े-बड़े नेताओं को बोलने भी नहीं दिया। उनकी यह हरकत सरासर गलत थी। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी उच्छृंखलता का पक्ष नहीं ले सकता, मगर ऐसी हालत में देशभक्ति का दावा करने वाले महानुभावों को खुश होना चाहिए था कि नौजवानों में कांग्रेस के साथ व्यावहारिक दिलचस्पी लेने का शौक तो पैदा हुआ। और उन्हें इस कोशिश में अपनी पूरी ताकत लगानी चाहिए थी कि किस प्रकार इस नये उत्साह का बेहतरीन इस्तेमाल किया जा सकता है, बनिस्बत इसके कि उसे एक झटके से अलग कर देने की जरूरत समझी जाती। जरूरत इस बात की थी कि जब कांग्रेस बर्खास्त की गई तो मेम्बरों के चुनाव के अनुरूप देश के सभी रहनुमा नये उपाय और कानून प्रस्तावित करते। हरेक प्रान्त और शहर को उसकी आबादी और व्यापारिक महत्त्व के आधार पर मेम्बरों की एक निश्चित संख्या चुनने का अधिकार दिया जाता और अगले साल कांग्रेस दोगुनी शानोशौकत के साथ दोनों पक्षों के मेम्बरों सहित इकट्ठी आयोजित होती। उस समय किसी दल को यह शिकायत न होती कि एक पक्ष ने एक स्थान विशेष के सैकड़ों डेलीगेट भरती कर दिये।

मानवीय विचारों में सदा विरोध रहा है और रहेगा। यह लगभग असम्भव है कि सभी मनुष्य एक ही विचार के हों। दुनिया में जहाँ कहीं भी राष्ट्रीय दल हैं वहाँ मतभेदों को हमेशा प्रतिद्वंद्विता की दृष्टि से देखा जाता है। इस समय तो नरम दल वाले खुश हैं कि हमने अपने दल को घास-फूस से साफ कर लिया और अब हम पूरी तसल्ली से हर साल अधिवेशन करते रहेंगे। मगर क्या ये लोग इस बात की जिम्मेदारी ले सकते हैं कि भविष्य में इन लोगों में फिर किसी समस्या पर मतभेद नहीं होगा। और क्या उस हालत में फिर कन्वेनशन भी दो फाड़ नहीं हो जायेगा। और क्या यह अन्तहीन सिलसिला उस समय तक जारी नहीं रहेगा जब तक कि कट-छँटकर कांग्रेस कुछ बूढ़े आदमियों की एक मंडली रह जायेगी।

बुद्धिमानों की परम्परा है कि जब उनसे कोई गलती हो जाती है तो बहुत जल्दी शर्मिन्दा हो जाते हैं और उस गलती को सुधारने का प्रयास करते हैं। मिस्टर तिलक ने सबसे पहले मेल-मिलाप की आवाज उठाई है और उसकी आवश्यकता स्वीकार की है। इसके प्रतिकूल नरम दल के नेता, जो धृष्टताओं के कम से कम उसी सीमा तक जिम्मेदार हैं जिस सीमा तक मिस्टर तिलक, एकता के नाम से घबराते हैं। मानो यह उनके कई महीने के सत्प्रयासों का परिणाम है। उन्हें न केवल अपनी गलती पर पछतावा है बल्कि उस गलती को सही ठहराने की कोशिश में लगे हुए हैं और कांग्रेस

की इस गलती को मिस्टर मार्ले के यादगार शब्दों में 'तयशुदा बात' समझते हैं। मिस्टर तिलक जानते हैं कि कांग्रेस से बाहर उनका कुछ अस्तित्व नहीं, मगर मिस्टर गोखले इस विचार से भ्रमित हैं कि हमारी इस हरकत से खुश होकर सरकार अब हम पर कृपाओं की भरमार कर देगी। वे यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि नेशनलिस्टों की जमात कुछ दिनों से ही अस्तित्व में आई है, उससे पहले सब लोग नरम दली ही थे। उस समय सरकार ने उनके साथ क्या रियायत कर दी थी। भगवान् नेशनलिस्टों का भला करे कि उनके शोर शराबे ने सरकार को नरम दल वालों की माँगों पर वरीयता देने का वादा तो किया मगर यह ध्यान रहे कि यह वादा उस समय हुआ था जब दोनों पक्ष प्रकट रूप में इकट्ठे थे। और यदि उनका अलगाव किसी सैद्धांतिक विषय पर सद्भावनापूर्वक हुआ होता तो सम्भव था कि इस विचार से कि नरम दल नेशनलिस्टों से अलग रहे और इकट्ठा न होने पावे, सरकार अपना वादा पूरा करती। मगर अब जबकि दोनों वर्गों में मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया है, अभिमान और व्यक्तित्व का विष फैल गया है और देखती आँखों उनके इकट्ठा होने की कोई उम्मीद दिखाई नहीं देती, तो सरकार को वादा पूरा करने की कोई जरूरत नहीं रही। क्योंकि अब वह यह समझेगी कि मनमुटाव व पारस्परिक स्तुतिगान के जोश में ये दोनों अपने आप ठंडे पड़ जाएँगे, हमें क्या आवश्यकता है कि एक को दबाने के

लिये दूसरे की पीठ सहलाएँ और थपकियाँ दें। अब उसे नेशनलिस्टों की प्रगति का कुछ भी भय नहीं रहा क्योंकि वे महानुभाव जो अब नरम दली बन रहे हैं, अगर किसी सिद्धान्त से नहीं तो केवल अकड़ और स्वाभिमान के विचार से नेशनलिस्टों के दल से परहेज रखेंगे और चाहे सरकार की तरफ से निराश भी हो जायें, मगर नरम दली बने रहेंगे। पिछले दो बरसों में कांग्रेस को जो प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त हुआ है वह उससे पहले के बीस बरसों में भी नहीं मिला था और यह इसी नये दल का प्रभाव था। अब क्योंकि दोनों दल अलग हो गए हैं, सरकार की दृष्टि में कांग्रेस का वही प्रभाव और प्रतिष्ठा रह गई जो दो बरस पहले थी। वे महानुभाव जो इस अलगाव से खुश होकर बगलें बजा रहे हैं और शर्मिन्दा होने तथा एकता का प्रयास करने के बजाए इस मामूली फटन को गहरा गढ़ा बनाने की धुन में हैं, उन्हें ठीक से समझ लेना चाहिये कि सरकार का वादा उसी समय तक के लिए था जब तक दोनों दल एक थे। उसका उद्देश्य अब पूरा हो गया और उसे पिछले बाईस बरसों से पता है कि माडरेट लोगों की प्रार्थना को क्या भाव देना चाहिये। यदि मिस्टर गोखले, बैनर्जी, मेहता आदि वास्तव में राष्ट्रहित के पक्षधर हैं तो उन्हें एकता और मेल-मिलाप के इस अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिए और मिस्टर तिलक के उदाहरण से शिक्षा लेकर पुरानी बातों को भूल जाना चाहिए। धैर्य, साहस, दृढ़ता और क्षमा-ये

देशभक्ति की पहली शर्तें हैं। जो लोग अपने ही भाइयों के शोर शराबे और मतभेद से झल्लाकर आपा खो बैठें और उन्हें दूध से मक्खी की तरह निकालकर फेंक दें, वे इससे ज्यादा नाजुक अवसरों पर जनता का क्या साथ देंगे। मिस्टर बैनर्जी जैसे देशभक्त से क्या यह कहने की आवश्यकता है कि अपनी राष्ट्रीय सभा में गालियाँ खाना और अपमानित होना इतना बुरा नहीं है जितना जनता के एक भाग को यह जानते हुए घर से निकाल देना कि सरकार बहुत जल्द उनकी हस्ती खाक में मिला देगी। वह दिन हमारे नरम दली भाइयों के लिए डूब मरने का होगा जब इस पारस्परिक वैमनस्य का परिणाम यह होगा कि सरकार का सख्त हाथ नेशनलिस्टों की गर्दन में होगा। और वह अवसर इससे भी अधिक शर्मनाक होगा जब नेशनलिस्ट लोग सरकार के जालिम हाथ के नीचे दबे बावेला मचाएँगे और हमारे नरम दली भाई तालियाँ बजाएगे।

अहदे अकबर में हिन्दुस्तान की हालत

अब यह बात पक्की हो गई है कि हिन्दुस्तान के इतिहासकार इतिहास-लेखन की कला से अनभिज्ञ थे। हिन्दू तो हिन्दू प्रायः यूनान से शिक्षा लेकर आने वाले मुस्लिम इतिहासकार भी शाही अभियानों और सफलताओं का वर्णन करना ही इतिहास का अन्तिम ज्ञान समझते थे। यद्यपि अकबर के युग के अनेक विश्वसनीय तथा प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध हैं, तथापि उनके अनुशीलन से लोकतांत्रिक सांस्कृतिक परम्परा, जीवन शैली और स्पष्ट वैचारिकता पर बहुत मद्धम सा प्रकाश पड़ता है। लेकिन क्योंकि राज्य-विधान और सांस्कृतिक शैली में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए उनके अनुशीलन से हम देश की दशा का पर्याप्त अनुमान कर सकते हैं।

हिन्दुओं के धार्मिक विचार

क्योंकि राष्ट्रीय जीवन का सर्वाधिक कार्यकारी तत्त्व धर्म है, इसलिए हम सबसे पहले इसकी चर्चा करते हैं। अकबर के युग से कुछ पहले ही हिन्दू रिफ्रार्मेशन (जिसका आशय एक ईश्वर की पूजा और कर्मकांडों से पृथक् रहना है) शुरू हो गया था। स्वामी रामानुज, रामानन्द, कबीर, चेतन और वल्लभ स्वामी जैसे-जैसे महान्, शुद्ध अन्तःकरण वाले, अध्यात्म में रुचि रखने वाले पूर्वजों ने मूर्खतापूर्ण मूर्तिपूजा और कर्मकांड के अंधानुकरण के विरुद्ध शंखनाद कर दिया था, फिर भी अकबर के युग में उन सामंजस्यपूर्ण विचारों का प्रभाव सम्भवतः इससे भी कम था जो आजकल जनता पर आर्य समाज या ब्रह्म समाज का है। उस काल की सामान्य बोलचाल की भाषा में कहे गए कबीर के भजन और साखियाँ उस समय भी लोकप्रिय हो चुकी थीं और प्रायः गाई जाती थीं। लेकिन उनसे जनता उसी सीमा तक प्रभावित होती थी जितनी आजकल होती है क्योंकि इन भजनों और गीतों से आत्मा को एक आश्चर्यजनक आनन्द का अनुभव होता है। लेकिन उसका प्रभाव इतना शक्तिशाली नहीं होता कि उस झूठे आचरण को मिटा दे जो दीर्घ काल से चले आते रहने के कारण हमारा स्वभाव बन गया है। ध्यातव्य है कि प्रत्येक सभ्य देश में श्रेष्ठ तथा सामान्य जनों के धर्मों का

पृथक्-पृथक् रूप पाया जाता है। श्रेष्ठजनों की श्रद्धा दार्शनिक विचारों पर आधारित होती है और जनता मात्र अपने बाप-दादा के पदचिह्नों पर चलने को ही धर्म मानती है। इसलिए अकबर के दरबार में निरन्तर वैचारिक स्वतन्त्रता की चर्चा होते रहने पर भी अकबर ने हिन्दुओं से आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने के लिये जो ढंग अपनाया उससे ज्ञात होता है कि उस काल में जनता पर ब्राह्मणों का प्रभाव उससे कहीं अधिक था जो आजकल है। उसने दाढ़ी मुँड़वा ली थी और उसके दरबारी उमरा भी प्रायः बिना दाढ़ी के रहना पसन्द करते थे। वह ब्राह्मणों का सम्मान करता था, हिन्दू विद्वानों को सर-आँखों पर बैठाता था, हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पद प्राप्त थे, सूर्य की पूजा करता था, अग्नि के समक्ष नतमस्तक होता था, गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, स्वयं मांसाहार नहीं करता था। किसी अभियान पर निकलता तो ब्राह्मणों से मुहूर्त निकलवाता। विष्णु भगवान् ने जिन-जिन रूपों में अवतार लिया था, वे पवित्र समझे जाते थे, यहाँ तक कि सूअर भी पवित्र था। तुलादान होता था, यज्ञ किए जाते थे, हवन होते थे, यहाँ तक कि वह साधुओं और योगियों को अपने बराबर में बैठा लिया करता था।

मुसलमानों की धार्मिक दशा

आलिमों और शेखों की तूती बोलती थी। उनके विरुद्ध बादशाह भी चूँ तक न कर सकता था कि कहीं उस पर भी काफिर होने का फतवा न सुना दिया जाए। हरेक बात में चाहे धार्मिक हो या शासकीय, उनमें धार्मिक आधार पर दिए गए निर्णयों तथा आदेशों का पालन किया जाता था। अदालत के सभी विषय उनके ही हाथों में थे। शिया व सुन्नी, हनफी व शाफईं प्रायः वाद-विवाद और छींटाकशी किया करते थे जिनसे उनकी मूर्खता और अन्यायप्रियता ही प्रकट होती थी। अन्ततः जब बादशाह उनके अज्ञान से बहुत अप्रसन्न हो गया तो धीरे-धीरे उनको दरबार से निकालना आरम्भ कर दिया जिस पर मुल्लाओं ने बादशाह को काफिर बताया और बंगाल प्रान्त में विद्रोह फैला दिया। उस समय के मुल्लाओं की हालत बहुत खराब हो गई थी जो हजरत आजाद देहलवी की अनमोल रचना 'दरबारे अकबरी' के एक अद्भुत लेख से स्पष्ट होती है।

एक समारोह में कोई मुल्ला साहब ही आ गए। बात यह चल रही थी कि मौलवियों में गणित की योग्यता कुछ कम होती है। मुल्ला साहब उलझ गए। एक व्यक्ति ने कहा, 'अच्छा बताओ, दो और दो क्या?' मुल्ला घबराकर बोले, 'चार रोटियाँ!'

पनाहे खुदा! ये मस्जिदों के आज्ञापालक! दिन का खाना दोपहर ढले और रात का खाना आधी रात गए खाते हैं कि शायद कोई अच्छी चीज आ जाए, और शायद कोई बुलाने ही आ जाए। रात की घड़ियाँ गिनते हैं और बैठे रहते हैं। हवा से कुंडी हिली और दरवाजे को देखने लगे कि कोई कुछ लाया। मस्जिद में बिल्ली की आहट हुई और चौकन्ने हुए कि देखें क्या आया। ऐसे लोग राज्य की समस्याओं को क्या समझें, उन्हें तो अपने हलवे-मांडे से काम है। यद्यपि हजरत आजाद ने हास्यपूर्ण अतिशयोक्ति से काम लिया है लेकिन इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उस समय के धार्मिक नेताओं की दशा इससे कुछ ही अच्छी थी और वे ही देश के वास्तविक शासक थे। बादशाह और उसके उमरा हथेली पर जान लेकर लड़ते थे और शासन का आनन्द मुल्ला लूटते थे। अन्ततः अकबर ने उनकी रगें ढीली कर दीं।

दरबार के उच्च विचारवान उमरा-धार्मिक निर्णय से पृथक् रहने वाले राज्य के कार्यकर्ता कुछ और ही रंग में डूबे दिखाई देते हैं। उनका व्यवहार शान्तिप्रियता का प्रतीत होता है। इस वर्ग का नेता अकबर है फिर भी उसका प्रभाव दरबार की चहारदिवारी के अन्दर ही सीमित है।

हिन्दुओं की सांस्कृतिक पद्धति

सांस्कृतिक सुधार के लिए अकबर ने जो विधान लागू किए उनसे स्पष्ट होता है कि हिन्दुओं में वे समस्त सामाजिक बुराइयाँ विद्यमान थीं जिन्हें दूर करने के लिए आज इतने प्रयास किए जा रहे हैं। सती प्रथा आम थी यद्यपि अधिकांश असहमत महिलाएँ बलात् सती होने के लिए विवश की जाती थीं। सामान्य रूप से प्रत्येक वर्ग में अल्पायु में विवाह हो जाया करते थे। विवाह से पूर्व दूल्हा-दुल्हन एक दूसरे से बिल्कुल अपरिचित रहते थे। ये वही बुराइयाँ है जो आज भी पूरे संसार में हमारी संस्कृति को बदनाम कर रही हैं। यद्यपि अकबर ने उनकी विधिक वर्जना की, लेकिन उसका बहुत कम प्रभाव पड़ा।

किसानों की दशा

हिन्दुस्तान विशेष रूप से कृषि प्रधान देश है और किसानों की दशा परखने का इससे अच्छा कोई उपाय नहीं है कि उस समय के कृषि कानूनों का विहंगावलोकन किया जाएँ। अकबर के युग से पहले खेती की दशा बहुत खराब थी। न लगान का कोई नियत शुल्क था, न उसे वसूल करने का

कोई निश्चित समय था। अकबर के युग में ये सभी असंगतियाँ दूर कर दी गईं। जमीन की पैमाइश की गई, उसे उपज की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया गया और औसत निकालकर प्रत्येक भूखंड पर लगान की धनराशि निर्धारित की गई। गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्ति के माध्यम से वसूली होती थी। ईख और अन्य ऐसी जिन्सों पर जिनमे अधिक मेहनत लगती है, लगान औसत उपज का पाँचवाँ, छठा या सातवाँ भाग निर्धारित किया गया। शेष रबी तथा खरीफ की अन्य जिन्सों पर राज्याधिकार एक चौथाई से अधिक नहीं था। स्थान-स्थान पर कुँए बनवाए गए। अकाल के समय में किसानों की सहायता करने का प्रबन्ध किया गया। किसानों को अधिकार था कि लगान चाहे उपज के रूप में दें अथवा नकद। उन कानूनों की जब हम आज के कानूनों से तुलना करते हैं तो सिद्ध होता है कि उस समय के किसानों की दशा इतनी बिगड़ी हुई नहीं थी। विशेषकर इस कारण से कि उनकी आवश्यकताएँ तुलनात्मक रूप से बहुत सीमित थीं और वे भी बहुत आसानी से पूरी हो जाती थीं क्योंकि आज की तुलना में वस्तुओं के दाम बहुत कम थे।

न्याय व्यवस्था

जिस समय अकबर ने सिर पर राजमुकुट पहना था, उसकी अवस्था तेरह वर्ष से अधिक नहीं थी। राज्य का भला-बुरा बैरम खान (खाने खानखाँ) के हाथों में था। वह शासन करने की योग्यता रखता था लेकिन शासन के सिद्धान्तों से उतना ही परिचित था जितने उसके अयोग्य सहायक। प्रत्येक बात में पहले के शाहों के अनुकरण की अदालत के सभी विवाद काजियों और मुफ्तियों के हाथों में थे। ये जिसे चाहते बनाते, जिसे चाहते बिगाड़ते। उनकी अपील कहीं नहीं हो सकती थी। हिन्दुओं के मुकदमे भी उन्हीं के दरबार में निर्णीत होते थे और उनके मामलों में भी हदीस और शरीयत का पालन किया जाता था। हिन्दुओं पर किये जाने वाले पीरों के अत्याचार अकबर देखता था और दाँत पीसकर रह जाता था।

अन्ततः जब बैरम खान के काल का पतन हुआ और अकबर ने हाथ-पाँव सँभाले तो उसने धार्मिक विद्वानों की खूब किरकिरी की, कितने ही लोगों को देशनिकाला दे दिया, कितनों को कैदखाने में भिजवा दिया और हिन्दुओं के मुकदमों के फैसले ब्राह्मण विद्वानों के हाथों में दे दिए ताकि शास्त्र के आदेशों के अनुसार व्यवहार करें।

राजनीतिक पद्धति पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उस समय अपराधियों के साथ बड़ी सख्ती की जाती थी। आजकल बेंत मारना बुरा समझते हैं, उस जमाने में शपथ की यह परम्परा थी कि जलते तवे पर हाथ रखा जाता था और कुछ अपराधों का दंड यह था कि हाथ काट डाला जाए या नाक या कान। लेकिन उस काल में लगभग प्रत्येक देश में ऐसे ही कठोर दंड लागू थे, यहाँ तक कि इसी देश में आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व बहुत से अपराधों का दंड मृत्यु था।

सेवा कार्य

प्रतिष्ठित लोगों की आर्थिक सहायता के दो उपाय थे-एक वजीफा, दूसरे नौकरी। वजीफा जागीर थी जो मस्जिदों के इमामों और श्रेष्ठ धार्मिक जनों के लिए होती थी। इसमें सेवा क्षम्य थी, नौकरी में सेवा भी होती थी। यह दस सरदारों से लेकर पाँच हजारी तक। जो मुलाजिम होते थे सब तलवार वाले होते थे। दस सरदारों को दस, बीसी को बीस आदि-आदि सिपाही रखने होते थे। इसी प्रकार दो बीसी, पाँच नायक, तीन बीसी, चार बीसी, सौ बीसी आदि-आदि पाँच हजारी तक। वेतन की पद्धति यह थी कि हिसाब के अनुसार उतनी जमीन का भाग या इलाका या देहात या प्रान्त मिल जाता

था जिसके राजस्व से वह अपने लिए निर्धारित सेना रखें और अपनी हैसियत और इज़्ज़त तथा दशा को ठीक रखें। उपर्युक्त मुलाजिमों में से जिसकी जैसी योग्यता देखते थे वैसा काम लिखित में भी देते थे। युद्ध का अवसर आता तो जिन-जिनके नाम प्रस्तावित होते क्या तलवार वाले, क्या लेखक; उनके नाम आदेश पहुँचते। वे सरदारों से लेकर सौ-दो सौ आदि-आदि तक सभी मनसबदार अपने-अपने जिम्मे की सेना पोशाक, हथियार और सामान से सुसज्जित करते और उपस्थित होते।

बदनीयत मनसबदारों ने यह ढंग अपना लिया कि सिपाही तैयार करके मुहिम पर जाते। जब लौटकर आते तो अपनी आवश्यकता के अनुसार कुछ आदमी रख लेते, बाकी निकाल देते। उनके वेतन आप हजम। रुपये से मौज मस्ती करते या घर भरते। जब मुहिम की फिर आवश्यकता होती और ये इस भरोसे पर बुलाए जाते कि सुसज्जित सेनाएँ, लड़ाकू सिपाही लेकर उपस्थित होंगे, वे कुछ अपने दस्तरख्वानों के पुलाव, कुछ कुँजड़े, भटियारे, धुनिये, जुलाहे, पक्के जंगली मुगल, पठान, तुर्क, जो हजारों की संख्या में बाजारों में फिरते थे और सरायों में पड़े रहते थे, उन्हीं को पकड़ लाते थे। कुछ अपने सेवक, कुछ साईस, शागिर्द पेशा आदि लेते। घसियारों के घोड़ों, भटियारों के टट्टुओं पर बैठाते, किराए के हथियार, माँगे-ताँगे के कपड़ों से

लिफाफा चढ़ाते और जा उपस्थित होते। लेकिन तोप-तलवार के सामने उन लोगों से क्या होता था। ठीक लड़ाई के समय बड़ी दुर्दशा होती थी।

उस समय के जागीरदारों का कैसा सच्चा चित्र है। और ये बेईमानियाँ कोई विशेष रूप से हिन्दुस्तान के साथ ही जुड़ी हुई नहीं हैं, योरोप में भी सेनाएँ रखने का पहले यही तरीका था और ऐसी ही धोखेबाजियाँ होती थीं। अकबर ने इनकी रोकथाम के लिए दाग का कानून जारी किया। योरोप वालों ने उनका अधिक ठोस उपाय किया। उन्होंने जागीरों की परम्परा ही समाप्त कर दी और स्थायी सेना रखने लगे। उस समय अकबर चाहता तो भी ऐसा न कर सकता, क्योंकि विद्रोह हो जाने की आशंका थी।

जागीरें देने की परम्परा चाहे निरंकुश बादशाहों की जिम्मेदारियों को कम करती हो लेकिन प्रजा के लिए अत्यंत हानिकर थी क्योंकि जब किसी को जागीर मिलती तो केवल उसके युद्ध व संघर्ष की क्षमता के विचार से। और ऐसे लोग जब जागीरों पर जाते तो शान्त न बैठते, सदा ऊधम मचाया करते। ऐसा बहुत कम होता है कि हर व्यक्ति में लड़ाई के साथ शासन की योग्यता भी पाई जाए। ऐसे उदाहरण अप्राप्य भले ही न हों लेकिन दुष्प्राप्य अवश्य हैं।

कभी-कभी ये लोग जागीरों की ओर मुँह नहीं करते थे, केवल विश्वासपात्र कारिन्दों के भरोसे शासन करते थे। जैसे स्वामी वैसे ही उनके नौकर, बल्कि उनसे भी दो अंगुल ऊँचे। ये कारिन्दे प्रजा को सताते और अपने घर भरते थे।

ज्ञान के कार्य

जिस काल में फैजी जैसा कालजयी कवि और अबुल फजल जैसा चमत्कारिक लेखक हो उस काल के ज्ञान के विकास का क्या पूछना। क्या शिल्प की कसावट की दृष्टि से और क्या रोचकता की दृष्टि से केवल 'अकबरनामा' एक ऐसी अनुपमेय पुस्तक है जो संसार की अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाओं के बराबर रखे जाने योग्य है।

अकबर स्वयं तो अनपढ़ था लेकिन उसने ज्ञान तथा उसकी महत्ता का जितना सम्मान किया वैसा किसी अन्य ने बहुत कम किया होगा। और जितनी पुस्तकें और संकलन उसके युग में हुए उतने शायद ही किसी दूसरे बादशाह के समय में हुए हों। अंग्रेजी इतिहास में सम्राज्ञी एलिजाबेथ का युग ज्ञान के विकास की दृष्टि से स्मरणीय समझा जाता है। लेकिन वहाँ जो

पुस्तकें लिखी गईं वे रसज्ञता और सामान्य गुणग्राहकता का परिणाम थीं, न कि एलिजाबेथ के प्रयासों का। इसके प्रतिकूल अकबर के युग में जितनी पुस्तकें लिखी गईं सभी उसकी गुणग्राहकता तथा उत्साहवर्धन का परिणाम थीं। जितने भी लेखक थे सभी समुचित पदों पर प्रतिष्ठित थे। यदि उस काल की सभी पुस्तकें इकट्ठी की जाएँ तो एक अच्छा बड़ा पुस्तकालय ही बन जाए। उनमें अधिकांशतः संस्कृत पुस्तकों के फारसी अनुवाद हैं। 'सिंहासन बतीसी', 'अथर्ववेद', 'रामायण', 'महाभारत', 'नलदमन', 'लीलावती', 'अय्यार दानिश' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और आज तक रुचिपूर्वक पढ़ी जाती हैं। इन अनुवादों के अतिरिक्त मुल्ला अब्दुल कादिर बदायुँनी ने कश्मीर के प्रसिद्ध व प्रामाणिक संस्कृत इतिहास 'राजतरंगिणी' का फारसी में अनुवाद किया। हकीम हमाम, मुल्ला शीरीं और अब्दुर्रहीम खानखाना भी प्रसिद्ध लेखकों में हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना तो संस्कृत की अच्छी योग्यता रखता था और प्रायः हिन्दी भाषा में लिखा करता था। उसके लिखे हुए दोहे हिन्दी में अब तक बहुत लोकप्रिय हैं। समीक्षकों का विचार है कि वे तुलसीदास के दोहों से टक्कर लेते हैं।

सत्कलाएँ (निर्माण एवं मूर्तिकला)

अकबर के युग में ये कलाएँ अपने उत्कर्ष पर पहुँच गई थीं। अकबराबाद [1] का किला, फतहपुर सीकरी के भवन और हुमायूँ का मकबरा वे अद्वितीय निर्माण हैं जिन्हें देखने वालों की आँखें पथरा जाती हैं लेकिन दृष्टि नहीं थकती। विश्व-यात्री कहते हैं कि संसार में ऐसे भवन अत्यल्प हैं। इन्हीं शिल्पियों के वंशजों ने दिल्ली के वे भवन बनाए जो आज तक इस कला का पूर्ण तथा अनुपम उदाहरण स्वीकार किए जाते हैं।

चित्रकला

उस युग में चित्रकला भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई थी। चित्रकला के सामान पर बहुत ध्यान दिया जाता था। चित्रण और रंजन का भी विकास हो गया था। मीर सैयद अली तबरेजी और अब्दुस्समद शीरीं, कलम शीराजी और दसवंत हिन्दी बड़े उच्च कोटि के कलाकार थे। इन्हीं चित्रकारों ने अकबर और उसके दरबार के जो चित्र चित्रित किए थे, वे जिन्होंने देखे हैं वे स्वीकार करते हैं कि वे अपने आप में निराले हैं। उस काल के अमीर

---

[1] अकबर ने आगरा का नाम बदलकर अकबराबाद रखा था।

और प्रतिष्ठित व्यक्ति शिक्षा की पूर्णता के लिए इस कला को सीखना आवश्यक समझते थे। अकबर स्वयं कहता है, 'जो लोग चित्रकला के कार्य की निन्दा करते हैं मैं उन्हें पसन्द नहीं करता। मैं समझता हूँ कि ईश्वर को पहचानने के लिए एक चित्रकार बहुत से व्यक्तियों से कहीं अच्छा होता है।'

दीनों की सहायता

अकबर के युग की एक विशेषता यह है कि असहाय तथा बेरोजगारों की सहायता भी की जाती थी ताकि ये लोग आवश्यकताओं से विवश होकर धनोपार्जन के अनुचित साधन न अपना लें। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित चार वर्ग शाही सहायता के अधिकारी माने जाते थे –

1. वे लोग जो अपना समय लेखन तथा संकलन में लगाएँ।

2. जो लोग संसार से विरक्त होकर इन्द्रिय-शुद्धि और ईश्वराराधन में व्यस्त हों।

3. जो लोग फटेहाल हों लेकिन श्रम करने के योग्य न हों।

4. जिन लोगों की नसों में शराफत का खून हो लेकिन अज्ञान या अयोग्यता के कारण धनोपार्जन न कर पाते हों।

जो सरकार इतनी उदार हो उसकी प्रजा की समृद्धि और सम्पन्नता के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि अकबर के काल में प्रजा को चाहे कैसा भी सुख-चैन क्यों न हो मगर अंग्रेजी राज का उससे क्या मुकाबला! शायद ऐसा ही हो, मगर अन्तर केवल यह है कि अकबर की प्रजा के मन में बादशाह के प्रति सच्चा विश्वास उत्पन्न हो गया था, वह उसे अपना बादशाह समझती थी। मगर इसके प्रतिकूल अंग्रेजी राज चाहे कितना भी सुख-सुविधा क्यों न पहुँचाए, अभी तक एक पराया शासन माना जाता है क्योंकि वह प्रजा से अपनत्व उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करता।

शिक्षा

प्राचीन काल में न कोई यूनिवर्सिटी थी न आजकल जैसे मदरसे और कालेज। विद्यार्थियों को विद्वान् अपने मकानों पर या मस्जिदों में बैठकर पढ़ाते थे। अकबर ने शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। उसके आदेश से शिक्षा की ऐसी पद्धति लागू की गई कि लड़के थोड़े ही दिनों में लिखना-पढ़ना सीखने लगे। मगर सच्चाई यह है कि शिक्षा नये जमाने के उच्च विचारों

की देन है। आज प्रायः शासन अपनी कुल आय का सातवाँ या आठवाँ भाग इस भलाई के काम पर व्यय करना भी अपव्यय नहीं मानते।

अकबर के युग में प्रारम्भ में गणित हिन्दी में प्रचलित था। टोडर मल ने हिन्दी के स्थान पर फारसी में प्रचलित किया। पहले तो हिन्दू लोगों को यह परिवर्तन अरुचिकर लगा लेकिन बहुत शीघ्र इसका अच्छा प्रभाव प्रकट हुआ क्योंकि हिन्दुओं को फारसी पढ़ने की आवश्यकता पड़ी और वे विद्वान् होकर मुसलमानों के साथ उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होने लगे।

जनता के मनोरंजन

उस काल में क्योंकि मारकाट का बोलबाला रहता था, जनता की रुचि के काम भी इसी प्रकार के होते थे। कहीं चीते से हाथी लड़ रहा है, कहीं भैंसे लड़ाए जा रहे हैं, कही मेढ़ों के जोड़ छूटे हुए हैं। उमरा हाथियों की लड़ाइयों और उनकी रेलपेल में आनन्द लेते थे। हाथियों, शेरों, चीतों, भैंसों, हिरणों को फँसाने के विचित्र-विचित्र उपाय किए जाते थे। मुर्गाबियों का शिकार करने का तरीका ऐसा अनोखा है कि हम उसका वर्णन किए बिना नहीं रह सकते। पहले क्या करते कि एक ढाँचा बनाते, उस पर मुर्गाबी की खाल

मँढ़ते जिसमे पर, चोंच तथा खून लगा रहता था। उसमे दो छिद्र रखते थे जिनसे शिकारी देखता था। ढाँचा अन्दर से खोखला होता था। उसमे शिकारी सिर रखता, गले तक पानी में डूब जाता और सावधानी से मुर्गाबियों के पास जाकर एक-एक को पकड़ता जाता। क्या बात है!

उस काल में चौगान [1] भी उमरा का एक प्यारा खेल था। कभी-कभी पलाश की लकड़ी की गेंद बनाकर उन्हें जलाते और रात में चौगान का आनन्द उठाते थे। कबूतरबाजी, चौपड़, गंजिफा [2] भी सामान्य रूप से प्रचलित थे, ताश तो नये युग की खोज है।

एक अंग्रेज पर्यटक के यात्रावृत्त से संचयन

प्रायः ऐसा होता है कि जब किसी देश के इतिहासकार उसका इतिहास लिखते हैं तो रोजाना की सोशल बातों को मामूली समझकर विस्मृत कर जाते हैं। लेकिन जो पर्यटक अपरिचित देशों में जाते हैं वे प्रत्येक बात को, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यों न हो, लिपिबद्ध कर देते हैं। यही कारण है

---

[1] गेंद-बल्ले का खेल जो पोलो से मिलता-जुलता है।

[2] ताश से मिलता-जुलता एक खेल जिसमे 96 गोल पत्ते होते हैं और जिसे तीन खिलाड़ी खेलते हैं।

कि किसी देश की जीवन-शैली की दशा जानने के लिए हमें वहाँ के पर्यटकों के यात्रावृत्तों की आवश्यकता पड़ती है। अकबर के युग में सम्राज्ञी एलिजाबेथ से सिफारिशी चिट्ठियाँ लेकर कुछ अंग्रेज पर्यटक व्यापार करने की इच्छा से हिन्दुस्तान में आए थे। उनमें से एक ने संक्षिप्त सा यात्रावृत्त लिखा है। हम उस पुस्तक से आवश्यकतानुसार थोड़ा सा चयन करते हैं।

ये व्यापारी 13 फरवरी 1513 ई. को इंगलिस्तान से रवाना हुए और अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में स्याम देश में त्रिपोली स्थान पर उतरे। कोलम्बस ने नयी दुनिया खोज ली थी लेकिन उस समय तक केप आफ गुड होप होकर आने का मार्ग किसी को ज्ञात नहीं हुआ था। त्रिपोली से ये लोग पैदल बसरा होते हुए फारस की खाड़ी के बन्दरगाह हुर्मुज तक आए। उस समय वहाँ पुर्तगाली व्यापारियों ने व्यापार प्रारम्भ किया था। वे जब किसी यूरोपियन को देखते तो ईर्ष्या से तत्काल गिरफ्तार कर लेते और भाँति-भाँति के कष्ट पहुँचाते। उन्होंने इन पर्यटकों पर भी जासूस होने का आरोप लगाया और बंदी बना लिया। एक माह तक बंदी रखने के पश्चात् उन्हें गोवा के लिए चलता कर दिया।

उस समय गोवा पुर्तगालियों के अधिकार में था और आज चार शताब्दियों के बाद भी वहाँ उनका आधिपत्य विद्यमान है। इस स्थान पर उनकी जाँच-

पड़ताल की गई और अन्ततः हजारों दिक्कतों और परेशानियों के बाद उन्हें मुक्ति मिली। उनमें से तीन आदमियों ने कपड़े और रत्नों का व्यापार प्रारम्भ किया। लेकिन जब उनका काम चमका तो पुर्तगाली घबराए और फिर उन पर हाथ डालने की घात में लगे। अन्ततः ये लोग भयभीत होकर भागे और बीजापुर तथा गोलकुंडा की सैर करते हुए बुरहानपुर पहुँचे। इस नगर को अकबरी प्रताप ने कुछ ही दिनों पूर्व अपने अधिकृत क्षेत्रों में सम्मिलित कर लिया था। इस जगह तक का विवरण कुछ उखड़ा-पिछड़ा सा है, लेकिन यहाँ से आगे का विवरण क्रमबद्ध है। इन रिमार्कों के पढ़ने से हमको अकबर के युग की समृद्धि, सम्मान, व्यापार, उत्साह और जीवन-शैली की विशेषताएँ ज्ञात हो जाएँगी।

"बुरहानपुर से हम उमड़ी हुई नदियों को पार करते आगरा पहुँचे। मार्ग में बड़ा कष्ट हुआ। कई बार तो चौड़ी नदियों पर कोई पुल नहीं होता था। विवश होकर हम उस समय तैरकर पार होते थे। आगरा बड़ा आबाद और विस्तृत शहर है। मकान बड़े सुन्दर तथा साफ-सुथरे हैं और गलियाँ भी साफ-सुथरी तथा चौड़ी। शहर के ठीक मध्य में एक नदी बहती है जो बंगाल की खाड़ी में गिरती है (यमुना)। यहाँ एक सुन्दर किला है जिसके चारों ओर गहरी खाई खुदी हुई है। यहाँ मुसलमान बहुलता से बसे हैं और बादशाह का नाम जलालुद्दीन अकबर है। उसे लोग मुगले आजम भी कहते

हैं। यहाँ से हम फतहपुर सीकरी पहुँचे जहाँ बादशाह दरबार करता है। शहर आगरा से बड़ा है लेकिन गलियाँ और मकान इतने सुन्दर और स्वच्छ नहीं है। यहाँ भी मुसलमान बहुलता से बसे हुए हैं। लोग कहते हैं कि यहाँ पर बादशाह ने एक हजार हाथी, बीस हजार घोड़े, बारह सौ पालतू हिरण रखे हैं और मुर्गों, बाजों और अन्य शिकारी चिड़ियों की संख्या इतनी अधिक है कि देखकर आश्चर्य होता है। अन्तःपुर में आठ सौ बेगमे हैं। बादशाह का दरबार बड़ा प्रतिष्ठित है। उसको दारखाना कहते हैं। आगरा और फतहपुर, दोनों शहर लंदन से बहुत बड़े हैं और इन दोनों शहरों के बीच बारह मील की दूरी है लेकिन यह बीच का पूरा रास्ता खाने-पीने और अन्य वस्तुओं के बाजारों से ऐसा आबाद है कि लगता है शहर का ही सिलसिला है और आदमी इतने अधिक आते-जाते रहते हैं कि मानो बाजार हो। यहाँ रईसों की सवारी छोटी-छोटी बहलियाँ होती हैं जिन पर सुनहरे बेल-बूटे बने रहते हैं। इसमें दो पहिये होते हैं और दो बैल जोते जाते हैं जो इंगलिस्तान के बड़े कुत्तों जितने कद के होते हैं और ऐसे तेज होते हैं कि घोड़ों से शर्त लगाकर दौड़ सकते हैं। इसमें दो या तीन आदमी सवार होते हैं। ये सवारियाँ सुन्दर रेशमी कपड़ों से सजी होती हैं। इस शहर में फारस और तिब्बत और सारे हिन्दुस्तान और अन्य देशों के व्यापारी हजारों की संख्या में इकट्ठे होते हैं

और रेशम, कपड़े, मूल्यवान रत्नों जैसे हीरे, मोती, लाल आदि का खूब क्रय-विक्रय होता है।"

दोनों शहरों का यह संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् लेखक बादशाह के बहुमूल्य वस्त्रों की चर्चा करता है, जिसका उल्लेख करना निरर्थक है।

ये तीनों व्यापारी यहाँ कुछ समय तक रहे। इसके पश्चात् एक तो विदेश चला गया, दूसरे ने शाही दरबार में नौकरी कर ली और तीसरा, जिसका नाम फिंच था, कुछ हिन्दुस्तानी व्यापारियों के साथ हो लिया जो अपनी नावें लेकर बंगाल की ओर जा रहे थे। उन नावों में नमक, हींग, केसर, अफीम, सीसा, कालीन आदि वस्तुएँ लदी हुई थीं। बंगाल के शहरों का वर्णन दृष्टव्य है। फिंच लिखता है-

"पटना से मैं टांडा को गया जो पहले स्वयं एक राज्य था लेकिन अब जलालुद्दीन अकबर के अधिकृत क्षेत्रों में सम्मिलित है। यहाँ रुई और रुई के कपड़े की बड़ी मण्डी है। जनता एक पतली सी धोती कमर में बाँधे नंगे शरीर इधर-उधर घूमती रहती है। यहाँ चीते, जंगली भैंसे और जंगली चिड़ियाएँ बड़ी प्रचुरता से पाई जाती हैं। लोग बड़े मूर्तिपूजक हैं। आगरा से यहाँ तक आने में पाँच महीने लगे लेकिन यह यात्रा इससे कम समय में हो सकती है।

हम बंगाल से कूचबिहार की ओर चले। यह स्थान टांडा से पच्चीस मील पर स्थित है। सुनने में आया है कि लड़ाई के दिनों में नोकदार बाँस की मेखें जमीन में गाड़कर पानी से भर देते हैं ताकि कोई आदमी या घोड़ा उधर से न गुजर सके। जब शत्रु चढ़ आता है तो ये लोग कुँओं में जहर मिला दिया करते हैं। यहाँ रेशम और रुई की बहुतायत है। यहाँ लोग कभी जानवर को नहीं मारते और भेड़, बकरी, कुत्ते, बिल्ली, चिड़ियों और अन्य जीवों के लिये औषधालय और दानशालाएँ बनी हुई हैं। जब ये जीव बूढ़े या लँगड़े हो जाते हैं तो उन्हीं दानशालाओं में भोजन पाते हैं। लोग चींटियों को खाद्य सामग्री बाँटते फिरते हैं। जब मीरे शिकार [1] कोई चिड़िया या जानवर फँसा कर लाता है तो लोग उसे खाना देकर चिड़िया छुड़ा लेते हैं और उन अस्पतालों में रखते हैं या उड़ा देते हैं।

यहाँ से मैं हुगली को गया। इस शहर में पुर्तगाली लोग बसे हैं। हमने आम रास्ता छोड़ दिया था क्योंकि डाकुओं का भय था। रास्ते में गाँव बहुत कम थे और जंगली सूअर और हिरण और चीते ऊँची-ऊँची घास में टहल रहे थे।"

---

[1] वह शाही सेवक जो शिकारी जानवरों की निगरानी हेतु नियुक्त होता था।

यह पर्यटक हुगली से अन्य स्थानों को गया। उड़ीसा का हाल इस प्रकार लिखता है –

"यहाँ चावल बहुतायत से होता है और एक प्रकार की घास उत्पन्न होती है जो रेशम के समान होती है। इससे सुन्दर कपड़े बनते हैं। इस बन्दरगाह में नगापट्टन, मलाका द्वीपसमूह, सुमात्रा और अन्य स्थानों से अनगिनत जहाज हिन्दुस्तान आते हैं और चावल, ऊन, सूती कपड़े, शक्कर, लाल मिर्च, मक्खन और अन्य कृषि उत्पाद लादकर ले जाते हैं।

बंगाल में प्रतिदिन कहीं न कहीं पैंठ लगती है जिसे 'चाँदू' कहते हैं। लोगों के पास बड़ी-बड़ी नावें होती हैं जिन पर सवार होकर इधर-उधर क्रय-विक्रय करते फिरते हैं। यहाँ हिन्दू गंगा-जल का बड़ा सम्मान करते हैं और कुएँ का पानी पास हो, फिर भी दूर से गंगा-जल लाते हैं। यदि वह पीने भर को पर्याप्त न हो तो उसकी कुछ बूँदें छिड़ककर घड़ों को पवित्र किया करते हैं।

उड़ीसा से मैं बाकला (बाकरगंज) को गया जहाँ हिन्दू राजा है और बन्दूक के शिकार का बहुत शौक रखता है। यह देश बहुत विस्तृत और उपजाऊ है। यहाँ चावल, रुई और हर प्रकार के कपड़े बहुत बनते हैं। मकान बड़े और ऊँचे होते हैं, गलियाँ चौड़ी लेकिन जनता अर्धनग्न होती है। कमर में

केवल एक धोती होती है। औरतें गले और पाँव में चाँदी के गहने पहनती हैं। पैरों में चाँदी, तांबे या हाथी दाँत के कड़े होते हैं।"

यहाँ से फिंच श्रीपुर को गया। वह लिखता है कि इस जगह भी सूती कपड़े बहुत बनते हैं। श्रीपुर से श्रीरामपुर को आया और कहता है यहाँ हिन्दुस्तान के सभी स्थानों से अच्छा कपड़ा बनता है। बादशाह अफगानी है। सामान्य रूप से मकान छोटे होते हैं और लोग धनी तथा सम्पन्न हैं। मांसाहार नहीं करते। यहाँ से सूती कपड़ा, चावल और रेशम प्रचुरता से हिन्दुस्तान, लंका, पेगू, मलाका द्वीपसमूह, सुमात्रा आदि को जाता है।

इस पर्यटक के ये रिमार्क हमारे लिए अर्थपूर्ण हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि हिन्दुस्तान में उस समय सम्पन्नता का बोलबाला था। मलाका द्वीपसमूह, सरनदीप, सुमात्रा, चीन, तिब्बत, फारस, काबुल आदि से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित थे। रेशमी और सूती कपड़ा सभी दिशाओं में भेजा जाता था। माल की ढुलाई के लिये नावों और जहाजों का प्रयोग किया जाता था। मांस का प्रयोग कम था और जनता प्रत्येक दृष्टि से तृप्त तथा संतुष्ट थी।

आबशारे न्याग्रा

प्रकृति ने जहाँ मानव को बहुत से उपहार प्रदान किए हैं, वहीं उनमें वे रंग-बिरंगे पहाड़ भी हैं जिन्हें प्रकृति के उदार हाथों ने फूलों के गुलदस्तों की भाँति उत्तरोत्तर सजाया है। जहाँ ऊँचे-ऊँचे वृक्ष आकाश से बातें करते हैं, सुन्दर युवा उद्यान अपनी प्रेयसी शीतल मन्द हवा से आलिंगनबद्ध होकर आत्ममुग्ध और आत्मविस्मृत हुए झूमने लगते हैं, और कभी उसके आनन्ददायक झोंकों से मस्ती में आकर अपने स्रष्टा के नाम का स्मरण करने लगते हैं। जहाँ प्रपातों और निर्झरों से बहता हुआ स्वच्छ शीतल जल अपने प्रेमियों की व्यथा और संताप मिटा रहा है। जहाँ संसार की चिन्ताएँ और बाधाएँ बात की बात में मिट जाती हैं और मन सहसा पाँव पीछे हटाने से वर्जित करने लगता है और कहता है कि यह चार दिन का जीवन प्रकृति के स्वयं उद्भूत संरक्षण और उसके रचयिता की पूजा-अर्चना में व्यतीत कर दीजिए। ये वही पवित्र स्थान हैं जिनमे योगियों, मुनियों और संन्यासियों के आवास रहे हैं। ये वही पवित्र स्थान हैं जहाँ बैठकर संसार से विरक्त पूर्ण ज्ञानियों ने आत्म-साक्षात्कार और लोकहित तथा लोक-कल्याण के

सम्बन्ध में चिन्तन किया है। यही वे प्राकृतिक दृश्य थे जिनमे स्वामी राम खो गए। उनका यह शेर उनकी मानसिकता का अनुमान करने के लिए पर्याप्त है –

लोग कहते हैं कि मैदानों में रहना ठीक है
कौन जाए राम अब गंगा की लहरें छोड़कर

पता नहीं शहंशाह बाबर ने किस आधार पर भारतवासियों पर आरोप लगाते हुए और आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था-'विचित्र रसहीन लोग हैं। यदि डेरा लगाना हो तो नदी की ओर पीठ कर लेते हैं। इनके मन पर प्राकृतिक दृश्यों का तनिक भी प्रभाव नहीं होता।'

ऐसी बेबसी की दशा में जबकि लोग विदेशी आक्रान्ताओं से भयभीत थे और गृहयुद्ध तथा पारस्परिक झंझटों में फँसे हुए थे, प्राकृतिक दृश्य उन पर क्या प्रभाव छोड़ते! इसी प्रकार विदेशी लेखकों ने अन्य बातों में अपना मत निर्धारित करने में त्रुटि की है। भारतवासियों पर यह एक धार्मिक प्रतिबन्ध था जिसकी पृष्ठभूमि में पूर्वजों का यही गुप्त मन्तव्य था कि तीर्थ यात्राओं, दर्शनीय स्थलों जैसे बदरीनारायण, केदारनाथ, अमरनाथ, वैष्णोदेवी, कांगड़ा, ज्वालामुखी, मक्का-मदीना के दर्शनों के बहाने मनुष्य प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द ले, अपने ज्ञान में वृद्धि करे, पहाड़ों के व्यापार और देश-

देश की उपज से परिचय प्राप्त करे। यह नहीं कि चिड़चिड़े अज्ञानियों की भाँति आँखें मूँदे जाएँ और ईसा के गधे की भाँति कोरे के कोरे वापस चले आएँ। ऐसे ही स्थान और वस्तुएँ प्रकृति ने अन्य देशों के निवासियों के लिए भी उत्पन्न की हैं ताकि अपने अवकाश के क्षणों में लोग इनका आनन्द लें और प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर ईश्वर का स्मरण करें।

इनमें एक विक्टोरिया जल-प्रपात है जो अफ्रीका महाद्वीप के निवासियों को अपना प्रेमी बनाए हुए है। ऐसा ही एक जल-प्रपात अमरीका महाद्वीप में है जो आबशारे न्याग्रा के नाम से प्रसिद्ध है। सुन्दर दृश्यों के प्रेमी यहाँ के निवासी आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ता से कार्य कर रहे हैं और दिन-रात इसी चिन्ता में रहते हैं कि ईश्वर ने आँखें तो दी हैं लेकिन हम अभी तक इनसे सूर्य के प्रकाश में ही काम ले सकते हैं। इसलिए कोई ऐसा उपाय खोज निकाला जाएँ जिससे इस जल-प्रपात की सुन्दरता का दृश्य और पूर्ण स्रष्टा की कलाकारी तथा कारीगरी का अनुभव रात और दिन में एक समान कर सकें। वे प्रत्येक दिन को ईद और रात को शबे बरात बनाने के इच्छुक हैं। सच पूछिए तो न्याग्रा जल-प्रपात का सौन्दर्य रात के समय ही निखार पर आता है जब उसकी चित्ताकर्षक जल-चौकी का सम्पूर्ण विस्तार विभिन्न रंगों के प्रकाश से दैदीप्यमान हो जाता है। इस उत्कृष्ट दृश्य की सुन्दरता

का क्या वर्णन हो सकता है, मनुष्य क्या देवता भी आकाश से देख लें तो हजार जान से मुग्ध हो जाएँ।

दीर्घकाल तक अमरीका वाले इस दुविधा में रहे कि किन माध्यमों और संसाधनों से यह जल-प्रपात रात्रि के समय प्रकाशमान होकर मनमोहक हो सकता है। रात्रि के समय इसमें दर्शकों के लिए निरन्तर जल गिरने के शोर के अतिरिक्त और कुछ भी मनमोहक विशेषता नहीं थी। लम्बे समय तक विचार-विमर्श होता रहा। अन्ततः यह महत्त्वपूर्ण कार्य न्याग्रा जल-प्रपात के उत्साही अधिकारी को सौंपा गया और इसकी सफलता का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त हुआ, क्योंकि अब आप इस अनुपमेय जल-प्रपात को प्रकृति के अत्यन्त विचित्र रंगों में नहाता हुआ देख सकते हैं।

वास्तव में यहाँ दो पृथक्-पृथक् जल-प्रपात हैं – 1. गोट टापू-जो एक पाषाणी भूखंड है और नदी को दो भागों में विभक्त करता है। कैनेडा वाले भाग को हॉर्स शू या कैनेडा का जल-प्रपात कहते हैं जिसकी गहराई 158 फिट और चौड़ाई 2640 फिट है।

इस टापू के दूसरी ओर दूसरा जल-प्रपात है जो अमरीकी जल-प्रपात के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी गहराई 162 फिट और चौड़ाई लगभग 1000 फिट है। इन दोनों दरारों को स्वच्छ करती जाने वाली पानी की धार या

लहर में जल का प्रवाह एक करोड़ पचास लाख घन फिट प्रति मिनट है। सितम्बर 1907 में ये दोनों जल-प्रपात पहली बार प्रकाशित किए गए थे। यह परीक्षण बड़ी-बड़ी मशालों की सहायता से किया गया था। 50 मशालें प्रज्वलित की गई थीं जो इसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी से बनवाई गई थीं और जिन्हें कम्पनी के प्रसिद्ध इंजीनियर श्री डब्ल्यू.डी.ए. रामन साहब ने अत्यन्त श्रमपूर्ण प्रयास से सुसज्जित किया था। एक प्रकाशगृह जिसमे 21 मशालें थीं, ओंटेरियो के निकट कैनेडा की घाटी में स्थापित किया गया था और चाँद जैसे लैम्प बराबर-बराबर रख दिए गए थे ताकि इससे दोनों जल-प्रपातों पर प्रकाश पड़े। दूसरा प्रकाशगृह पहले स्थान से कुछ ऊँचाई पर स्थापित किया गया ताकि उससे जल-प्रपातों के ऊपरी भागों पर प्रकाश की जगमगाती किरणें पड़ सकें। तीसरा प्रकाशगृह विक्टोरिया बाग में बनाया गया जिससे अमरीकी जल-प्रपात पर प्रकाश पहुँच सके। जो लोग प्रायः कहते थे कि नदियों की शक्ति निरर्थक नष्ट हो रही है, उनसे किसी प्रकार का काम नहीं लिया जाता, उन लोगों की इच्छा भी पूर्ण हो गई। इन मशालों और प्रकाशगृहों को प्रकाश पहुँचाने का कार्य इन जल-प्रपातों से ही लिया जा रहा है, जिसका अर्थ यह है कि ये स्वयं अपने आपको प्रकाश पहुँचा रहे हैं। इस विद्युत-यन्त्र को चलाने के लिये 300 अश्वशक्ति विद्युत और बीस करोड़ कैंडिल पावर के प्रकाश की

आवश्यकता थी। बीस करोड़ कैंडिल पावर के प्रकाश की तीव्रता का अनुमान तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि इस देखने योग्य दृश्य का आनन्द स्वयं न उठा लिया जाए।

प्रकाश को और अधिक तीव्र तथा आकर्षक बनाने के लिए विभिन्न रंगों का प्रकाश उत्सर्जित करने वाले ऐसे उपकरणों से काम लिया जाता है जो गोल होते हैं और जिनसे रंगीन छल्ले निकाले जाते हैं। इस उपाय से अधिकारियों के मनोनुकूल विभिन्न रंगों की किरणें प्रकट होती जाती हैं। दर्शक यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है कि मानवीय आँखों ने ऐसा दृश्य पहले कहीं नहीं देखा था। विचित्र प्रभाव छा जाता है। प्रतीत होता है कि जो पानी दरार पर से होकर जा रहा है वह पिघली हुई चाँदी का ही ढेर है। फिर मानो किसी ने जादू कर दिया और सहसा पानी की रुपहली लहरें गहरे नीले रंग में परिवर्तित हो गईं। बात की बात में यह रंग भी मद्धम पड़ गया और पानी हरा, पीला, लाल, कत्थई होता गया। फिर कुछ क्षणों के लिये घुप्प अंधेरा छा गया लेकिन कुछ समय पश्चात् जल-प्रपात का एक किनारा सफेद प्रकाश की किरणों से चमक उठा और शेष भाग नीले से। और इसी प्रकार विभिन्न रंगों में परिवर्तित होता रहा, यहाँ तक कि उस तट पर दस-बारह भिन्न-भिन्न रंग गिरते दिखाई देते हैं। फिर इसका क्रम बदल गया। जल-प्रपात के किनारे-किनारे सफेद प्रकाश चमक उठा। उससे कुछ ही फिट

नीचे पानी भिन्न रंग लिए हुए था और नीचे तक जल-प्रपातों की यही दशा थी। इस समय इसकी घरघराहट और गति भी उन्मत्त भाव की होती है। कभी नाचते और कभी चक्कर काटते हुए दिखाई देते फेनिल बादल वह आनन्द उत्पन्न करते हैं कि दर्शक का मन अनचाहे ही अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। रंगों का मिश्रण और पानी की अठखेलियाँ इन्द्रधनुष की समस्त विशेषताओं को निःशेष कर देती हैं। एक प्रसिद्ध पर्यटक का कथन है कि कोई कवि या लेखक अभी तक इस दृश्य के सौन्दर्य का वर्णन नहीं कर सका। इसका वर्णन करना मात्र कल्पना शक्ति का काम नहीं है जो उड़ती हुई धुंध और गिरते हुए पानी की सुन्दरता को स्पष्ट कर सके, विशेषकर उस समय जब इन पर नितान्त अंधेरे से अचानक प्रकाश की चमक दिखाई देती है।

हॉर्स शू जल-प्रपात के लाल और नीले रंगों से मिलकर उत्पन्न होने वाले दृश्य का वर्णन अनिर्वचनीय है। ऐसा ही प्रभावोत्पादक और मनमोहक दृश्य उस समय दिखाई देता है जब लाल, सफेद और नीली किरणें पानी की सतह पर पड़ती हैं।

जब पानी पर रंगीन किरणें पड़ती हैं तो कुछ बम के गोले छोड़ दिए जाते हैं जिनके छूटते ही धुँए के बादल बन जाते हैं जिन पर कृत्रिम प्रकाश पहुँचाया

जाता है तो आकाश पर उड़ता हुआ धुँआ एक कृत्रिम बादल का रूप ग्रहण कर लेता है जिस पर विभिन्न रंगों की छाया पड़ती है। कई बार ये बादल सितारों के समान हो जाते हैं और अत्यन्त विचित्र तथा सुन्दर लगते हैं। कभी-कभी बिजली के प्रकाश की किरणें उस बड़े इस्पाती पुल पर डाली जाती हैं जो जल-प्रपातों के नीचे बना हुआ है। यहाँ से दर्शकों के झुंड के झुंड स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रकाश की ये किरणें सौ मील और कभी-कभी डेढ़ सौ मील की दूरी से दिखाई देती हैं।

इस यन्त्र को स्थापित करने के लिये न्याग्रा जल-प्रपात के अधिकारी ने एक हजार पाउंड चंदा इकट्ठा किया था और इस धनराशि से वह जल-प्रपात को एक मास तक प्रत्येक रात्रि में एक घंटे तक प्रकाशित करता रहा। आजकल वह उसके लिए मशाल की तैयारी में व्यस्त है और उसका विचार पहले से भी अधिक भव्य और शक्तिशाली यन्त्र बनाने का है जो अनुमानतः बीस हजार पाउंड की लागत से तैयार हो सकेगा और जिसे चलाने के लिए छह सौ पाउंड वार्षिक का व्यय होगा।

मिस्टर डगलस कहते हैं कि यह विचित्र तथा अद्वितीय दृश्य न्याग्रा के हजारों लोगों को प्रभावित किए बिना नहीं रहेगा। इस भव्य जल-प्रपात का जो प्राकृतिक सौन्दर्य दिन में दृष्टिगोचर होता है, कहीं मनमोहक है परन्तु

इस नवीन उपाय से उसके आकर्षण में हजार गुनी वृद्धि हो जाएगी। और यह ऐसा दृश्य है जो किसी भी घुमक्कड़ मन में घर किए बिना नहीं रह सकेगा।

[‘जमाना’ के जुलाई 1908 में प्रकाशित होने वाला प्रेमचंद का सर्वप्रथम लेख]

कलामे सुरूर

मुंशी दुर्गासहाय सुरूर के देहावसान ने उर्दू की सभा में एक ऐसा स्थान रिक्त कर दिया है जिसका पूरा होना बहुत कठिन दिखाई देता है। प्राचीन शैली के शायरों में एक-दो वरिष्ठ शायरों के अतिरिक्त अन्य कोई शेष नहीं रह गया, और जो हैं, उन्हें भी पूछने वाले नहीं। आधुनिक शैली में कुछ युवा इस नशे से मस्त दिखाई देते थे लेकिन कुछ दुर्योग से उनके भी होंठ सिल गए। मौलाना हाली वार्द्धक्य से विवश हो गये, हजरत इकबाल और नैरंग को वकालत के तीव्र आकर्षण ने प्रभावित किया। पंडित चकबस्त साहब ने किसी कारण प्राचीन शैली अपना ली। हजरत सुरूर और नादिर-यही दो वरिष्ठ शायर ऐसे थे जिनसे यह गोष्ठी बनी हुई थी। अफसोस! सुरूर अब इस संसार में नहीं रहे और अब कविता के दृष्टिकोण से इस भाषा का भविष्य अंधकारमय प्रतीत होता है। उर्दू के एक सुविचारक काव्य-मर्मज्ञ ने उनके देहावसान की चर्चा करते हुए कहा है कि उर्दू भाषा के लिए यह आघात नसीम लखनवी की अकाल मृत्यु से किसी प्रकार भी कम नहीं है। सुरूर जन्मजात शायर थे। उन्होंने किसी गुरु के समक्ष सम्मान में घुटने

नहीं टिकाए लेकिन उनके एक-एक शेर से काव्य-कौशल की सुगन्ध प्रवाहित होती है। वे किसी विशेष शैली के पक्षधर नहीं थे, उनकी शैली निराली थी।

उनकी कविताओं में प्राचीन और आधुनिक दोनों शैलियों की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। प्राचीन काल के कसे हुए छंद, मंजी हुई पद्धति, सुरुचिपूर्ण उपमाएँ और आधुनिक काल के नये सुलझे हुए विचार, राष्ट्रवादिता और सहानुभूति के उत्साह से छलकती भावनाएँ-ये उनके काव्य की विशेषताएँ हैं। वे आधुनिक काल के रूखेपन, सरलता और विद्वत्तापूर्ण ढंग से उतने ही दूर भागते हैं जितने प्राचीन काल की सदाचार विरोधी भावनाओं और बंधन में बाँधने वाली अलकों के जाल से दूर भागते हैं।

जिस काल में हजरत सुरूर कानपुर में थे, हमें उनकी छत्रछाया में रहने का गौरव प्राप्त था। वे हर समय काव्य-चिन्तन में लीन रहते थे। वे मूर्तिमान शायर थे और शायरों की दुर्बलताओं से भी उन्हें पर्याप्त अंश मिला था, लेकिन उनकी दुर्बलताएँ वे नहीं थीं जो विकृत मानसिकता का परिणाम होती हैं। उनका हृदय स्वच्छ, विचार पवित्र और दृष्टि सम्पूर्ण थी। उनकी दुबर्लताएँ वे थीं जो शायरों के लिये नैतिक आभूषण से कम नहीं होतीं। वह व्यक्ति जिसके स्वभाव में विश्वसनीयता, सावधानी और नम्रता हो शायर

नहीं हो सकता। विश्वसनीयता और शायरी परस्पर विरोधी हैं। शराबीपन और उच्छृंखलता, आत्ममुग्धता और दुर्दशा-यही शायरी की भावभूमि है। मनमौजीपन ही हजरत सुरूर का प्रकट स्वभावगत वैशिष्ट्य था। जो कुछ मिलता, और उर्दू भाषा के शायर को मिलता ही क्या है, वह खुले हाथों खर्च करते। संसाधन अत्यन्त सीमित लेकिन हृदय नदी की भाँति विस्तृत था। कल की चिन्ता उन्हें कभी नहीं सताती थी। रहन-सहन बहुत ही साधारण और वाणी में ऐसा आकर्षण था जो अनचाहे ही हृदय को खींच लेता था। उन्हें पुस्तकों का अध्ययन करते हुए किसी ने भी बहुत कम देखा होगा लेकिन स्मृति इतनी प्रबल कि जो कविता एक बार भी दृष्टि में आ जाती, सदा के लिए अंकित हो जाती। प्रायः सूक्ष्म काव्यगत गूढ़ताओं और मतभेदों पर वरिष्ठ शायरों के शेर इस प्रवाह से पढ़ते थे कि आश्चर्य होता था।

उनसे परिचय प्राप्त करने का प्रथम अवसर मुझे कानपुर में मिला। उस समय वे 'जमाना' पत्रिका के प्रबन्धक थे। उनसे मिलने की उत्कंठा हृदय में हिलोरें भर रही थी। तृतीय प्रहर के लगभग तीन बजे उनके निवास पर गया तो देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। मेज पर शराब की बोतल, हाथ में गिलास, एक मैला सा कुर्ता पहने खुर्री चारपाई पर बैठे स्वर्गीय स्वामी रामतीर्थ का शोकगीत लिख रहे थे। स्वामीजी में उन्हें परोक्ष श्रद्धा थी।

काव्य-चिन्तन में इतने खोए हुए थे कि उन्हें कई मिनट के पश्चात् पता चला कि वे कमरे में अकेले नहीं हैं। निम्नांकित छन्द को पुनः-पुनः पढ़ते और झूमते थे। अपनी कविता के नशे से स्वयं ही मस्त हो रहे थे। यह वही काव्य है जो शायर को कालजयी बनाता है –

ख़ुल्द से है किसको लेने को क़ज़ा आई हुई
साहिले गंगा पे है ग़म की घटा छाई हुई
डूबती है किसकी कश्ती आज चकराई हुई
मौजे क़िस्मत की तरह इक इक है बल खाई हुई
आश्रा दरिया से क़तरा कौन सा होने को है
इश्तियाक़े मिह्र में शबनम फ़ना होने को है

इस शोकगीत में छन्द की शुद्धता और शायर के विचारों की उड़ान आकाश तक जा पहुँची है। एक-एक शेर हताशा और शोक की भावनाओं से परिपूर्ण है। अपनी शैली में यह उर्दू भाषा का सम्भवतः सर्वाधिक स्मरणीय शोकगीत है। कैसा उत्कृष्ट विचार है –

हो फ़ना तूफ़ान में इक ज़िंदए जावेद क़ौम
आह यू गंगा में डूबे कश्ती-ए-उम्मीदे क़ौम
ख़ाक का पैवन्द ऐसा गौहरे नायाब हो

ऐसा बेड़ा आह गंगा में ग़रीक़े आब हो

इस शोकगीत का एक-एक शेर हताशा का एक-एक महाग्रन्थ है। उन्होंने जब मेरी ओर देखा तो उत्साह से उठकर हाथ मिलाया और पारस्परिक परिचय के उपरान्त काव्य पर वार्ता होने लगी। उनकी सादगी और निर्धनता ने मुझे बहुत प्रभावित किया। खेद है कि उर्दू का ऐसा उत्कृष्ट शायर, ऐसा वाक्पटु साहित्यकार इस निर्धनता में जीवनयापन करे! वे जब तक कानपुर में रहते रहे मैं प्रायः उनकी संगति से लाभान्वित होता रहा।

यद्यपि उनकी कविता का विशिष्ट गुण निराशा और हताशा की भावनाएँ हैं लेकिन मित्रों की सभा में उनके सम्भाषण के ढंग और मुखाकृति से विनोदप्रियता टपकती थी और उनके अट्टहास की ध्वनि मित्रों के मन में गुदगुदी करती थी। सम्भवतः इतनी विनोदप्रियता उनके जीवन के लिए आवश्यक थी। यदि वे दिन-रात काव्य-चिन्तन में व्यस्त रहते तो मुस्कान को उनके मुँह पर आने का सौभाग्य प्राप्त न होता। निराशा में आँसू बहाना, जीविका न होने का उलाहना देना, विरहाग्नि में जलना, विगत दिनों को स्मरण करना-ये उनकी शायरी के विषय थे। हाथ में कलम थामते ही उनकी प्रसन्नता विदा हो जाती थी। शायरी की परिभाषा में बचपन का काल निर्श्चिन्तता और सम्पन्नता का पयाय है। सम्भव है उनका बचपन

भूखों मरते बीता हो लेकिन प्रायः शायरी की कल्पनाओं में व्यक्तिगत अनुभवों को स्थान नहीं होता।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में बचपन की याद अठखेलियाँ करती है। ऐसा कौन है जो अपने बालपन के काल को अपने जीवन का सर्वाधिक प्रिय काल नहीं समझता। इसके अनुसार यौवन काल मस्ती तथा मद्यपान, गाने तथा मिलने और भोग तथा आनन्द का पर्याय है। शायर का कलम बाल्यकाल की निश्चिन्तताओं और यौवन काल की उच्छृंखलताओं का आनन्द लेते नहीं थकता। सुरूर साहब ने उन संवेदनाओं को जिस करुणापूर्ण और सुन्दरतापूर्ण ढंग से सजाया है, उर्दू शायरी में उसका उदाहरण कहीं और कठिनता से ही मिलेगा। मगर उनकी यह दशा एक शायर के रूप में ही है अन्यथा दुर्गासहाय एक चिन्ताविहीन और सदाबहार आदमी था। एक ही लेखक के शायराना और मानवीय स्वभाव में ऐसा विरोध होना कोई असामान्य बात नहीं है। चार्ल्स डिकेन्स अंग्रेजी भाषा का बड़ा भारी हास्य लेखक था लेकिन मित्रों की सभा में गम्भीरता और खिन्नता उसका विशेष गुण हो जाता था। संक्षेपतः सुरूर मनुष्य की निराशापूर्ण भावनाओं का चितेरा है और इस रूप में उसका स्थान उर्दू में आधुनिक शैली के समस्त शायरों से कहीं ऊँचा है। लेकिन अपनी श्रेष्ठता का विचार उन्हें कभी स्वप्न में भी नहीं आया। वे अपने से कहीं निम्न कोटि के शायरों के समक्ष

निष्ठाओं का अन्तर प्रकट नहीं होने देते थे। आत्मप्रशंसा और अक्खड़पन उर्दू शायरों का आवश्यक गुण है। उनमें आत्मश्लाघा नाम को भी नहीं थी। कविता की प्रशंसा करने के लिए वे हर समय प्रसन्नमुख से तत्पर रहते थे और प्रायः हलके शेरों पर भी मस्ती में आ जाते थे। इसे नम्रता और विनय से संवर्धित गुणग्राहकता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है!

खेद है कि उर्दू-संसार ने उनका कुछ सम्मान नहीं किया। कुछ तो उनका हिन्दू होना, कुछ उनकी स्वभावगत नम्रता, कुछ साहित्यिक क्षेत्र से अपरिचित होना – इन कारणों ने उन्हें प्रतिष्ठा के पुष्पों से अपनी झोली नहीं भरने दी। ऐसी हालत में उनके अधिकांश मित्रों को आशंका होती थी कि उनके काव्य-संकलन को जनता के सामने आने का सम्भवतः अवसर ही नहीं मिलेगा। मगर सन्तोष की बात है कि यह आशंका निराधार सिद्ध हुई और वे इच्छाएँ जो उत्पन्न होकर मुरझा चली थीं पुनः हरी हो गईं। इस समय उनकी कविताओं के एक नहीं वरन् दो संकलन प्रकाशित हो गए हैं। एक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है, दूसरा जमाना प्रेस, कानपुर की ओर से। एक 'जामे सुरूर' है और दूसरा 'खुमखाना सुरूर'। 'जामे सुरूर' में उनके काव्य से संचयन प्रकाशित किया गया है और 'खुमखाना सुरूर' में प्रायः वही कविताएँ हैं जो 'जमाना' पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं, और इस तथ्य को तो नकारा ही नहीं जा सकता कि

उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ 'जमाना' में ही प्रकाशित होती थीं। कागज अत्युत्तम, लिखाई सुरुचिपूर्ण, छपाई स्पष्ट। 'जामे सुरूर' की भूमिका सार्थक है। उनके चित्र ने 'खुमखाना सुरूर' की शोभा दोगुनी कर दी है। कविता कहने में उनकी व्यस्तता के परिप्रेक्ष्य में यह परिमाण, जो उनके दस वर्ष के प्रयासों का फल है, कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता लेकिन काव्य के प्रभाव, भावनात्मक सौन्दर्य, अद्भुत विचार और विषयों की नवीनता उस कमी की प्रतिपूर्ति कर देते हैं। बाह्य रूप में तो यह संकलन सुरूर के अत्यधिक काव्य-लेखन का खंडन करता है लेकिन इस अवसर पर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुरूर के काव्य-चिन्तन का एक बड़ा अंश दूसरों को शायर बनाने में व्यय हो जाता था। मुसहफी के अत्यधिक काव्य लेखन ने कितने ही लोलुपों को शायर बना दिया था। सुरूर साहब को भी अत्यल्प मूल्य में प्रायः अपनी अधिकांश कविताएँ दूसरों के नाम से लिखनी पड़ती थीं। उर्दू जनता की गुणग्राहकता पर यह एक लज्जाजनक कलंक है।

हम पूर्व में ही लिख चुके हैं कि सुरूर निराशापूर्ण भावनाओं के चितेरे थे इसलिए उन्होंने अधिकांशतः उन्हीं विषयों पर कलम उठाई है जो हृदय में व्यथा और जलन की भावनाएँ भर सकें। उनकी कोई भी कविता इस भावना से खाली नहीं है। यह हमारा सौभाग्य है कि देश को भी इस नैराश्य

भावना का पर्याप्त अंश प्राप्त हुआ है। 'खाके वतन', 'उरूसे हुब्बे वतन', 'हसरते वतन', 'मादरे हिन्द', 'यादे वतन'-ये सभी इसी राष्ट्रीय रंग में डूबी हुई कविताएँ हैं। 'मादरे हिन्द' में सम्भवतः बंकिम के सुप्रसिद्ध राष्ट्रगीत 'वन्दे मातरम' का अनुकरण किया गया है लेकिन कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो बाह्य रूप में तो प्रेमपरक प्रतीत होती हैं मगर वास्तव में राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हैं। 'गुलो बुलबुल का फसाना' में कहते हैं –

चमन में नहीं यादगारे चमन कुछ
परेशाँ ज़मीं पर हैं ख़ारे चमन कुछ
यहीं मेरी सय्याद तुर्बत बनाना
यहीं मेरी मिट्टी ठिकाने लगाना

इस कविता का एक-एक शेर हृदय में सुईयाँ चुभाता है। 'शमा-ए-अंजुमन' में कहते हैं –

रातों को जिस तरह तू जलती है अंजुमन में
जलता हूँ मैं भी यूँ ही सोज़े ग़मे वतन में

हृदय राष्ट्रीय व्यथा से व्याकुल है। जब अवसर पाता है अपनी व्यथा-कथा सुना जाता है। राष्ट्रीय कविताओं के पश्चात् ऐतिहासिक और धार्मिक कविताओं का स्थान है और इस रंग में भी जो कुछ कहा है वह व्यथा की

भावनाओं से परिपूर्ण है। 'पद्मिनी', 'पद्मिनी की चिता', 'सीताजी की गिरिया व जारी', 'महाराजा दशरथ की बेकरारी', 'जमना', 'गंगा', 'प्रयाग का संगम', 'सती', 'नूरजहाँ का मजार', 'हसरते दीदार'-ये सभी इसी श्रेणी में है। नल और दमयन्ती की करुण कथा पर दो अत्यन्त कारुणिक कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं के शीर्षकों से शायर की मनोदशा स्पष्ट परिलक्षित होती है। शायर हर्ष और अभिलाषा की भावनाओं से परिचित नहीं है, उसे तो प्रकृति ने नैराश्य गीत गाने के लिए उत्पन्न किया है और इसी भावभूमि में उसका मन कुलाचें भरता है, इसी क्षेत्र में उसका चिन्तन-सागर अपने मोती लुटाता है। उसका हृदय तो अगरु है जिसमे जलने से ही सुगन्ध आती है। जमना और गंगा पर दो उत्कृष्ट कविताएँ लिखी हैं जो वर्णना शक्ति, वैचारिक सौन्दर्य और भावनात्मक गाम्भीर्य की दृष्टि से उर्दू काव्य संसार में प्रथम स्थान की अधिकारी हैं। इन दोनों पवित्र नदियों में हिन्दुओं की जो धार्मिक आस्था है उसे अभिव्यक्त करने में शायर कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है। 'गंगाजी' देखिए –

वो दिन भी होगा जब हम होंगे ग़रीक़े रहमत
और तेरी नज़्र होंगी ये हड्डियाँ हमारी
गंगा में फेंक आना बादे फ़ना उठा कर
बरबाद हो न मिट्टी ओ आस्माँ हमारी

एक छंद और देखिए –

आई अजल की ज़द पर जब अपनी उम्रे फ़ानी
और ख़त्म रफ़्ता रफ़्ता हो सैले ज़िन्दगानी
दुनिया से आह जब हो अपने सफ़र का सामाँ
बालीं पे अक़्बा हों सरगर्म नौहाख़्वानी
जब होंट ख़ुश्क हों और दुश्वार हो तनफ़्फ़ुस
अहबाब अपने मुँह में टपकाएँ तेरा पानी
हँसते हुए जहाँ से हम शादकाम जाएँ
दुनिया से पी के तेरी उल्फ़त का जाम जाएँ

'जमना' में ऐतिहासिक तथ्यों को काव्यात्मक भावनाओं के साथ इस सूक्ष्मता से मिलाया है जो किसी रसविहीन से भी अपनी कला की प्रशंसा करा सकता है –

ये वो जमना है कि राधा सी हसीं ने मुद्दतों
ब्रज की एक पाक दामन नाज़नीं ने मुद्दतों
बंसी वाले की जुदाई में उड़ाई सर पे ख़ाक
अपने अश्कों से किया है दामने साहिल को पाक
अब कहाँ छोटा सा वो राधा का कुंजे ख़ुशगवार

अब कहाँ वह आह मथुरा तेरे फूलों की बहार
अब कहाँ वो बंसीवाले की अदाए जाँनवाज़
अब कहाँ वो आह मुरली की सदाए जाँनवाज़
अब कहाँ वो ख़िल्वते राज़ो नियाज़े हुस्नो इश्क़
बेसदा ज़ेरे ज़मीं है आह साज़े हुस्नो इश्क़

'लक्ष्मीजी' और 'वेद मुकद्दस' दो धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत कविताएँ हैं। पहली कविता में हिन्दी शब्द इस कौशल से प्रयोग किये हैं कि सहसा प्रशंसा करने का मन होता है –

रुख़े ताबाँ पे बरसता था तेरे नूरे अज़ल
बनके सावन की झड़ी और कभी भादों की भरन
खिड़कियाँ तेरे शिवाले की थीं आँखें अपनी
उन झरोकों से किया करते थे तेरे दर्शन

मगर अब क्या हालत है –

तेरे मंदिर में न बत्ती न दिया है अफ़सोस
आह देवी तेरा सूना है पड़ा सिंघासन

लेकिन यदि सुरूर को उनकी शायरी के चरमोत्कर्ष पर देखना हो तो वे कविताएँ देखिए जिनमे उन्होंने हताशा और व्यथा का राग गाया है, जिनमे

बाल्यकाल और यौवनावस्था की स्मृतियाँ ताजा की गई हैं। 'दीवारे कुहन', 'हसरते शबाब', 'अंदोहे गुरबत', 'मुर्गाने कफस', 'यादे तिफ़्ली', 'गुलो बुलबुल का फसाना', 'हसरते दीदार', 'मातमे आरजू', 'मुर्गो सैयाद' आदि कविताएँ हताशा के शोकगीतों से कम प्रभावशाली नहीं हैं। 'गुलो बुलबल का फसाना' में देखिए कि चमन की क्या दशा है –

वो गुल जो कभी यादगारे चमन थे
वो गुंचे जो आईनादारे चमन थे
हुए सूख कर ख़ारे हसरत चमन में
बरसती है अब उन पे इबरत चमन में
चमन में नहीं यादगारे चमन कुछ
परेशाँ ज़मीं पर हैं ख़ारे चमन कुछ

लेकिन फिर भी चमन से कितना प्यार है कि –

यहीं मेरी सय्याद तुर्बत बनाना
यहीं मेरी मिट्टी ठिकाने लगाना

'मातमे आरजू' के दो शेर देखिए –

हाए वो दिल जिसमे उम्मीदों की थी बज़्में निशात
उसमे है इक आह छोटा सा मज़ारे आरज़ू

हसरते मुर्दा के ग़म में हाए मेरी ग़मगुसार
मर मिटा क्या तो भी शौक़े बेक़रारे आरज़ू

सम्भवतः 'मुर्गो सैयाद' सुरूर की सर्वश्रेष्ठ कविता है। हताशा के ऐसे कारुणिक शेर कहे हैं कि पढ़ने से जिगर पर चोट सी लगती है और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उर्दू में ऐसी करुणापूर्ण कविता सम्भवतः अन्य किसी ने नहीं लिखी। एकान्त पिंजरे में बैठा हुआ मुर्गा हवा से कहता है। विचारों का खुलापन प्रशंसनीय है –

ऐ नसीमें सुब्ह! ये गह्वारा जुंबाने चमन
हो अगर तेरा गुज़र सूए जवानाने चमन
उनसे कहना मेरी जानिब से बसद इज़हारे शौक़
साथ के खेले हुए हैं वो जो याराने चमन
इक गिरफ़्तारे कफ़स ने है कहा तुमको सलाम
और पूछा है मिज़ाजे सर्द औ रेहाने चमन
फिर ये दुनिया मेरी जानिब से नवेदे जाँफ़िज़ा
सैरे गुलशन हो मुबारक तुमको मुर्गाने चमन

बेचारा मुर्गा स्वयं पिंजरे में बन्द है लेकिन चमन के युवाओं को आनन्ददायक प्राणवायु की शुभ सूचना देता है। अपना हृदय हताशा से

कुचला हुआ है लेकिन दूसरों की प्रसन्नता देखकर वह कुछ समय के लिए अपनी व्यथा भूल जाता है –

छेड़ती है क्या क़फ़स में हमको ऐ बादे नसीम
इस चमन में हम भी थे परवर्दए नाज़े क़दीम
हम कहाँ के ख़ुशनवा थे हम कहाँ के बज़्लासंज
हम पे ऐ सय्याद जो टूटा तेरा क़हरे अज़ीम
हमसफ़ीराने चमन के क्या तग़ाफ़ुल का गिला
जब क़फ़स में फँस गए कैसी रह-ए-रस्मे-क़दीम
दीदे गुल से वास्ता क्या हम असीरों के लिये
सैरे गुलशन हो मुबारक हमसफ़ीरों के लिये
फिर सुनेगा हाए किसके ज़मज़में सय्याद तू
हम क़फ़स में और हैं नग़्मासरा दो चार दिन
हसरते परवाज़ भी जाती रहेगी ऐ अजल
हम से उड़ लें और मुर्ग़ाने हवा दो चार दिन
फिर कहाँ सय्याद हम और फिर कहाँ कुंजे क़फ़स
आबो दाना है मुक़द्दर में तेरा दो चार दिन
घुट के इस ज़िन्दाँ में जाएगा कभी तो दम निकल
और हैं हसरतकशे ज़ौक़े फ़ना दो चार दिन

लेकिन मुर्ग़े को हाथ से खोकर बहेलिये की क्या दशा होगी, स्वयं मुर्ग़े के मुँह से सुनिये –

जब बनाएगा हमारा आह छोटा सा मज़ार
चुपके चुपके तू हमारे ग़म में होगा अश्कबार
याद रह रह कर जफ़ाएँ अपनी आएँगी तुझे
और हमारी बेकसी पर रोएगा तू ज़ार ज़ार

इसी कविता में एक ऐसा तड़पाने वाला शेर भी हो गया है जिस पर संकलन के संकलन न्योछावर किए जा सकते हैं –

अपनी मिट्टी है कहाँ की क्या ख़बर बादे सबा
हो परीशाँ देखिए किस-किस जगह मुश्ते ग़ुबार

दो शेर और देखिए –

हम न फँसते किस तरह सय्याद तेरे जाल में
आबो दाना था मुक़द्दर में तेरे घर का लिखा
तेरे मुर्ग़े दस्त परवर हम हैं सय्यादे अज़ल
ख़्वाह हमको ज़िब्ह कर तू ख़्वाह हमको कर रिहा

हाफिज का मक्ता किस कौशल से चिपकाया है –

सुन न आँ मुर्ग़म के नालम अज़ जफ़ाए तेग़ तू

ज़िब्हकुन सय्याद बा क़ुर्बा अदाए तेग़ तू

सुरूर साहब का अंग्रेजी ज्ञान सीमित था लेकिन अंग्रेजी भावभूमि को वे जिस कौशल से काव्यबद्ध कर देते थे, वह वर्तमान शायरों में कदाचित् किसी को उपलब्ध नहीं है। इन दोनों संकलनों में लगभग 20 कविताएँ इसी प्रकार की हैं। कहीं कविताओं का अनुवाद कर दिया है, कहीं मात्र विचार लेकर कविता का रूप दे दिया है। 'मुर्गाबी', 'तराना-ए-ख्वाब', 'बच्चा और हिलाल', 'मुताल्ला-ए-कुतुब', 'कारजारे हस्ती', 'उम्मीद और तिफ़्ली', 'मौसमे सर्मा का आखिरी गुलाब' अपनी शैली की अच्छी कविताएँ हैं। इनके विषय में यह कहना ही पर्याप्त है कि इनमें लेखन तथा कथन का सौन्दर्य और स्पष्टता विद्यमान है। और अनुवाद की कभी इससे अधिक प्रशंसा नहीं की जा सकती।

'तराना-ए-ख्वाब' देखिए। मोमिन का सा प्रवाह और कोमलता विद्यमान है —

सो गए ऐ दिल दुनिया वाले
अब तो ज़रा आँखें झपका ले
दरिया की खामोश हैं लहरें
नींद से हमआग़ोश हैं लहरें

'मुताल्ला-ए-कुतुब' में शाब्दिक सौन्दर्य दृष्टव्य है –

तुम ग़िज़ा-ए-रूह हो तुम सैक़ले अख़्लाक़ हो
सफ़हा-ए-दानिश पे गोया जद्वले अख़्लाक़ हो
हो दबिस्ताने ख़मोशी में अदब आमोज़ तुम
और ग़मे आलाम में हो मूनिसे दिलसोज़ तुम

इन कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि उन्हें अनुवाद पर कितना अधिकार और अभ्यास था। इसी शैली में 'कोयल' और 'बीर बहूटी'-दो मौलिक कविताएँ लिखी हैं। काव्यात्मक क्षमता हताशा से हटकर शब्दाडम्बर और ऊँची उड़ान में लय हो गई है। विषय वर्णन में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। सुरूर ने कोई कसीदा नहीं लिखा लेकिन इस कविता ने सिद्ध कर दिया है कि यदि वे कसीदा-लेखन के क्षेत्र में आते तो उत्कृष्ट कसीदे कहते –

बर्क़े आलम सोज़ की नन्हीं सी हैकल है कोई
आतिशे याक़ूत की छोटी सी मुन्क़ल है कोई
या शफ़क़ का कोई टुकड़ा है ज़मीं पर जल्वागर
जामे ज़र्री में है या सहबा-ए-अह्मर जल्वागर

सुरूर साहब ने नैतिकता और शिष्टाचार पर कलम नहीं उठाई। वे मद्यप थे, पीरे मुगाँ [1] के द्वार पर नतमस्तक होने वाले। वे सौन्दर्य-प्रेमी थे, इच्छाओं को मन में पालने वाले। ऐसा व्यक्ति हितोपदेश का प्रेमी कैसे हो सकता था। प्रकृति ने उन्हें भावनाओं को लिपिबद्ध करने के लिए उत्पन्न किया था, धर्मोपदेशक बनने के लिए नहीं। फिर भी उन्होंने कम से कम तीन ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिन पर नैतिकतापूर्ण होना चरितार्थ होता है। 'जने खुशखू', 'बेसबाती-ए-दुनिया' और 'आवा-ए-शर्म'। यद्यपि इस मार्ग से वे नितान्त अपरिचित हैं फिर भी वह सुरुचिपूर्ण वर्णना शक्ति जो उनका विशेष गुण थी, यहाँ भी अपनी चमक दिखा गई है। 'जने खुशखू' एक लम्बी कविता है जिसमे 22 छन्द हैं। यहाँ वे सदुपदेशक बने हैं लेकिन दयावान; और नम्र स्वभाव वाला विषय रूखा है मगर वर्णन के सौन्दर्य से सुसज्जित। 'जने खुशखू' में कहते हैं –

फ़र्ज़ाना है ज़ीरक है अक़ीला है निको होश
कम गो है मुअद्दब है रज़ा जू है वफ़ा कोश
हर्फ़े सुख़न ख़ूब है गाहे गहे ख़ामोश
आरामें जिगर, राहते जाँ, ज़ीनते आग़ोश
हुस्न जिसमे नहीं है कि वफाएँ नहीं इसमें

[1] मदिरालय का बूढ़ा प्रबन्धक।

हाँ, कौन सी पाकीज़ा अदाएँ नहीं इसमें

सुरूर साहब ने आश्चर्यजनक प्रत्युत्पन्न मति पाई थी। विचार में विषय आया और मन चिन्तन का आनन्द लेने लगा। वे जिन दिनों कानपुर में थे उस समय क्राइस्टचर्च कालेज के छात्रों ने विदेश जा रहे प्रोफेसर क्रास्थवेट को एक विदाई गीत प्रस्तुत करने का निश्चय किया। तीसरे पहर के समय कुछ छात्रों ने आकर सुरूर साहब से एक ऐसी कविता की माँग की जो समयानुकूल हो। समय अत्यल्प था लेकिन दो घंटे के चिन्तन में ही सुरूर ने दस छन्दों की एक ऐसी आकर्षक कविता लिख दी जिसके एक-एक छन्द से वह श्रद्धा टपकती है जो प्रतिष्ठित प्रोफेसर के किसी निष्ठावान शिष्य के मन में उत्पन्न हो सकती हो।

लेकिन खेद! अब उर्दू के उद्यान में इस सुन्दर पक्षी की चहक सुनाई नहीं देगी। वह बुलबुल जो स्वतंत्र रहकर भी बहेलिये के बन्धन की कामना में घुलता रहा, जिसकी व्यथा-कथा में मनमोहक गीत का आकर्षण और नैराश्य गीत में प्रसन्नता का आनन्द था, वह शोक-मदिरा का दीवाना, कामनाओं की मदिरा का मूर्त रूप, वह हताशा की मूर्ति; खेद है वह प्रसन्नचित्त शायर अब इस संसार में नहीं रहा। उर्दू की सभा में उसका स्थान रिक्त हो गया और दीर्घकाल तक रिक्त रहेगा। उसकी कविता कहती

है कि मैं क्या कुछ हो सकती थी लेकिन निर्दयी मृत्यु ने नहीं होने दिया। वह अधखिला फूल था, जैसे ही उस पर अभिलषित दृष्टियाँ पड़ने लगीं, जैसे ही बहुत बेचैन लोग उसकी बलाएँ लेने लगे, ठीक उसी समय वह विषैली हवा का एक झोंका खाकर मुरझा गया और सूखकर धरती पर गिर गया। अब उसकी स्मृति में कुछ व्याकुल पृष्ठ शेष हैं जो हताशा की भाषा में बता रहे हैं कि हम क्या होने वाले थे लेकिन हो नहीं पाए।

सुरूर! हमने जीवित रहते तुम्हारा सम्मान नहीं किया लेकिन अब जबकि तुम हमें वियोग का संताप देकर चले गए हो, हमें तुम्हारी याद आती है। तुम्हें हाथों से खोकर अब हम तुम्हारा सम्मान कर रहे हैं। यदि तुमने संसार के किसी अन्य देश में जन्म लिया होता तो आज तुम्हारी समाधि पर हीरे-मोती न्योछावर किए जाते, तुम्हारे स्मारक बनते, लोग तुम्हारे नाम पर जान छिड़कते। लेकिन यद्यपि हम इस योग्य नहीं हैं कि तुम्हारी समाधि पर हीरे-मोती न्योछावर कर सकें, यद्यपि हममें तुम्हारा स्मारक बनाने की योग्यता और पात्रता नहीं है, तथापि तुम्हारे नाम पर जान छिड़कने वालों की संख्या कम नहीं है। यद्यपि तुम्हारी सभा निर्जन हो गई लेकिन तुम्हारा वह खुमखाना अभी शेष है जो मस्ती और प्यार का एक अनित्य निर्झर है। परमात्मा से हमारी प्रार्थना है कि हम दीर्घकाल तक इस जामे सुरूर से मदमस्त और छलकते रहें।

कलामे अकबर पर एक नजर

वली और मीर से लेकर अमीर और दाग तक उर्दू जबान ने जो रंग बदले हैं वह एशियाई शायरी के समझने वालों से छिपे नहीं हैं। निस्संदेह शायरी की कल्पनाओं में ग़ालिब को छोड़कर कोई नया ढंग नहीं अपनाया गया। तो भी मुहावरों, बंदिशों और बयान के ढंग में अलग-अलग कवियों में स्पष्ट अंतर पाया जाता है। वली ने जिन विचारों को लिया है वे हैं तो बहुत ऊँचे लेकिन उनकी शैली और इस जमाने की शैली में बड़ा अंतर है। मीर और सौदा और इंशा का रंग भी अलग-अलग है लेकिन भाव एक ही है यानी अधिकतर भाव फारसी से मिलते हुए हैं और ऐसे भाव ही हैं जो फारसी से उद्धृत नहीं कहे जा सकते। सैकडों मुहावरे और ताकीबें फारसी से भिन्न हैं। उर्दू के तमाम मशहूर उस्तादों ने फारसी और अरबी की किताबें पढ़ी हैं और अरबी में अगर ज्ञान के सागर नहीं हैं तो कम से कम फारसी और सर्फ ओ नहव (व्याकरण) पढ़ी है क्योंकि इस ज्ञान के बिना रुचि का संस्कार नहीं हो सकता और उर्दू के कुछ कवि तो सचमुच बडे आलिम-फाजिल थे मगर ये सब कल्पनाओं के गठन और अर्थ-सौंदर्य में फारसी

कवियों का अनुकरण करते थे और उर्दू के पिछले उस्तादों का सामाजिक रहन-सहन भी पुराना और इस जमाने से बिल्कुल अलग था। और दाग और अमीर ने जिस जमाने में नाम हासिल किया उस जमाने की तहजीब मीर वगैरह के जमाने से हट गई थी लेकिन वह उससे प्रभावित नहीं हुए और उसका बडा कारण यह था कि वह न खुद अंग्रेज थे और न उनकी सरकारें अंग्रेजी रुचि रखती थीं। इस वजह से उनकी शायरी का रंग पुराना था। लेकिन जनाब अकबर प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के अलावा अंग्रेजी भाषा के भी विद्वान हैं और अपने इसी लगाव के कारण जनाब अकबर ने अपनी शायरी में जगह-जगह अंग्रेजी भाषा के शब्दों को भी खपाया है और कहीं-कहीं बडे प्यारे ढंग से खपाया है। हँसी-दिल्लगी के शेरों में यह तरकीबें सोने में सुहागा हो गई हैं लेकिन ज्यादातर गजलें पुरानी कल्पनाओं की पाबंदी के साथ कही गई हैं। अक्सर शेर मीर और मिर्जा और ग़ालिब के रंग के हैं। कुछ गजलें जनाब अकबर ने अपने खास रंग में कही हैं जो पाठक आगे चलकर देखेंगे।

आज की उर्दू शायरी एक अजीब कशमकश में गिरफ्तार है। अंग्रेजी शिक्षा का विचारों पर ऐसा चुंबक जैसा प्रभाव पड़ा है कि लोग पुरानी बातों से तंग आ गए हैं। उर्दू कविता में यही हालत दिखाई देती है और आज के कवियों की साफ-साफ दो श्रेणियाँ हो गई हैं। दाग और हाली के असर में उर्दू

शायरों के दो परस्पर विरोधी स्कूल कायम हुए जो कई लिहाज से 'दरबारी' और 'मुल्की' के नाम से पुकारे जा सकते हैं। इन दोनों संप्रदायों में दो ध्रुवों की दूरी है। एक ने पुरानेपन की कसम खा ली है और दूसरे हैं कि नई-नई बातों और आजादी पर मिटे हुए हैं। कविता की दुनिया में इन दोनों विरोधी संप्रदायों के कारण एक तरह का तहलका मचा हुआ है। मुल्क में एक तरफ तो शायरी के दरबार से उनको निकालने की फिक्र हो रही है उन्हें काफिर करार दिया जा रहा है और दूसरी तरफ उनके शायराना अधिकारों पर झगडा छिड़ा हुआ है। सामान्य कविता-प्रेमी इन दोनों को जरूरत से ज्यादा जोशीला पाते हैं और खुदा बीच का रास्ता पसंद करते हैं। यही सबको अच्छा भी लगता है। इसमें शक नहीं कि पुराने किस्सों और रूपकों और उपमाओं को सिर्फ दुहराने से आधुनिक युग के लोग मुग्ध तो क्या संतुष्ट भी नही हो सकते। दिल शायरी से शब्दों के उलटफेर के सिवा कुछ और की भी उम्मीद रखता है। इसके साथ ही अभी बिल्कुल आजादी भी ठोक नहीं जो कविता के अनिवार्य बंधनों का भी ध्यान न रक्खा जाए। निरे रूखे-सूखे उपदेश दिल कुबूल नहीं करता। कविता से लोग फायदे की बनिस्बत खुशी की ज्यादा उम्मीद रखते हैं मगर इस पहलू को बिल्कुल भुला देना भी ठीक नहीं।

खुशी की बात है कि इन दोनों संप्रदायों के बीच कुछ ऐसे कवि भी हैं। जिन्होंने भाषा और कविता पर पूर्ण अधिकार रखने के साथ-साथ युग की आवश्यकताओं को भी अच्छी तरह अनुभव कर लिया है और उसमें हम जनाब खान बहादुर सैयद अकबर हुसैन साहब जज इलाहाबाद का दर्जा बहुत ऊँचा पाते हैं। आपने युग के विचारों और आवश्यकताओं का सही अंदाजा कर लिया है। उनकी शायरी में दोनों रंग उचित मात्रा में मिलते हैं और इसी वजह से आपकी शायरी खास और आम सबको इतनी ज्यादा पसंद है। आपको दिलचस्पी और दिलफ़रेबी के लिहाज से पुरानी शायरी का ढंग भी आता है और इसके साथ ही विचारों में उसकी संकीर्ण सीमाओं का बंधन भी स्वीकार नहीं। इसी वजह से आपकी शायरी मौजूदा कसौटी पर खरी उतरती है। उसमें बात कहने के एशियाई ढंग में पश्चिमी विचारों से सुंदरतम नमूने मिलते हैं। आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर भी आपने शिक्षा दी है और सहानुभूति दिखलाई है। मानव भावनाओं की भी झलक आपकी शायरी में रहती है और क्या अजब है कि कुछ दिनों मे देश विभिन्न प्रभाव आपकी काव्य-शैली पर स्थायी रूप से छा जाएँ और इस तरह काव्य-क्षेत्र के वर्तमान विरोधी संप्रदाय मिलकर एक हो जाएं। मगर फिलहाल कशमकश जारी है और इसको जनाब अकबर ने बडे मजेदार ढंग से बयान किया है –

कदीम वजअ पे कायम रहूँ अगर अकबर
तो साफ कहते हैं सैयद यह रंग है मैला
जदीद तर्ज अगर इख्तियार करता हूँ
खुद अपनी कौम मचाती हे शोर वावेला
जो एतदाल की कहिए तो वो इधर न उधर
ज्यादा हद से दिये सबने पाँव हैं फैला
इधर से जिद है कि लेमनड भी छू नहीं सकते
उधर ये जिद है कि साकी, सुराहिए मै ला
इधर है दफ्तरे तदबीर व मसलहत नापाक
उधर है वहिए विलायत की डाक का थैला
गरज दोगूना अजाबस्त जाने मजनू रा
बलाये सोहबते लैला व फुरकते लैला

मगर इस मुश्किल को अकबर ने बड़ी खूबसूरती के साथ आसान कर दिखाया है और हर आदमी अपनी रुचि के अनुसार आपकी शायरी में से शेरों का चुनाव कर सकता है। इश्क और मुहब्बत की जिन भावनाओं को आपने कविता में व्यक्त किया है वह बड़ी खूबी से कविता में आए हैं। गजल का रंग ऐसा प्यारा है कि आशिक मिजाज कविता-प्रेमी आपकी शायरी पढ़कर बेचैन हो सकता है। कविता में सहजता ही वह चीज है जो दिलों को

अपनी तरफ खींचती है। जनाब अकबर के दीवान में अक्सर शेर तीर और नश्तर का काम देने वाले हैं। शेरों का आशय स्पष्ट है और अतिशयोक्ति भी कल्पनातीत नही है बल्कि बडे अच्छे ढंग से आई है। वह तमाम खूबियाँ जो एक सिद्धहस्त और अच्छे कवि की कविता में होनी चाहिए आपके कुल्लियात में मौजूद हैं।

आपको कुल्लियात (संपूर्ण रचनाओं का संग्रह) चालीस साल की मेहनत का नतीजा है। गजलें, रुबाइयाँ, कते और मसनतियाँ, हँसाने वाले और दूसरे फुटकर शेर, वह इन सबका एक दिलचस्प संग्रह है। यह जरूर है कि कुल्लियात में संकलन की दृष्टि से ऐसे कुछ दोष हैं कि दूसरे संस्करण में उनका संशोधन कर देना चाहिए। लेकिन इस बात को असल कविता से अधिक प्रयोजन नहीं है। कविता-मर्मज्ञ और आलोचक तो काव्य की ख़ूबियों को देखता है और इस लिहाज से यह कुल्लियात बहुत ही कद्र के काबिल है। इसके प्रकाशन से एशियाई शायरी में आधुनिक युग के अनुसार उचित अभिवृद्धि हुई है। कुछ चुने हुए सुनिए –

मेरी हकीकते हस्ती ये मुश्ते खाक नहीं
बजा है मुझसे जो पूछे कोई पता मेरा

सचमुच यह शेर अपने अर्थ की दृष्टि से बहुत सारगर्भित है। सचमुच इंसान

की हस्ती सिर्फ मुट्ठी भर राख ही नहीं। ज्ञानी मुट्ठी भर राख की असलियत को समझ सकता है और इसी वास्ते एक इस्लामी लीडर या पेशवा ने कहा है मन अरफा नफ्सहू, फकद रब्बहू। यानी जिसने अपनी आत्मा को पहचाना उसने अपने परमात्मा को पहचाना। दूसरा मिसरा साफ है और हकीमत के तलबगार तो चाहते हैं कि काश वह उस रहस्य को खोले। एक उर्दू शेर में यह नाजुक खयाल पैदा करना मामूली बात नहीं।

इस्लाम के पैगम्बर की स्तुति में यह शेर ख़ूब कहे हैं –

दुरफिशानी ने तेरी कतरों के दरिया कर दिया
दिल को रौशन कर दिया आँखों को बीना कर दिया
खुद न थे जो राह पर औरों के हादी बन गये
क्या नजर थी जिसने मुर्दा को मसीहा कर दिया

दोस्त

दिल मेरा जिससे बहलता कोई ऐसा न मिला
बुत के बंदे मिले अल्लाह का बंदा न मिला

प्रेम की बेसुधी

वाह क्या राह दिखाई है हमें मुर्शिद ने

कर दिया काबे को गुम और कलीसा न मिला

इसी जमीन में दो हास्यरस के शेर हैं –

रंग चेहरे का तो कालिज ने भी रक्खा कायम
रंगे बातिन में मगर बाप से बेटा न मिला
सैयद उट्ठे जो गजट लेकर तो लाखों लाये
शेख कुरआन दिखाते फिरे पैसा न मिला

अगर यह शेर गजल से अलग किसी नज्म में शामिल किए जाते तो दिलचस्पी बढ़ जाती मगर जनाब अकबर की बेतकल्लुफ तबीयत ने इसका ख़याल नहीं किया।

आशिकाना रंग में यह शेर तारीफ के काबिल हैं और खूबी यह है कि इनमें तसव्वुफ की झलक भी मौजूद है –

गुन्चये दिल को नसीमे इश्क ने वा कर दिया
मैं मरीजे होश था मस्ती ने अच्छा कर दिया
दीन से इतनी अलग हद्दे फना से यूँ करीब
इस कदर दिलचस्प क्यूँ फिर रंगे दुनिया कर दिया
सबके सब बाहर हुए वहमो खिरद होशोतमीज
खानये दिल में तुम आओ हमने परदा कर दिया

ईश्वर एक है

तसव्वुर उसका जब बंधा तो फिर नजर में क्या रहा
न बहसे ईनो आ रही न शोरे मासेवा रहा

आजादी

जो मिल गया वो खाना दाता का नाम जपना
इसके सिवा बताऊँ क्या तुमसे काम अपना

आशिकाना

अक्ल को कुछ न मिला इल्म में हैरत के सिवा
दिल को भाया न कोई रंग मुहब्बत के सिवा
बढ़ने तो जरा दो असरे जजबये दिल को
कायम नहीं रहने का ये इनकार तुम्हारा
बाइसे तसकीं न था बागे जहां का कोई रंग
जिस रविश पर मैं चला आखिर परीशाँ हो गया

जनाब अकबर ने यह शेर खूब कहा है और गोया ग़ालिब के मजमून को दूसरे ढंग से नज्म में बाँधा है –

बूये गुल नालये दिल दूदे चिरागे महफिल
जो तेरी बज्म से निकला सो परीशाँ निकला

बुढापे की शिकायत

बस यही दौलत मुझे दी तूने ऐ उम्रे अजीज
सीना इक गंजीनए दागे अजीजाँ हो गया
है गजब जलवा तेरे दैरे फानी का
पूछना क्या है उसके बानी का
होश भी बार है तबीयत पर
क्या कहूँ हाल नातवानी का

मआरिफत (ब्रह्मज्ञान)

नसीम मस्ताना चल रही है चमन में फिर रत बदल रही है
सदा ये दिल से निकल रही है वही है यह गुल खिलाने वाला

वैराग्य

खुदी गुम कर चुका हूं अब खुशी व गम से क्या मतलब
ताल्लुक होश से छोड़ा तो फिर आलम से क्या मतलब

जिसे मरना न हो वह हस्र तक की फिक्र में उलझे

बदलती है अगर दुनिया तो बदले हमसे क्या मतलब

मेरी फितरत में मस्ती है हकीकत में है दिल मेरा

मुझे साकी की क्या हाज़त है जामे जम से क्या मतलब

दिल हो वफा-पसंद नजर हो हया -पसंद

जिस हुस्न में यह वस्फ हो वह है खुदा-पसंद

तोडों `प तेरे झूमने लगती है शाखे गुल

बेहद है तेरा नाच मुझे ऐ सबा पसंद

उर्दू के सिलसिले में कुछ फारसी गजलें भी दर्ज कर दी गई हैं और इंसाफ यह है कि जनाब अकबर फारसी में भी एक फारसीदाँ की हैसियत से कहते हैं। दो-एक शेर मुलाहिजा हों –

वक्ते बहारे गुल दिलम अज होश दूर बूद

मोंजे नसीम दुश्मने शमये शऊर बूद

यक जलवा गरदद सूरते परवाना सोख्तम

आरी हमीं इलाज दिले नासुबूर बूद

खुश बूद आ जमां खुदी आज खुद खबर न दाश्त

हाशम ब ख्वाब बूद दिलम अज हुजूर बूद

उर्दू

मौकूफ कुछ नहीं है फकत मैपरस्त पर
जाहिद को भी है वज्द तेरी चश्मे मस्त पर
उस बावफा हो हस्र का दिन होगा रोजे वस्ल
कायम रहा जो दह में अहदे अलस्त पर

नई तरकीब और दिल्लगी के रंग में यह शेर मुलाहिजा हो –

मैले नजर है जुल्फे मिसे कज कुलाह पर
सोना चढा रहा हूँ मैं तारे निगाह पर

आशिक्री और उम्मीद

तबा करती है तरे इश्क की ताईद हनोज
इन जफाओं पे भी टूटी नहीं उम्मीद हनोज

दूसरा शेर अक्सर हिन्दुस्तानियों के हाल के मुताबिक है –

न खुशी होती है दिल को न तबीयत को उभार
फिर भी सालाना किये जाते हैं हम ईद हनोज

विरह की रात का दृश्य

विरह की रात का काल्पनिक चित्र कवियों ने अलग-अलग ढंग से उतारा है।

ग़ालिब ने इस खयाल को यूं नज्म किया है –

दागे फिराके सोहबते शब की जली हुई
एक शमअ रह गई है सो वह भी खमोश है

जनाब अकबर ने भी इस खयाल को बडे पुरअसर अंदाज से बिठाया है –

नहीं कोई शबे तारे फिराक में दिलसोज
खमोश शमअ है खुद जल रहे हैं शाम से हम
निगाहे पीरे मुगां कहती है मुरीदों से
रहे सलूक में वाकिफ हैं हर मुकाम से हम

जनाब अकबर का यह शेर हाफिज शीराजी के इस शेर से मिलता-जुलता है –

ब मय सज्जादा रंगीं कुन गरत पीरे मुगां गोयद
के सालिक बेखबर न बुवद जे राहो रस्मे मंजिलहा

जमाने का इंकलाब

फलक के दौर में हारे हैं बाजीए इकबाल

अगरचे शाह थे बदतर हैं अब गुलाम से हम

नाजुक खयाली

मेरी बेताबियाँ भी जुज्व हैं इस मेरी हस्ती की
ये जाहिर है कि मौजें खारिज अज दरिया नहीं होतीं

दिल की उदासी

हुआ हूँ इस कदर अफसुर्दा रंगे बाग हस्ती से
हवाएँ फस्ले गुल को भी निशात-अफजा नहीं होतीं
कजा के सामने बेकार होते हैं हवास अकबर
खुली होती हैं गो आँखें मगर बीना नहीं होतीं

आजादी के लाले

इतनी आजादी भी गनीमत है सांस लेता हूँ बात करता हूँ

सच्चाई के रास्ते में कठिनाइयाँ

मआरिफत खालिक की आलम में बहुत दुशवार है
शहरेतन में जब कि खुद अपना पता मिलता नहीं

दोस्तों की याद

जिंदगानी का मजा मिलता है जिनकी बज्म में
उनकी कब्रों का भी अब मुझको पता मिलता नहीं

परदेश की बेकसी

बेकसी मेरी न पूछ ऐ जादए राहे तलब
कारवाँ कैसा कि कोई नक्शे पा मिलता नहीं
यूँ कहो मिल आऊँ उनसे लेकिन अकबर सच ये है
दिल नहीं मिलता तो मिलने का मजा मिलता नहीं

आशिकाना जिंदगी

दिल जीस्त से बेजार है मालूम नही क्यूँ
सीने पै नफ़स बार है मालूम नहीं क्यूँ
जिससे दिले रंजूर को पहुँची है अजीयत
फिर उसका तलबगार है मालूम नहीं क्यूँ
अंदाज तो उश्शाक के पाये नहीं जाते
अकबर जिगर अफगार है मालूम नहीं क्यूँ

नीचे लिखी हुई तरह में आपने एक लंबी लिखी है गजल और खूब-खूब शेर निकाले हैं। ग़ालिबन यह गजल मुशायरे में कही है। यह सारी गजल बहुत सजी हुई है। दो-तीन शेर मुलाहिजा हों –

हिज्र की रात यूँ हूँ मैं हसरते कद्दयार में
जैसे लहद में हो कोई हस्र के इंतजार में
रंगे जहाँ कि शाद काश मेरी भी यूँ ही हो बसर
जैसे गुलो नसीम की निभ गई चाह प्यार में
आँख की नातवानियाँ हुस्न की लनतरानियाँ
फिर भी हैं जाफिशनियाँ कूचए इंतजार में

सदाचार की शिक्षा

आइना रख दे बहारे गफलत अफजा हो चुकी
दिल संवार अपना जवाना भी खुद-आरा हो चुकी
खानए तन की खराबी पर भी लाजिम है नजर
जीनते आराइशे कस्रे मुअल्ला हो चुकी
बेखुदी की देख लज़्ज़त करके तर्के आरजू
हो चुकी हद्दे हवस मश्के तमन्ना हो चुकी
चल बसे याराने हमदम उठ गए प्यारे अजीज

आखिरत की अब कर अकबर फिक्रे दुनिया हो चुकी

एयादत को आये शिफा हो गई

अलालत हमारी दवा हो गई

पढ़ी यादे रुख में जो मैंने नमाज

अजब हुस्न के साथ अदा हो गई

बुतों ने भुलाया जो दिल से मुझे

मेरे साथ यादे खुदा हो गई

मरीजे मुहब्बत तेरा मर गया

खुदा की तरफ से दवा हो गई

न था मंजिले आफियत का पता

कनाअत मेरी रहनुमा हो गई

इशारा किया बैठने का मुझे

इनायत की आज इंतहा हो गई

दवा क्या कि वक्ते दुआ भी नहीं

तेरी हालत अकबर ये क्या हो गई

दुनिया को हकीकत

दो आलम की बिना क्या जाने क्या है

निशाने मासेवा क्या जाने क्या है

ईश्वर एक है

मेरी नजरों में है अल्लाह ही अल्लाह
दलीले मासेवा क्या जाने क्या है
जुनूने इश्क में हम काश मुबतिला होते
खुदा ने अक्ल जो दी थी तो बाखुदा होते

जबान को लुत्फ

ये खाकसार भी कुछ अर्जे हाल कर लेता
हुजूर अगर मुतवज्जो इधर जरा होते
ये उनकी बेखबरी जुल्म से भी अफजूँ है
अब आरजू है कि वो मायले जफा होते

संसार को असारता

दो ही दिन में रुखे गुल जर्द हुआ जाता है
चमने दह से दिल सर्द हुआ जाता है

प्रेम से होड

मेरे हवास इश्क में क्या कम हैं मुंतशर
मजनूँ का नाम हो गया किस्मत की बात है

हुस्न ओ इश्क के ताल्लुक

सौ रंगे तसव्वुर में हम ऐ जान दर आए
हर रंग में तुम आफते ईमाँ नजर आए

आशिकाना

दम लबों पर था दिलेजार के चबराने से
आ गई जान में जान आप के आ जाने से
जमाने का इंकलाब और एकता का लोप
कल तक मुहब्बतों के चमन थे खिले हुए
दो दिल भी आज मिल नहीं सकते मिले हुए
तुम्हीं से हुई मुझको उल्फत कुछ ऐसी
न थी वरना मेरी तबीयत कुछ ऐसी
गिरे मेरी नजरों से खूबाने आलम
पसंद आ गई तेरी सूरत कुछ ऐसी

नीचे के गजल में काफिया और रदीफ किस कदर चुस्त है। नाजुक खयाली के साथ तगज़्ज़ुल की शान भी देखने काबिल है –

ये दर्दे दिल भी न था सोजिशे जिगर भी न थी
इन आफतों की तो उल्फत में कुछ खबर भी न थी
जमानासाजी है अब यह कि मुंतजिर था मैं
हमारे आने की तुमको तो कुछ खबर भी न थी
लिपट गये वो गले से मेरे तो हैरत क्या
वह संगदिल भी न थे आह बेअसर भी न थी
शहीदे जल्वये मस्ताना हो गया शबे वस्ल
खुशी नसीब में आशिक के रात भर भी न थी

यहाँ तक जी कुछ चुना गया वह गजल के पुराने रंग को लिए हुए हैं। अकबर ने हुस्नो-इश्क, माशूक की शोखी और जिद सब चीजों पर खूब-खूब लिखा है मगर हम उस प्रसंग में लेख के लंबे हो जाने के डर से अब इतना उद्धरण देना काफी समझते हैं और अब आपकी शायरी की उस विशेषता की ओर ध्यान देते है जिसने आपको आज के शायरों का सरदार बना दिया है और जिसने आपकी शायरी को एक निराली और बहुत प्यारी शान दे दी है। हमारा मतलब आपकी हँसी-दिल्लगी के रंग की शायरी से है जो आपकी तमाम रचनाओं में पाई जाती है और जिसने आपकी नसीहतें बहुत सुहानी

और पुरअसर और आपकी लताड दिल में बहुत घर करने वाली और कामयाब होती है। संयोग कहिए या भगवान की इच्छा कहिए आपका जन्म दंश के बौद्धिक उत्थान की दृष्टि से भारतीय इत्तिहास के एक नाजुक जमाने में हुआ है जिसमें दो शानदार ताकतवर तहजीबों की कशमकश हो रही है। एक तरफ पश्चिमी सभ्यता का सिक्का फिर रहा है दूसरी तरफ पूर्वी सभ्यता दिलों पर आधिपत्य जमाए हुए है। विचारों और सामाजिक रहन सहन, गरज कि जिंदगी के हर पहलू में उलट-पुलट जमाना है। अभी तक किसी हालत पर ठहराव की सूरत पैदा नहीं हो रही हैं और इसलिए तरह-तरह की बुराइयाँ दिखाई दे रही हैं और देशवासियों के विचारों और बातों, ज्ञान और आचार, धर्म और सामाजिकता, भावनाओं और संवेदनाओं में अजब विरोध और जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तन और तरह-तरह की एक-दूसरे की विरोधी चीजें दिखाई दे रही हैं। ऐसी हालत में एक प्यार से नसीहत करने वाला आदमी दिल्लगी और मजाक से जो काम ले सकता है वह नीति और उपदेश के वाक्यों से संभव नहीं है और यही जनाब अकबर की हँसी-दिल्लगी का असल कारण है। इस रंग में उनकी शायरी ने जो कमाल हासिल किया है वह उर्दू में आज तक किसी को नसीब ही नहीं हुआ। एक लफ्ज, एक फिकरे में आप वह बात पैदा कर देते है` जो दूसरों से पन्ने के पन्ने रंग

डालने पर भी मुमकिन नहीं। कुछ शेर तो बिल्कुल केसर की क्यारियाँ हैं। पोलीटिकल वाकयात का भी आपने मजाक उड़ाया है –

कर्जन ओ किचनर की हालत पर जो कल
वह सनम तशरीह का तालिब हुआ
कह दिया मैंने कि है यह साफ बात
देख लो तुम जन पे नर ग़ालिब हुआ

वक्त को मुनासिबत

शेख साहब यह तो अपने अपने मौके की है बात
आप किब्ला बन गए मैं एस्क्वायर हो गया

इस जमाने के नौजवानों के हाल पर ये शेर भी खूब कहा है--

परी के जुल्फ में उलझा न रीशे वाइज में
दिले गरीब हुआ लुकमा इम्तहानों का
वह हाफिजा जो मुनासिब था एशिया के लिए
खजाना बन गया योरप की दास्तानों का
आसाइशे उम्र के लिए काफी हे
बीबी राजी हों और कलक्टर साहब

पर्दा और हिन्दुस्तानी

परदे में जरूर है तवालत बेहद
इंसाफ-पसंद को नहीं चाहिए हट
तशबीह बुरी नहीं अगर मैं यह कहूँ
बेगम साहब पेचवां लेडी सिगरेट
हर रंग की बातों का मेरे दिल में है झुरमुट
अजमेर में कुचला हूँ अलीगढ़ में हूँ बिस्कुट

मसलन् जब लार्ड कर्जन ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी में आम एशियाई कौमों और खासकर हिन्दुस्तानियों पर झूठ बोलने का अभियोग लगाया तो आपने 'जमाना' में क्या खूब लिखा था कि –

बेढब ये झूठ सच की छिड़ी हिन्द में बहस
झूठे हैं हम तो आप हैं झूठों के बादशाह
पाबन्द किसी मशरब ओ मिल्लत का नहीं हूँ
घोडा मेरी आजादी का अब आता है बगटुट

बी शेखानी भी हैं बहुत जीहोश
कहती हैं शेख से बजोशो खरोश
ख्वाह लूँगी हो ख्वाह हो तहमत

दर अमलकोश हरचे ख्वाही पोश

शमा से तशबीह पा सकते हैं यह ऐयाश अमीर
रात भर पिघला करें दिन भर रहें बालाए ताक
मेरे मन्सूबे तरक्की के हुए सब पायेमाल
बीज मगरिब ने जो बोया वह उगा और फल गया
बूट डासन ने बनाया मैंने एक मजमूँ लिखा
मुल्क में मजमूँ न फैला और जूता चल गया

कोठी में जम है न डिपाजिट है बैंक्स में
कुल्लाश कर दिया मुझे दो चार थैंक्स में
पाइनियर के सफे अव्वल में जिसका नाम हो
मैं वली समझूँ जो उसको आकबत की फिक्र हो

जाले दुनिया से बेखबर हैं आप
गो तकद्दुस मआब बेशक हैं
शेख जी पर यह कौल सादिक है
चाहे जमजम के आप मेंढक हैं

माशा अल्लाह वह डिनर खाते हैं
बंगाली भाई उनका सर खाते हैं
बस हम हैं ख़ुदा के नेक बंदे अकबर
उनकी गाते हैं अपने घर खाते हैं

मुवक्किल छुटे उनके पंजे से सब
तो बस कौमे मरहूम के सर हुए
पपीहे पुकारा किये पी कहाँ
मगर वह पिलीडर से लीडर हुए

शू मेकरी शुरू जो की एक अजीज ने
जो सिलसिला मिलाते थे बहराम गोर से
पूछा कि भाई तुम तो थे तलवार के धनी
मूरिस तुम्हारे आये थे गजनी व गोर से
कहने लगे हैं इसमें भी एक बार नोक की
रोटी अब हम कमाते हैं जूती के जोर से

अपने भाई के मुकाबिल किब्र से तन जाइए
गैर का जब सामना हो बस कुली बन जाइए

चंदे की मजलिस में पढिए रो के कुरआने मजीद
मतहबी महफिल में लेकिन मिस्ले दुशमन जाइए

आपकी अंजुमन की है क्या बात
आह छुपती है वाह छपती है
अपनी गरह से कुछ न मुझे आप दीजिए
अखबार में तो नाम मेरा छाप दीजिए

मुहताज और वकील ओ मुख्तार हैं आप
सारे अमलां के नाजबरदार हैं आप
अवारा ओ मुंतशर हैं मानिन्दे गुबार
मालूम हुआ मुझे जमीन्दार हैं आप

पाठक देखें कि अकबर ने हँसी-मजाक में भी कैसी खूबियाँ पैदा की हैं और सचमुच आधुनिक सभ्यता और समाज-व्यवस्था का खाका खींच दिया है। इस रंग में सैकडों शेर लिखे हैं। हँसी-दिल्लगी के इस नये रंग में आपको बड़ी मेहनत करनी पड़ी होगी इसलिए कि यह हँसी-दिल्लगी का रंग बिल्कुल नया है।

ऊपर के उद्धरणों से पाठकों को मालूम हो गया होगा कि हजरत अकबर राजनीति की बारीकियों में भी कैसी खूबी के साथ मजाक के ढंग में अपनी बात कहते हैं। आपके विचार बिल्कुल स्वतंत्र हैं। राष्ट्रीय मामलों में अनुचित जोश को बुरा समझते हैं। इसके साथ हो साथ खुशामद और चापलूसी की पॉलिसी भी पंसद नहीं करते। कहते हैं –

मेरे नजदीक यह पंजाब का बलवा भी बुरा
साथ ही इसके अलीगढ़ का ये हलवा भी बुरा
आप इजहारे वफा कीजिए तमकीन के साथ
लेट जाना भी बुरा नाज का जलवा भी बुरा
न निरे ऊँच हो न हो बुलडाग
न तो मिट्टी ही हो न हो तुम आग
चाल है एतदाल की अच्छी
साजे हिकमत का जोडा है यह राग

मगर नरम रास्ते पर चलने का मतलब यह नहीं कि आज की जमाने की असलियत को सही तौर पर महसूस न किया जाए या उससे आँख बन्द कर ली जाए। आपने क्या खूब कहा है –

यह बात गलत दारुस्सलाम है हिन्द

यह झूठ कि मुल्के लछमन ओ राम है हिन्द
हम सब हैं मुतीअ व खैरख्वाहे इंगलिश
योरप के लिए बस एक गोदाम है हिन्द
दिल उस बुते फिरंग से मिलने की शकल क्या
मेरी जबान और है उसकी जबान और
बंगाली हाथ में कलम ले तो क्या
मुस्लिम जो मिसाले बज्मे जम ले तो क्या
हिन्दी की नजात है निहायत मुश्किल
सौ मर्तबा मरके वो जन्म ले तो क्या
या स्टेशन के बदले दूध चा और खांड ले
या एजीटेशन के बदले तू चला जा मांडले

बहसे मुल्की में तो पडना है तेरी दीवानगी
पॉलिसी उनकी रहे कायम हमारी दिल्लगी

दिलचस्प हवायें सूए गुलशन पहुँचीं
जुल्फें शिमले से ता-ब-दामन पहुँचीं
दुर्गाबाई से राजा की जब रूठे

सदके होने को बी नसीबन पहुँचीं

आप हिन्दू-मुसलिम एकता की सख्त जरूरत को महसूस करते हैं और उस पर बडे मजेदार और असर करने वाले ढंग से जगह-जगह जोर देते हैं और अफसोस करते हैं कि –

वह लुत्फ अब हिन्दू व मुसलमाँ में कहाँ
अगियार उन पर गुजरते हैं खंदाजना
झगडा कभी गाय का जबाँ की कभी बहस
है सख्त मुजिर यह नुसखये गाओजबाँ

फिर कहते हैं कि--

हिन्दू व मुस्लिम एक हैं दोनों
यानी ये दोनों एशियाई हैं
हम-वतन हम-जवाँ व हम-किस्मत
क्यों न कह दूँ कि भाई भाई हैं

समय को आवश्यकता को समझने वाले एक विचारक की हैसियत से आप आपसी झगड़ों और दोनों की कमजोरियों को समझते हैं। आप जानते हैं कि आए दिन की आपस को होड़ और कनबतियाँ दिलों को एक-दूसरे से फेर रही हैं। दोनो –

चुगलियाँ एक दूसरे की वक्त पर जड़ते भी हैं
नागहाँ गुस्सा जो आ जाता है लड़ पड़ते भी हैं
हिन्दू व मुस्लिम हैं फिर भी एक और कहते हैं सच
है नजर आपस की हम मिलते भी हैं लड़ते भी हैं
कहता हूँ मैं हिन्दू व मुसलमाँ से यही
अपनी अपनी रविश पे तुम नेक रहो
लाठी है हवाए दहर पानी बन जाओ
मौजों की तरह लड़ो मगर एक रहो

आप एक जगह मजाक के ढंग में यहाँ तक कहते हैं कि एक को अपनी हजल छोड़ कर दूसरे के जटल तक में शरीक हो जाना चाहिए। इसमें यह जरूर होगा कि 'न लाट साहब खिताब देंगे न राजा जी से मिलेगा हाथी' लेकिन 'यह तो कोई न कह सकेगा तुम्हारे दुश्मन कहाँ, बगल में।'

आप समझते हैं और किस खूबी से इस बात को कहते हैं कि कौम अपनी ही बाजुओं की ताकत से उभर सकती है क्योंकि --

दुनिया में जरुरत जोर की है और आप में मुतलक जोर नहीं
यह सूरते हाल रही कायम तो अम्न की जा जुज गोर नहीं
ऐ भाइयो बाबू साहब से खिंचने का नहीं है कोई महल

गो नस्ले अलाउद्दीन में हो मसकन तो तुम्हारा गोर नहीं

एक दूसरे राजनीतिक मसले को कैसे कविता के रूपक में बाँधा है –

ऊंट ने गावों की जिद पर शेर को साझी किया
फिर तो मेंढक से भी बदतर सबने पाया ऊंट को
जिसपे रक्खा चाहते हो बाकी अपनी दस्तरस
मुँह में हाथी के सभी ऐ भाई वह गन्ना न दो

देश की उन्नति के राब अच्छे आंदोलनों के साथ आपको पूरी सहानुभूति है। आपकी शायरी में ऐसे शेर अक्सर मिलते हैं जो देश का काम करने वालों के लिए मशाल बन सकते हैं। मजाक उड़ाने के काबिल बातों का खाका उड़ाने के साथ-साथ अच्छे आंदोलनों के समर्थन में आप दिल भी किस तरह बढ़ाते हैं। स्वदेशी के आंदोलन पर क्या खूब कहा है –

दाखिल मेरी दानिस्त में यह काम हैं पुन में
पहुँचायेगा कूते शजरे मुल्क के बुन में
तहरीके स्वदेशी पे मुझे वज्द है अकबर
क्या खूब ये नगमा है छिडा देस के धुन में

आधुनिक सभ्यता के मजाक के काबिल पहलुओं पर हम हजरत अकबर के खयाल जाहिर कर चुके हैं। इस वक्त चंदों की भरमार और अमली और

असली काम की कमी इस नई सभ्यता की एक निराली शान हैं जिस पर हँसी आती है। रुपये का जोर, रुपये का वक्त-बेवक्त जिक्र, इसके वसूल करने की भांति-भांति की युक्तियाँ – गरज इन सब बातों पर आपने खूब ले-दे की है। आप अलीगढ़ कालेज के संस्थापक के मित्रों में हैं मगर किसी के पिछलग्गू नहीं बल्कि बिल्कुल स्वतंत्र विचार के आदमी हैं और जिसमें जो कमजोरी देखते हैं इस तरह कह देते हैं कि किसी को बुरा भी न लगे और सबके कान भी खुल जाएँ।

अलीगढ़ कालेज के नामी संस्थापक की आपने अक्सर मौकों पर बडे जोर से तारीफ की है मगर पकड की बातों पर मजाक भी खूब उड़ाया हें। यहाँ पर हम सिर्फ कुछ बातों पर आपके हँसा देने वाले रिमार्क और फब्तियाँ पाठकों के मनोरंजन के लिए पेश करते हैं –

कीजिए साबित खुश अखलाकी से अपनी खूबियाँ
यह नमूदे जुब्बा ओ दस्तार रहने दीजिए
जालिमाना मशविरों में मैं नहीं हूँगा शरीक
गम ही को महरमे असरार रहने दीजिए
खुल गया मुझ पर बहुत हैं आप मेरे खैरख्वाह
खैर चन्दा लीजिए तूमार रहने दीजिए

असीरे दामे जुल्फे पालिसी मुद्दत से बंदा है
फसाहत नजे लेक्चर है रियासत नजे चंदा है
जजिये को सिधारे हुए मुद्दत हुई अकबर
अलबत्ता अलीगढ की लगी एक यह पख है
अब कहाँ तक बुतकदे में सफे ईमाँ कोजिए
ता कुजा इश्के बुताने सुस्त पैमाँ कीजिए
है यही बेहतर अलीगढ जाके सैयद से कहूँ
मुझसे चंदा लीजिए मुझको मुसलमाँ कीजिए
जेब खाली फिरा किया बंदा
ले गये अहबाब इस कदर चंदा
ईमान बेचने पे हैं अब सब तुले हुए
लेकिन खरीद हो जो अलीगढ़ के भाव से
शेख साहब चल बसे कालिज के लोग उभरे हैं अब
ऊंट रुखसत हो गये पोलो के घोड़े रह गये

गरज कहाँ तक चुनिए, उस युग-कवि ने जिंदगी के हर पहलू पर बड़ी गहरी नजर डाली है और मजाक-मजाक में सब कुछ दिल में बैठा दिया है। निजी बातों को भी कहीं-कहीं झलक मिल जातीं है। हजरत अकबर ने अपने कुल्लियात से जीवन चरित का काम नहीं लिया है तो भी कहीं-कहीं पर दिल

के भावों के साथ एक-आध निजी विचार भी शमिल हो गए हैं। कई साल से आपको आँखों की सख्त शिकायत है –

कौंसिल से हर तरह का कानून आ रहा है
मतबे से हर तरह का मजमून आ रहा है
लेकिन पढ़ूँ मैं क्योंकर आँखों की है यह हालत
अश्क आ रहे थे पहले अब खून आ रहा है
बिसारत ने कमी की इनहिताते उम्र में अकबर
बसीरत है तो आँखें मुझसे अब आँखें चुराती हैं

एक लंबे अर्से तक आपके साहबजादे लंदन में और आप यहाँ, निश्चित अवधि के बाद उनकी जल्द वापसी के लिए बेचैन थे। अक्सर जगहों पर यह बेचैनी जाहिर गई है –

हिन्द में मैं हूँ मेरा नूरे-नजर लंदन में है
सीना पुरगम है यहाँ लख्ते जिगर लंदन में है
दफ्तरे तदबीर तो खोला गया है हिन्द में
फैसला किस्मत है ऐ अकबर मगर लंदन में है

अब हम इस लेख को समाप्त करते हैं। आपकी शायरी बहुत-सी ख़ूबियों का खजाना है और शायरी की उस कसौटी पर, जो आपने खुद अपने यहाँ कायम की है, पूरी उतरती है।

[‘जमाना’, जनवरी, 1909]

शरर और सरशार

हकीम बरहम साहब गोरखपुरी ने अगस्त-सितंबर के 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में अद्भुत योग्यता और बारीकी से शरर और सरशार की तुलना की है जिसमें आपने हजरत शरर को ऐसा आसमान पर चढ़ाया है कि बेचारे सरशार का नाम तक उनके मुकाबले में लिया जाना ठीक नहीं समझते। उनके लेख का सारांश यह है कि सरशार का उर्दू लिटरेचर की गर्दन पर कोई एहसान नहीं है। अच्छा होता कि ऐसा लेख लिखने के पहले हकीम साहब ने यह भी देख लिया होता कि उनसे ज्यादा योग्य आलोचकों ने जिनमें शेख अब्दुल कादिर बी. ए. भी हैं, उर्दू जबान में सरशार को क्या जगह दी है। यह ध्यान रखना जरूरी है कि उर्दू शायरों या उनकी शायरी पर हर सुरुचि-सम्पन्न उर्दूदाँ राय दे सकता है मगर उर्दू नाविल पर कुछ लिखने की जवाबदेही वही आदमी ले-सकता है जो कम से कम अंग्रेजी भाषा के मशहूर उपन्यासकारों की कृतियों से परिचित हो। इस लिहाज से शेख साहब की आलोचना हकीम साहब के मुकाबले में कहीं ज्यादा वजन रखती है।

मिस्टर चकबस्त का लेख आलोचनात्मक था। उसमें सरशार के गुणों के साथ-साथ उनके दोषों पर प्रकाश डाला गया था। मगर हकीम साहब ने सरशार की त्रुटियाँ तो सबकी सब दिखा दीं, चाहे काल्पनिक ही सही, मगर शरर को बिल्कुल निर्दोष समझा हालांकि सब लोग जानते हैं कि आज तक कोई आदमी ऐसा नहीं हुआ जिसमें ख़ूबियों के साथ-साथ बुराइयाँ न पाई जाएँ।

हम हकीम साहब के कहने से इस बात को मान लेते हैं कि हजरत शरर अरबी के फाजिल, फारसी के बहुत बड़े आलिम और अपने वक्त के बहुत बड़े विद्वान हैं। बहुत-सी योरोपीय भाषाएँ भी अच्छी तरह जानते हैं। डिक्शनरी की मदद से तर्जुमे कर सकते हैं और उर्दू गद्य में तो एक नए रंग के प्रवर्तक और आधुनिक साहित्य के जन्मदाता हैं। इसके विपरीत बेचारा सरशार फारसी में कच्चा और अरबी में नादान बच्चा है। इतिहास-भूगोल से उसको जरा भी लगाव नहीं, योरप की भाषाओं का क्या जिक्र उर्दू में भी काफी योग्यता नहीं रखता। मगर हमको इस वक्त इन बड़े लोगों की निजी योग्यताओं से बहस नहीं। हम सिर्फ यह देखना चाहते हैं कि कहानी लिखने के मैदान में किस का कलम उडानें भरता है और इस कला में कौन अधिक कुशल है।

स्पष्ट है कि उपन्यास लिखना और बात है, आलिम-फाजिल होना और बात। बिल्कुल उसी तरह जैसे शायरी का हाल है। गोल्डस्मिथ, शेली, बायरन जैसे बड़े-बड़े कवि अपने कालेज के भगाए हुए लोगों में से थे। उसी तरह थैकरे और डिकेन्स पांडित्य की दृष्टि से अपने समय के दूसरे विद्वानों से कहीं घटकर थे मगर कहानी के आसमान पर यही दोनों नाम तारे बनकर चमके।

'फसाना' और 'नाविल' हमको उस अनोखे भेद की याद दिलाते हैं जो हकीम साहब ने उनके बीच रक्खा है। हकीम साहब को मालूम होगा कि 'नाविल' अंग्रेजी शब्द है और अगर उसका अनुवाद हो सकता है तो वह 'फसाना' है। शाब्दिक रूप से दोनों में कुछ अंतर नहीं है किंतु आशय की दृष्टि से दोनों का अंतर काफी स्पष्ट है। नाविल उस किस्से को कहते हैं जो उस जमाने को, जिसका कि वह जिक्र कर रहा है, साफ-साफ तस्वीर उतारे और उसके रीति-रिवाज़, अदब-कायदे, रहन-सहन के ढंग वगैरह पर रोशनी डाले और अलौकिक घटनाओं को स्थान न दे या अगर दे तो उनका चित्रण भी इसी खूबी से करे कि जन-साधारण उनको यथार्थ समझने लगें। इसी का नाम है नाविल या नए ढंग का किस्सा। 'फसानये अज्ञायब' या 'गुलाबकावली' या 'किस्सए मुमताज' या 'तलिस्मे होशरुबा' या 'बोस्ताने खयाल' सब पुराने ढंग के किस्से हैं जिनमें नए किस्से का

खूबियों की गंध तक नहीं। हाँ, मीर अम्मन देहलवी की लोकप्रिय पुस्तक 'बागोबहार' या 'दास्ताने अलिफलैला' कुछ हद तक ऊपर लिखी गई खूबियाँ रखती हैं यानी अपने जमाने की तहजीब पर एक धुँधली रोशनी डालती हैं।

इस कसौटी को अपने सामने रखकर अगर सरशार के किस्सों को देखिए तो ऐसी कौन-सी खूबी है जो इनमें भरपूर नहीं। सच तो यह है कि उनकी सब किताबें अपने जमाने की सच्ची तस्वीरें हैं। अगर आज से सौ बरस बाद कोई 'फसाना-ए-आजाद' को पढ़े तो उसको आज से पच्चीस बरस पहले की तहजीब और सोचने-विचारने के ढंग और साधारण लोगों की साहित्य-रुचि की झलकियाँ साफ नजर आएँगी जो इतिहास के अध्ययन से, चाहे वह कैसा ही विस्तृत और गंभीर क्यों न हो, हरगिज नजर नहीं आ सकतीं। सांस्कृतिक जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं जिस पर सरशार की जबान ने अपने निराले ढंग से फूल न बरसाए हों। यहाँ तक कि मदारियों के खेल, भांडों की नकलें, बाजारू शराब पिलानेवालियों के नखरे और ऐसी ही बेशुमार बातों की छोटी-छोटी बारीकियों में भी अद्भुत चित्रकार का कौशल दिखाया है। कहने का मतलब यह है कि `जमाने की तस्वीर` में जितनी बातें शामिल हैं उन सब पर सरशार के जादू-भरे कलम ने अपना चमत्कार दिखाया है।

इसके विपरीत हजरत शरर के जो उपन्यास मशहूर हैं उनमें कोई तो सलीबी लडाइयों (क्रूसेड) के जमाने का है, कोई महमूद गजनवी के हमले के जमाने का, कोई रोम और रूस की लडाई के वक्त का, कोई उस जमाने का जब मुसलमानों के कदम स्पेन से उखड़ चुके थे। मतलब यह कि सभी पाठक को दस-पाँच सदियाँ पीछे ले जाते हैं और चूँकि हजरत शरर को इन बातों का व्यक्तिगत अनुभव नहीं है इसलिए वह उस समय की घटनाओं का ऐसा चित्र हरगिज नहीं खींच सकते जो असल से मेल खाए। उनकी जानकारियों का सबसे उपजाऊ साधन इतिहास है, और ऐतिहासिक ज्ञान चाहे कितना ही व्यापक क्यों न हो, निजी और प्रत्यक्ष निरीक्षण की बराबरी नहीं कर सकता। ऐलफ्रेड लायल, जो एक जाना-माना अंग्रेजी आलोचक है, लिखता है कि आज तक किसी उपन्यासकार को ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में सफलता नहीं मिली और न उसका मिलना संभव है; एक ऐसे युग के विचारों और घटनाओं की फोटो उतारना जिसको बीते हुए सदियाँ गुजर गईं, सरासर कल्पना की चीज है। हम यही अंदाजा कर सकते हैं कि ऐसी हालतों में ऐसा हुआ होगा, विश्वास के साथ हरगिज नहीं कह सकते कि ऐसा हुआ। जार्ज इलियट ने अपनी सारी उम्र में केवल एक ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जिसमें इटली की एक ऐतिहासिक घटना बयान की और कई महीने तक उन्होंने वहाँ की सामाजिक प्रणाली का

अध्ययन किया और जितने प्रामाणिक इतिहास वहाँ के पुस्तकालयों में प्राप्त हो सके उनको ध्यान से पढा तब भी 'रमोला' के बारे में लोगों (अंग्रेजों) का खयाल है कि वह घटनाओं के अनुरूप नहीं। सर वाल्टर स्काट, जिसका शरर साहब ने अनुकरण किया है, ऐतिहासिक उपन्यासकारों का सरताज समझा जाता है मगर इसके बावजूद कि उसकी कल्पना-शक्ति बहुत प्रखर थी और वर्णन-शैली अत्यंत सशक्त तो भी उसके ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी आलोचकों का आँखों में नहीं जंचे। उसके रिचर्ड या सुल्तान सलाहउद्दीन बिल्कुल नकली मालूम होते हैं। जब स्काट और जार्ज इलियट जैसे कलम के जादूगर भी ऐतिहासिक उपन्यास सफलतापूर्वक नहीं निखर सकते तो हजरत शरर अपूर्ण इतिहासों की सहायता से जिस हद तक ऐसे उपन्यासों के लिखने में सफल हो सकते हैं उसका अनुमान किया जा सकता है। यह एक पक्की बात है कि कल्पना कभी निरीक्षण की बराबरी नहीं कर सकती। सरशार ने पहले ही से इन कठिनाइयों को समझ लिया और जिस प्रलोभन में पड़कर औरों ने अपनी मेहनत अकारथ की उससे बचा रहा। हजरत शरर स्काट के अनुकरण के जोश में बिल्कुल भूल गए और वही गलती कर बैठे।

मगर जरा शरर के उन नाविलों को देखिए जिनमें इन्होंने मौजूदा सोसाइटी की तस्वीरें खींचने की कोशिश की है तो खयाल होता है कि अच्छा ही

हुआ उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास ही को अपनी कीर्ति का साधन बनाया क्योंकि भगवान् ने उनको तस्वीर खींचने की वे योग्यताएँ नहीं दीं जिनके बिना प्रत्यक्ष घटनाओं की सच्ची तस्वीर खींचना असंभव है और ऐतिहासिक उपन्यासों ने उनकी इस कमजोरी पर पर्दा डाल दिया।

आश्चर्य होता है कि हकीम बरहम जैसा आदमी यह लिखने की क्योंकर हिम्मत कर सका कि सरशार के 'फसाना-ए-आजाद' या दूसरे उपन्यासों में कोई कथानक या कोई निष्कर्ष नहीं है और न उनमें कोई समस्या है और न कोर्र उद्देश्य ही उनमें रक्खा गया है। जिनको भगवान ने न्यायपूर्ण दृष्टि दी है वे देख सकते हैं कि सरशार का कोई उपन्यास निष्कर्ष या उद्देश्य से खाली नहीं है। 'फसाना-ए-आजाद' को ही ले लीजिए। क्या उसमें कोई कथानक नहीं? आजाद का गहरी छान-बीन करने वाली निगाहें लेकर गलियों-बाजारों की खाक छानना, नवाब के दरबार में नौकरी करना, बटेर की तलाश में जाना, और बी भटियारी की तिरछी चितवनों का शिकार बनना, फिर हुस्नआरा के इश्क में गिरफ्तार होना, बड़ी हिम्मत से काम लेकर रोम को जाना, वहाँ बहादुरी के जौहर दिखाना, पोलैंड की शहज़ादी के जाल में फंसना, फिर विजयी होकर हिन्दुस्तान को लौटना, हुस्नआरा से ब्याह करना – यह कथानक नहीं है तो क्या है? एतराज करने वाला कहेगा कि कथानक है तो जरूर लेकिन बिल्कुल मामूली। हाँ, बहुत ठीक। प्लाट

बिल्कुल मामूली है और वह भी सरासर ऊपरी। भीतरी प्लाट से जरा भी काम नहीं लिया गया। मगर ध्यान रहे कि उपन्यास-कला का शिखर यही है कि साधारण और सीधी-सादी लेखन-शैली में जादू का रंग पैदा कर दिया जाय। जार्ज इलियट का कायदा था कि वह अपने उपन्यासों के कथानक कभी बयान नहीं किया करती थी। इस मौके पर यह अर्ज करना और भी मुनासिब मालूम होता है कि ऐतिहासिक उपन्यास के लिए इन दो तरह के कथानकों की अत्यंत आवश्यकता है, उनके बिना किस्सा चल ही नहीं सकता। मगर ऐसे उपन्यासों के लिए जिनमें समाज के चित्र दिखाए जाएँ, बहुधा कथानक कथा के पात्रों को इस घर से उस घर और इस शहर से उस शहर तक ले जाने पर ही खत्म हो जाता है, ताकि लेखक को समाज के हर एक पहलू पर कलम चलाने का मौका मिले। चार्ल्स डिकेन्स की मशहूर किताब 'पिकविक' पढिए और उन पर एतराज कीजिए। ऐसे उपन्यासों के कथानक आमतौर पर ऊपरी हुआ करते हैं। उस पर सरशार ने यह कमाल किया है कि आजाद के किस्से के साथ-साथ शहजादे हुमायूंफर और बी अलारक्खी का किस्सा भी लिखा है ताकि पढ़ने वाले का दिल एक ही किस्सा पढ़ते-पढ़ते घबरा न जाय। इसके अलावा बीच-बीच में समाज की बुराइयाँ बड़े मोहक ढंग से दिखाता गया है जिनका सिलसिला किस्से से नहीं मिलता और न लिखने वाले की यह नीयत थी।

पाठक जानते हैं कि 'फसाना-ए-आजाद' अखबार की सूरत में प्रकाशित हुआ करता था और उस सुर्खी से कभी-कभी ऐसे लेख भी निकला करते थे जिनका जोड़ किस्से से नहीं मिलता था और गो इस किताब के कई संस्करण छप चुके हैं मगर मालिकों ने कभी इतनी तकलीफ गवारा न की कि उन लेखों को 'फसाना-ए-आजाद' से अलग कर दें ताकि किस्सा सिलसिलेवार हो जाय और उसके प्रवाह में कोई बाधा न पड़े। 'फसाना-ए-आजाद' के अलावा सरशार के तीन उपन्यास और हैं जो लोकप्रिय हो चुके हैं यानी 'कामिनी', 'सैरे कोहसार' और 'जामे सरशार'। इन तीनों किताबों में कथानक का तो वही रंग-ढंग है जो 'फसाना-ए- आजाद' का मगर कुछ ज्यादा सुलझा हुआ। दैनन्दिन जीवन की घटनाएँ उसी हास्यपूर्ण शैली में लिखी गई हैं कि पाठक पन्ने के पन्ने पढ़ता जाता है मगर उसका जी नहीं भरता। कोई दूसरा आदमी जिसने वही दिमाग और वही दिल न ,पाया हो ऐसा रूखी- सूखी साधारण घटनाओं में ऐसी दिलचस्पी और रंगीनी नहीं पैदा कर सकता। जिस तरह कविता में सहज बात कहना हर आदमी का काम नहीं उसी तरह किस्सा लिखने में भी रूखे-फीके विषय में घुलावट पैदा करना कुछ ही लोगों के बस की चीज है।

हकीम बरहम साहब ने फरमाया है कि सरशार के उपन्यासों में न कोई उद्देश्य है न विचार। जितना ही इस पर गौर करते हैं उतनी ही उलझन

मालूम होती है कि इस बात पर हँसें या गंभीरता से उसका जवाब दें। सरशार ने उन सामाजिक रोगों के उपचार का बीड़ा उठाया था जिनके पंजे में फँसकर समाज की जान निकली जा रही थी और दूसरे अनुभवी वैद्यों और हकीमों की तरह उसने भी कड़वी बदमजा दवायें शक्कर और मिश्री में घोलकर पिलाई। जिन लोगों के पास आँख है वह जानते हैं कि बीमारियों की रोक-थाम का कोई साधन ऐसा उपयोगी और असरदार नहीं है जितना कि दिल्लगी का कोड़ा और सरशार ने बड़ी बेरहमी से ऐसे कोड़े लगाए हैं। मसलन रेवेन्यू एजेंट और सलारबख्श जो मजाक का निशाना बनाए गए हैं, उसका उद्देश्य सिर्फ इतना है कि वकीलों की बहुतायत और उनकी महत्त्वहीनता का खाका उड़ाया जाय और इस घटना से यह भी प्रकट होता है कि दुष्ट लोग भोली-भाली औरतों को कैसी-कैसी ऊपरी दिखावे की चीजों से अपने धोखे के जाल में फँसाया करते हैं। डिकेन्स ने भी सर्जेन्ट बजफज के परदे में वकीलों की खूब खबर ली है। मगर सरशार की बेधडक ठिठोली डिकेन्स के गंभीर व्यंग्य से अधिक प्रभावशाली हैं।

इसी तरह बी अलारक्खी का अपने खूसट शौहर के नाम खत लिखवाना उन कामुक बुड्ढो पर हमला है जो कब्र में पाँव लटकाए बैठे हैं मगर कमसिन औरतों से शादी करने का चाव दिल में रखते हैं। इसी तरह नवाब के दरबार, घर-बार का जो खाका खींचा है उससे वसीका खाने वालों का

बुद्धूपन और उनके मुसाहिबों की ऐयारी दिखाना इष्ट है। और 'जामे सरशार' तो शुरू से आखिर तक शराबखोरी के बुरे नतीजों से लोगों को सावधान करने के लिए लिखा गया है। कामिनी लाजवन्ती, वफादार, पति-परायणा स्त्री का सुंदरतम उदाहरण है और हुस्नआरा का कौमी जोश, जिसने साधारण ऐन्द्रिक इच्छाओं का दबा लिया है, मिस नाइटिंगेल के लिए भी गौरव का कारण हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह कि सरशार के जितने उपन्यास हैं वे मनुष्य के विचारों, उनके अच्छे और बुरे आचरणों और उनको सुंदर और नीच भावनाओं के सच्चे चित्र हैं जिन पर हँसी-ठिठोली का शोख रंग बेहद ख़ुशनुमा और लुभावना होता है। ऐसी कोई घटना नहीं जिसको सरशार ने अपनी किताबों में अनावश्यक स्थान दिया हो। यहाँ पर यह कह देना जरूरी मालूम होता है कि बहुधा किसी घटना का वर्णन करना स्वयं एक निष्कर्ष होता है।

मगर ग़ालिबन हकीम साहब ऐसे निष्कर्षों या नतीजों को नतीजा न समझेंगे। उनके नजदीक उस नाविल के शीशे में निष्कर्ष, उद्देश्य और विचार भरे होते हैं जिस पर इस तरह का कोई लेबुल लगा होता है –

'इस उपन्यास में पर्दे के बुरे नतीजे दिखाए गए हैं।'

या

'इस उपन्यास में यह सिद्ध किया गया है कि मर्जी के खिलाफ शादियों का हमेशा बुरा नतीजा होता है।'

या

'इस उपन्यास में सलीबी लड़ाइयों का जोशो-खरोश और आपस के मजहबी झगड़ों के भयानक नतीजे बड़ी खूबी से दिखाए गए हैं।' आदि-आदि।

हजरत शरर और उनके शिष्य स्वर्गीय आशिक हुसेन साहब लखनवी और मौलवी मुहम्मद अली साहब के सभी उपन्यासों के टाइटिल पेज पर इस तरह की कोई न कोई इबारत जरूर मिलती है, गोया उपन्यास न हुए कोई दर्शन की किताब हुई जिसमें किसी न किसी थ्योरी को स्थापित करना जरूरी है; इस तरह नतीजा निकालना चाहे ईसप के किस्सों के लिए उचित ठहराया जा सके मगर ऊँचे दर्जे के उपन्यासों के लिए हरगिज ठीक नहीं है। मजा तो जब है कि नतीजा ऊपर से नीचे तक भरा हो और ऐसे सरल, अनायास ढंग से कि पाठक के दिलों में खुब जाय। किसी किस्से के ऊपर उसका उद्देश्य लिखा हुआ देखकर हमको उसके पढ़ने की इच्छा बाकी नहीं रह जाती। अंग्रेजी में शायद ही कोई उपन्यास ऐसा होगा जिसमें ऐसे निकृष्ट ढंग से निष्कर्ष दिखाए गए हों, बल्कि आस्कर ब्राउनिंग ने तो

एलानिया कह दिया है कि, 'सबसे निकृष्ट उपन्यास वे हैं जिनमें कोई विशेष समस्या रक्खी जाय।' और उसने बहुत ठीक कहा है। मनुष्य की भावनाओं और स्थितियों व प्रकृति के दृश्यों और संसार के चमत्कारों की तस्वीर खींचना स्वयं एक निष्कर्ष या नतीजा है। विज्ञान या दर्शन की बारीकियों को हल करने के लिए उपन्यासकार बनाया ही नहीं गया है बल्कि सच तो यह है कि दार्शनिक कभी उपन्यास लिख ही नहीं सकता।

कथानक के बाद जब उन पात्रों को लीजिए जो उपन्यास के स्टेज पर ऐक्ट करते हैं तो जाहिर होता है कि ऊँचे दर्जे के उपन्यासों में खास-खास पात्रों की आदतें, तौर-तरीके और सोचने-विचारने के ढंग में एक न एक विशेषता पाई जाती है और वही विशेषताएँ भिन्न-भिन्न अवसरों पर और भिन्नभिन्न स्थितियों में प्रकट होती हैं। इसके विपरीत निम्न श्रेणी के उपन्यासों में या तो पात्र साधारण सीधे-सादे आदमी होते हैं या उनकी विशेषताएँ जाति, स्थान, पेशे या कुछ घिसी-पिटी बातों पर आधारित होती हैं और ऐसे ही उपन्यास उर्दू में अधिकांशतः दिखाई पड़ते हैं।

बंगाली जब आएगा अपने बोदेपन का सबूत देगा। मारवाडी हमेशा कंजूस-मक्खीचूस बनाया जाता है। लाला साहब बेचारे हमेशा अपनी घर की बनाई हुई फारसी बोलते सुनाई देते हैं। राजपूत हमेशा अक्खड और उग्र स्वभाव

का होता है। ननद-भौजाई में आठों पहर दांता-किलकिल हुआ करती है। मौलवी साहब हमेशा अपनी जुमेराती की फिक्र में परीशान रहते हैं।

मगर यह हरगिज न खयाल करना चाहिए कि बड़े उपन्यासकार इस तरह के पात्रों से काम नहीं लिया करते बल्कि सचमुच अच्छे उपन्यासों में दोनों तरह के पात्र मौजूद होते हैं। मसलन् डिकेन्स के 'पिकविक' को ले लीजिए। उसमें पिकविक, विन्कल, स्नाडग्रास, टपमैन, वार्ड और विलियर में जो विशेषताएँ हैं वह सरासर उनकी अपनी हैं। और परकर, बज़्रफज, डॉडसन और स्टिगिन्स आदि में जो भेद किया गया है वह किसी खास पेशे का मजाक उड़ाने के लिए। इसी तरह और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

चार्ल्स डिकेन्स की तरह हजरत सरशार ने भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्रों से सहायता ली। यह बिल्कुल ठीक है कि सब पात्र लखनवी हैं। मगर जब उसने सारे किस्से लखनऊ ही के लिखे तो पात्र क्या लन्दन से लाता? हाँ, यह देखना चाहिए कि उनमें लखनऊ के बेफिक्रों की ऐसी विशेषताएँ जो उन्हें दूसरों से अलग करती हैं, किस नफासत से दिखाई हैं। मिर्जा हुमायूंफर भी लखनवी हैं और आजाद भी लखनवी मगर दोनों के स्वभाव में बहुत स्पष्ट अंतर रक्खा गया है। अगर आजाद की जगह पर हुमायूंफर को रख दीजिए तो किस्सा बिल्कुल पलट जाएगा। नवाब साहब

भी लखनवी हैं मगर हुमायूंफ़र से बिल्कुल अलग-थलग। मिर्जा असकरी भी लखनवी हैं मगर हुमायूंफर या आजाद से उनको मिलाइए तो जरा भी मेल नहीं खाते। उसी तरह हुस्नआरा, जहानआरा, सिपहआरा, गेतीआरा, बहारुन्निसा सब लखनऊ को शरीफजादियाँ हैं मगर सबों के स्वभावत में सूक्ष्म और गंभीर विशेषताएँ पाई जाती हैं। बहारुन्निसा को भूलकर भी हुस्नआरा का अक्स नहीं समझ सकते और न सिपहआरा को हुस्नआरा से मिला सकते हैं। इसी को उच्चकोटि की उपन्यास-कला कहते हैं।

निम्नकोटि के पात्र भी बहुत से मौजूद हैं। मौलवी साहब, नए, जंटिलमैन, बी अल्लारक्खी और बी अब्बासी, हकीम साहब और रेवेन्यू एजेन्ट वगैरह-वगैरह हजारों लोग हैं जो किसी खास फिरके या पेशे का मजाक उड़ाने के लिए लाए गए हैं।

मगर इसके साथ ही यह भी खयाल रहे कि सरशार जब कभी अपने पात्रों को लखनऊ से बाहर, दूर-दूराज की जगहों पर ले गया है तो वहाँ उनको गैर-लखनवी बनाने का खूब ध्यान रक्खा है। मिस मोडा या मिस रोज या पोलैंड की शहजादी लखनऊ को शरीफजादियाँ नहीं कही जा सकतीं। अलीकूपाशा या कुस्तुनतुनिया के होटल का सौदागर लखनऊ के आवारा और बाजारी बेफिक्रे नहीं हैं।

हकीम साहब ने जो कमजोरियाँ सरशार में दिखाई थीं वह सब की सब शरर के पात्रों में पाई जाती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने पात्रों का चुनाव बड़ी खूबी से किया – किसी को रोम से बुलाया, किसी को अरब से, किसी को मिस्र से, किसी को फारस से, मगर न तो उनकी जातीय विशेषताओं को और न उनकी अपनी निजी विशेषताओं को सफलतापूर्वक दिखा सके। उनके जितने नायक हैं वह सब मनचले, स्वाभिमानी, सुंदर, लंबे-तडंगे और सुसंस्कृत हैं। लिहाजा अगर हसन की जगह मलिकुल अजीज चला आए तो वह भी अपना हिस्सा इसी खूबी से अदा करेगा। इसी तरह उनके स्त्री पात्रों में भी यही दोष मिलता है। अजरा, वर्बीना, एंजेलिना , फ्लोरिन्डा सब की सब हर हालत में बिल्कुल एक-सी हैं, उनमें अंतर है तो इतना ही कि वह अलग-अलग कौमों की बताई गई हैं। हम एक को दूसरे से अलग नहीं पहचान सकते। अगर अजरा का हिस्सा एंजेलिना को दे दिया जाय तो भी अस्ल किस्से पर कुछ असर न पड़ेगा। यह त्रुटि शरर के सब उपन्यासों में पाई जाती है और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं जिस उपन्यास में ऐसे साधारण पात्र पाए जाते हैं उसकी गिनती निम्नकोटि के उपन्यासों में होती है।

सरशार पर वह अभियोग लगाया गया है कि उसके सब पात्र लखनऊ ही के स्त्री-पुरुष हैं। फिर इसमें हर्ज की क्या है? एक शहर तो क्या एक मुहल्ले

और परिवार में अलग-अलग स्वभावों और तौर-तरीकों के लोग हो सकते हें और एक सचमुच कला का धनी उपन्यासकार उन्हीं की रोजमर्रा की जिंदगी में जादू का-सा असर पैदा कर सकता है। इसके अलावा एक खास जगह के दृश्यों और संस्कृति का विस्तृत चित्र दिखाना कहीं ज्यादा अच्छा है बजाए इसके कि सारी दुनिया के भौगोलिक नक्शे दिलाएँ जाएँ।

मगर इसका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि उपन्यास लिखने को सफलता यही नहीं है कि पात्रों में केवल विशेषताएँ पैदा कर दी जाएँ। यह तो कुछ ऐसा मुश्किल काम नहीं। सच्ची कारीगरी तो इसमें है कि पात्र। में जान डाल दी जाय, उनकी जबान से जो शब्द निकलें वह खुद ब खुद निकलें, निकाले न जाएं, जो काम वह करें खुद करें, उनके हाथ-पाँव मरोडकर जबर्दस्ती उनसे कोई काम न कराया जाय। इस कसौटी पर सरशार के पात्रों को कसिए तो वह आमतौर पर खरे निकलेंगे। उनमें वही चलत-फिरत है जो जीते-जागते आदमियों में हुआ करती है। उनमें वही छेड़छाड़, वही हँसी-मजाक, वही गुप-चुप इशारे, वही गुल-गपाडे होते हैं जो हम अपनी बेतकल्लुफी की मजलिसों में किया करते हैं। उनकी एक-एक बात से हमको हमदर्दी हो जाती है। वह हमको हँसाते हें, रुलाते हैं, चिढ़ाते हैं, सताते हैं, उनके कहकहे की आवाजें हमारे कान में आती हैं, हमारे दिल में गुदगुदी पैदा होती है और हम खुद ब खुद खिलखिला पड़ते हैं। उनके रोने

की दिल हिला देने वाली आवाजें हम सुनते हें और हमारी आँखों में बरबस आँसू भर आते हैं। कौन ऐसा गंभीर आदमी है जो बुआ जाफरान और ख्वाजा बदीया की लगावट-बाजियों पर हँस न पड़े। ऐसा कौन संगदिल होगा जो शहजादा हुमायूंफर की हत्या के समय प्रभावित न हो जाए या कामिनी को रंडापे का विलाप करते देखकर रोने न लगे। और पात्रों को जाने दीजिए, सरशार का खोजी ही एक ऐसी अमर सृष्टि है जो दुनिया की किसी जबान में उसकी जबर्दस्त शोहरत का सिक्का बिठाने के लिए काफी है। माशा अल्लाह कैसा हँसता-बोलता आदमी है। सुबह हुई, आप उठे, अफीम घोली, हुक्के का दम लगाया, दाढी फटकारी, और अपने भुजदंड को देखते अकड़ते अपने जोम में मस्त चले जा रहे हैं। ज्योंही रास्ते में किसी चंद्र-बदन सुंदरी को धीमे-धीमे आते देखा वहीं आपकी बांछे खिल गईं। जरा और अकड़ गए। उसने जो कहीं आपके रंग-ढंग पर मुस्करा दिया तो आप फूल गए। गुमान हुआ मुझ पर रीझ गई। फौरन मूछों पर ताव दिया और मुस्कराकर तीखी-बांकी चितवनों से आस-पास के लोगों को देखने लगे, कि पाँव में ठोकर लगी और चारों खाने चित्त। यारों ने कहकहा लगाया मगर क्या मजाल कि हजरत के चेहरे पर जरा भी मैल आने पाए। गर्द झाड़ी, उठ खड़े हुए और बस 'ओ गीदी' का नारा लगाया, करौली म्यान से निकल पड़ी और चारों तरफ सुथराव हो गया, सर धडों से अलग नजर आने लगे

और लाशें फड़कने लगीं। शाबाश खोजी! तुमको खुदा हमेशा जिन्दा सलामत रक्खे। तेरे एहसानों से एक दुनिया का सर झुका हुआ है। तेरी करौली ऐसे मीठे घाव लगाती है कि किसी की अधखुली शर्बती आँखों का तीर भी ऐसी प्यारी चुभन नहीं पैदा कर सकता, और तेरे तेवर बदलने में वह मजा आता है जो किसी सजीले माशूक के रूठने में भी नहीं आ सकता। बेशक तू हँसी का पुतला और दिल्लगी की जान है।

हजरत शरर ने भी बहुत से पात्रों की सृष्टि की और उनके उपन्यास पसंद भी किए गए मगर उनके मानस-पुत्रों में से किसी ने भी ऐसी ख्याति प्राप्त न की कि उसका नाम हर आदमी की जबान पर हो। सच तो यह है कि उनके स्वभाव में वह मौलिक सृजन की शक्ति ही नहीं जो अमर पात्रों को जन्म देने के लिए आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब वह किसी नए पात्र को बुलाते हैं तो पहले उसका स्वागत बड़ी धूम-धाम से करते हैं और पाठकों से उसका परिचय कराते हुए फरमाते हैं कि यह हजरत ऐसे हैं और वैसे हैं, आप आंतरिक और बाह्य सद्गुणों की खान हैं आदि-आदि। मगर केवल उनकी भूमिकाओं से पात्र में जान नहीं पड़ती क्योंकि वह बोलते हैं तो शरर की जबान से और उनकी एक-एक हरकत, उनकी एक-एक अदा, उनकी एक-एक बात साबित करती है कि लेखक परदे की आड़ में बैठा हुआ केरेक्टर का पार्ट अदा कर रहा है। हमारे दिल में खुद ब खुद यह

खयाल नहीं पैदा होता कि हम कुछ आत्मीय मित्रों की संगत का मजा ले रहे हैं। वह रोए हमको परवाह नहीं, वह हँसे हमको खबर नहीं, हम जानते हैं कि वह काल्पनिक हैं।

शरर ने अरब, अजम, फारस, तुर्किस्तान, रूस, रोम, अलीगढ़, लखनऊ, और खुदा जाने कितनी जगहों के दृश्य दिखाए मगर उनके किसी उपन्यास से वहाँ के जन-साधारण के रहन-सहन और सोचने-विचारने के ढंग का पता नहीं चलता।

सरशार के जादू-भरे कलम ने हमको गली-कूचों, मेलों-ठेलों और बाग-बगीचों की सैर ऐसी खूबी से करा दी कि शायद हम वहाँ जाकर खुद उनको देखते तो इतना लुत्फ न उठा सकते। हमको कदम-कदम पर लखनऊ के अमीर-फकीर, गंवार, ऐय्यार, भांड, दिल्लगीबाज, मसखरे, तिरछे, बांके, कुलीन-नीच, सभ्य-असभ्य, बूढ़े-जवान गरज हर रंग और हर तरह के आदमी नज़र आते हैं। वह हँसते-बोलते हैं, दिल्लगी-मजाक करते हैं, नाचते-गाते हैं मगर इसलिए नहीं कि हम देख रहे हैं बल्कि यह उनका रोजमर्रा का तरीका है, हमारा जी चाहे तो हम भी देख लें।

आस्कर ब्राउनिंग ने लिखा है कि उपन्यासकार में इन चार मानसिक गुणों का होना उपन्यास के लिए नितांत आवश्यक है –

1. वर्णन-शैली, 2 हँसी-मजाक कर सकना, 3. दर्शन, 4. ड्रामा या किसी घटना में अनायास प्रभाव उत्पन्तन कर देना। अब सरशार को देखिए तो उसमें दर्शन को छोड़कर और तीनों गुण खूब मिलते हैं और हजरत शरर अगर इन गुणों में से कोई रखते हैं तो वह एक हद तक दर्शन है मगर वह दर्शन जो धर्म और जाति से संबंध रखता है ओर दिलों में फूट डाल देना जिसका खास, सबसे खास काम है।

यहाँ पर एक ऐसी बात की चर्चा करना भी आवश्यक मालूम होता है जो कुछ लोगों को शायद बुरी लगे। सरशार ने जितनी किताबें लिखीं उनमें एक भी ऐसी नहीं कि जिसको मुसलमान या ईसाई एक-सी दिलचस्पी से न पढ़े। वह सब धार्मिक विद्वेष से मुक्त हैं। इसके विपरीत हजरत शरर के हीरों तो हर हालत में मुसलमान होते हैं मगर हीरोइन कभी हिन्दू होती हे कभी ईसाई। हजरत शरर तो फिलासफर हैं, कम से कम उन्हें इतनी समझ होनी चाहिए कि वह उस भड़कावे का अनुमान कर लें जो हिन्दू और ईसाईयों के दिल में उनकी इस गलती से पैदा होता है। क्या मुसलमानों में इतनी सुंदर, सुशील स्त्रियाँ नहीं हैं जिनको हीरोइन बनने का गौरव मिल सके? शायद कोई साहब फरमायेंगे कि कुछ हिन्दू लोगों ने भी हिन्दू हीरों से मुसलमान हीरोइन का जोड़ा मिलाया है। मगर क्या जरूरत है कि हजरत शरर भी वही गलती करें। हमने खुद देखा है कि अक्सर हिन्दू लोग मंसूर और

मोहना को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसी तरह जैसे कि कुछ मुसलमान दुर्गेशनन्दिनी को देखते हैं। प्रेम का यह ढंग बहुत बुरा है। कमजोर दिमाग वाले चाहे इन विद्वेषों का शिकार हो जाएँ मगर एक जिम्मेदार आदमी की तरफ से उनका प्रकाश में आना अनुचित है। हिन्दुस्तान में यह आम रिवाज है कि लड़की के जाति वालों या रिश्तेदारों या भाई-बन्दों का महत्त्व लड़के वालों के रिश्तेदारों से कम हुआ करता है और साधारण लोगों में भोंडी रुचि के लोग दूसरों को अपना साला कहकर खुश होते हैं कि जैसे पति का तरफदार होना पत्नी के तरफदारों पर हावी होना है। बहुत बार यह भी देखने में आता है कि बेहूदा बकने वाले शोहदे अपने मस्तरंगी मुहब्बत का बड़े घमंड से जिक्र किया करते हैं। हजरत शरर इन्हीं ओछी से ओछी भावनाओं का शिकार हो गए। बहुत कम ऐसे हिन्दू होंगे जो उनके प्रशंसक हो हालांकि सरशार के सामने इज्जत से सर झुकाने वालों में अक्सर मुसलमान साहबान हैं। यहाँ उन लोगों का जिक्र नहीं है जो कौमी एकता की आड़ में फूट का बीज बोते हैं।

उपन्यासकार के लिए रसीली, रंगीन, चुलबुली, शौकीन तबीयत का होना जरूरी है। इसके बजाय हजरत शरर को जिहादियों का जोश और मुल्लाओं का दिल मिला है जो इस काम के लिए ठीक नहीं। किसी आदमी की काबलियत की एक दलील यह भी है कि वह समझ जाये कि मैं कौन-सा

काम सबसे अच्छी तरह कर सकता हूँ। सरशार ने अपने दिल को समझा, हजरत शरर न समझ सके।

मगर सबसे बड़ा जुल्म जो हकीम बरहम ने सरशार पर किया है वह उसकी लेखन-शैली पर है। हम यह कहने पर मजबूर हैं कि इस मौके पर बड़ी बेरहमी से इंसाफ का गला घोंटा गया है। अब आज उस चोटी के कलाकार के उन अधिकारों को झुठलाना जो उर्दू जबान पर कयामत तक रहेंगे सरासर धार्मिक विद्वेष और संकीर्ण-हृदयता का प्रमाण है। कोई कितनी ही लंबी-चौडी बघारे मगर इस सच्चाई को नहीं झुठला सकता कि सरशार ही वह पहला जोरदार लिखने वाला है जिसने नये अंग्रेजी ढंग की कहानियाँ उर्दू में लिखनी शुरू कीं। उसके साथ ही अनुकरण के जोश में आकर यहाँ तक नहीं बढ़ा कि उर्दू जबान और उसके लिखने के ढंग को बिगाड़ दे। सिर्फ तर्ज अंग्रेजी ले लिया या यों कहो कि खाका अंग्रेजी लिया उस पर हिन्दुस्तानी रंग चढ़ाये। अंग्रेजी उपन्यास की कोई खूबी ऐसी नहीं जो सरशार की कृतियों में न पाई जाय।

बरहम साहब कहते हैं कि 'फसाना-ए-आजाद' और 'फसाना-ए-अजायब' की शैली में कोई अंतर नहीं है। हमको यकीन नहीं आता कि हकीम साहब के कलम से यह रिमार्क निकला। 'जामे सरशार' से जो दो उद्धरण लिये

गये हैं वह खुद इस दावे का खंडन करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कहीं-कहीं पंडितजी ने 'सुरूर' के रंग में लिखा है मगर यह उनका खास रंग नहीं है बल्कि जहां कहीं तिरछे-बांके छैलों की बातचीत लिखी है वहाँ जबान की रंगीनी और काफियेबंदी पर ज्यादा जोर दिया है और इसकी उनको दाद देनी चाहिए कि बेफिकरों से बहुत गंभीर नपी-तुली बातचीत नहीं कराई जो उनके मुँह से बिल्कुल पराई मालूम होती। यह भी ख्याल रहे कि यद्यपि उपन्यासकार का खास रंग एक ही होता है मगर चूंकि वह हर ढंग और फैशन के आदमियों को बचाना-बिगाड़ता रहता है इसलिए उसकी जबान भी हर मौके पर रंग बदलती रहती है। 'फसाना-ए-आजाद' में जब कभी हकीम साहब तशरीफ लाते हैं तो पश्तो में बातें किया करते हैं। अब अगर कोई उनकी जबान को सरशार की जबान बतलाये तो इसका जवाब चुप रह जाने के सिवा और क्या हो सकता है। हकीम साहब ने मौलिकता के अर्थ समझने में भूल की। मौलिकता इसका नाम नहीं कि अंग्रेजी की अजनबी-सी तरकीबों, बंदिशों, उपमाओं और रूपकों के बेजोड़ रूखे अनगढ़ अनुवाद कर दिये जाएँ जैसा कि हजरत शरर ने किया है। इसी का नाम तो नक्काली है। उस पर तुर्रा यह कि बेचारे सरशार पर नक्काली का इल्जाम इसलिए लगाया है कि वह अपने पात्रों से मौके के हिसाब से बातें

करवाता है। हकीम साहब को जानना चाहिए कि उर्दू कहानी कला में इसी को मौलिकता कहते हैं।

हजरत शरर जब किसी उपन्यास का आरंभ करते हैं तो पहले सीनरी का बहुत लंबा-चौडा बयान करते हैं और इसके बाद हर अध्याय के आरंभ में ऐसे ही बयान होते हैं जो कहानी के प्रवाह में बाधा उपस्थित करते हैं और साधारण पढ़ने वाला घबराकर उनको छोड़ देता है। हकीम बरहम साहब ने भी हाल ही में एक उपन्यास लिखा। उसमें शरर का अनुकरण इस सीमा तक किया कि नब्बे पन्नों के उपन्यास में पच्चीस पन्नों से ज्यादा सिर्फ सीनरियों पर ही खर्च कर दिये थे। यही कला का दोष है। यहाँ पर इतना कहना और जरूरी मालूम होता है कि पश्चिमी हीरोइन की तस्वीर जो हकीम साहब ने हमारे सामने बड़ी शान से पेज की है कांट-छांटकर थोड़े से शब्दों में बयान की जा सकती है। यह बात मान ली गई है कि लेखक किसी पात्र के नाक-नक्शे, चेहरे-मोहरे का बयान कैसी ही खूबी से क्यों न करे मगर पढ़ने वाले के सामन जैसी तस्वीर खींचना चाहता है हरगिज नहीं खींच सकता। जितने नये अंग्रेजी उपन्यास हैं उनमें शरीर-संबंधी बातों का बयान थोड़े से शब्दों में समाप्त हो जाता है और मानसिक गुणों को पहले से प्रकट करना तो अपने आपको उपन्यास-रचना के सिद्धांतों से नितांत अपरिचित सिद्ध करना है।

यह भी गौर करने की बात है कि हजरत सरशार के रंग में लिखने को बहुतों ने कोशिश की मगर किसी को सफलता न मिली। जैसे आजाद का अनुकरण कठिन है उसी तरह सरशार के भी रंग में लिखना मुश्किल है, हालांकि कुछ उपन्यासकारों ने शरर से पाला मार लिया है। यही वजह है कि उनके उपन्यासों की जितनी कद्र मुल्क न की उसकी आधी भी शरर के किसी उपन्यास की नहीं हुई।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'उर्दू ए-मुअल्ला', मार्च -अप्रैल, 1906]

ज़ुलेखा

फारसी हुस्न-ओ-इश्क की दुनिया में ज़ुलेखा को जो आम शोहरत हासिल है वह बयान को मुहताज नहीं। उसकी जिंदगी हुस्न-ओ-इश्क की एक लाजवाब और दिलकश दास्तान है। एक बादशाह के महल में पैदा हुई, लाड़-प्यार में पली और बहार आते ही इश्क में कैद हो गई। फिर मुद्दत तक मुसीबतें झेलीं, शहजादी से फकीर बनी, सब कुछ इश्क में लुटा दिया मगर लगातार नाकामियों पर भी मुहब्बत की गली न छोड़ी। कभी-कभी माशूक की बेवफाई और दुनिया के तानों से मजबूर होकर अपने माशूक पर सख्तियाँ भी को, मगर यह भी अथाह मुहब्बत का तकाजा था। इस इश्क के खंजर की घायल के नाम को फारसी के अमर कवि जामी ने अमर बना दिया है। उसके सौंदर्य की तारीफ यों की है –

कफे राहत दहे हर मेहनतअंदेश
निहादा मरहमे बर हर दिले रेश।

उसका हाथ परीशान को आराम पहुँचाता और दिल के जख्म पर मरहम रखता था –

मियानश मूए, बल कज मूए नीमे

जे बरीकी बरद अज़ मूए बीमे।

उसकी कमर क्या थी, बाल थी, बल्कि बाल से भी आधी थी। बरीकी में उसे आधा बाल भी कहते डर लगता है –

सहीसर्वां हवादारीश करदे

परी-रूयां परस्तारीश करदे।

खूबसूरत लौंडियाँ उसकी खिदमत करतीं और परी जैसी सूरत वाली उसको पूजती थीं।

शुरू जवानी में इश्क को घातें उस पर होने लगती है मगर यह इश्क माशूक के देखने से नहीं पैदा होता बल्कि आम कायदे के खिलाफ वह चैन की नींद सो रही थी कि अचानक –

दर आमद नागहश अज़ दर जवाने

चेमी गोयम जवाने, नै कि जाने।

उसके दरवाजे से एक जवान आया, वह जवान क्या आया बल्कि जान आया।

हुमायूं पैकरे अज़ आलमे नूर

_बागे खुल्द करदा गारजे हूर।

सर से पाँव तक एक मुबारक नूर जिसने जन्नत के बाग की हूरों को लूट लिया। इस खूबसूरत जवान को देखते ही ज़ुलेखा पर उसकी खूबसूरती का जादू चल गया –

गिरिफ्तज कामतश दर दिल खयाले
निशांद अज़ दोस्ती दर दिल निहाले।

उसके सजीले बदन का खयाल दिल में बैठ गया और उसने दिल में दोस्ती का बीज बो दिया –

जे रूयश आतशी दर सीना अफरोख्त
वजां आतश मताये सब्रो-दीं सोख्त।

उसके आग जैसे चेहरे ने दिल में आग लगा दी और उस आग से धर्म और धीरज की पूँजी जल गई। मगर ज़ुलेखा यह जलन, यह दिल की आग सहती है लेकिन किसी पर जाहिर नहीं करती। सखियों-सहलियों से हँसती-बोलती है मगर दिल का भेद नहीं कहती –

निहां मी दाश्त राजश दर दिले तंग
चू काने लाल लाल अंदर दिले संग।

ये भेद वह अपने दिल में ऐसे छुपाए रहती थी जैसे पत्थर अपने दिल में लाल छिपाए रहता है –

फरो मी खुर्द चूं गुंचा बदिल खूं

न मी दाद अज दुरूं यक शिम्मा बेरूं।

वह अपने गम में दिल ही दिल में खून पीती थी मगर दिल का हाल कली को तरह दिल ही में बन्द रखती थी, जरा भी जाहिर न करती थी –

नजर बर सूरते अगियार मीदाश्त

वले पैवस्ता दिल बायार मीदाइत।

नजर गैरों पर रखती थी और दिल में माशूक का खयाल।

कभी-कभी जब वह जलन से बेचैन हो जाती है तो यार से यों बातें करती है –

कि ऐ पाकीजा गौहर अज चे कानी

कि अज़ तू दारम ईं गौहर फिशानी।

ऐ कीमती मोती, तू किस खान का है, मुझे तुझसे कुछ कहना है।

न मी दानम कि नामत अज के पुरसम

कुजा आयम मुकामत अज के पुरसम।

मैं तेरा नाम नहीं जानती, किससे पूछूँ। मैं तेरी जगह नहीं जानती, कहाँ जाऊँ।

मगर यह इश्क का भेद कब छुपता है। ज़ुलेखा जबान से कुछ नहीं कहती मगर उसकी खून बरसाने वाली आँखें और पीली-पीली सूरत यह भेद खोल देती हैं। गुलाब की-सी सूरत पीले फूल की तरह जर्द पड़ जाती है, ठंडी आहैं भरती है, लौंडियाँ आपस में खुसुर-फुसुर करने लगती हैं। कोई कहती है – 'ऊपर का असर है', कोई कहती है, – 'जादू' है। इन्हीं लौंडियों में ज़ुलेखा की एक दाई भी है। इश्क की दास्तानों में ऐसी औरतें बहुत आती हैं मगर इनमें शायद ही किसी का हवाला इस खूबसूरती से चंद शेरों में दिया गया हो –

अजां जुमला फुसूंगर दायाए दाश्त
कि अज़ अफसुंगरी सरमायाए दाइत।

उसकी लौंडियों में एक जादूगर दाई भी थी जो अपने जादू – जैसे करतब का खजाना रखती थी –

बराहे आशिक़ी कार आजमूदा
गहे आशिक गहे माशूक बूदा।

वह मुहब्बत के रास्तों को खूब जानती थी। वह कभी आशिक और कभी माशूक बन जाती थी –

बहम वसलत दहे माशूकी आशिक

मुआफिक साज यारे नामुआफिक।

वह आशिक और माशूक को मिला देती थी। फिरे हुए दोस्त को सच्चा दोस्त बना देती थी। यह जादूगरनी एक दिन ज़ुलेखा से यह प्यारी-भरी बातें करती है –

वगर रफ्तम तराज दोश बूदे

चू खुफ्तम खुफ्ता दर आगोश बूदे।

मैं चलती थी तो तू मेरे कंधे की शोभा होती थी और जब मैं सोती थी तो तू मेरी गोद में सोती थी –

चू ब नशस्ती बखिदमत ईस्तादम

चू खुस्पीदी बपायत सद निहादम।

जब तू बैठती थी तो मैं तेरी खिदमत में खड़ी हो जाती थी और जब तू सोती थी तो मैं तेरे पाँव पर सिर रख देती थी –

जेमन राजे दिलत पिनहा चे दारी

न खुद बेगाना अम जे निसियां चे दारी।

तू मुझसे अपने दिल का हाल क्यों छिपाती है। मैं कोई गैर नहीं हूँ। तू भूलकर रही है।

ज़ुलेखा मेहरबान दाई से रो-रोकर अपनी रामकहानी कह सुनाती है मगर दाई या तो आसमान के तारे तोड़ लाने को तैयार थी या यह दास्तान सुनकर बोल उठती है –

वले हर्कफे बनक्शे हर खयालस्त
के नादानिस्ता रा जुस्तन मुहालस्त।

हाँ, हर तस्वीर के लिए एक खयाल है मगर अनजान को ढूँढ़ना मुश्किल है।

इसके कुछ दिनों बाद ज़ुलेखा एक दिन गम के बिस्तर पर पड़ी हुई अपने दिल से फरियाद कर रही है कि उसे फिर दोस्त का सुंदर मुखड़ा दीखता है और वह उसे सपने में देखते ही उसके पाँव पर गिर पड़ती है और अपनी बेचैनी का बयान करती है। उसकी बेचैनी देखकर माशूक या माशूक की तस्वीर यह कहती है –

तुरा अज़ मा अगर बरसीना दागस्त
न पिन्दारी कज़ां दागम फरागस्त।

अगर मेरे इश्क का दाग तेरे सीने पर है तो तू यह न समझ कि मैं इस दाग से खाली हूँ –

मराहम दिल बदामे तुस्त दरबन्द
जेदागे इश्के तू हस्तम निशामंद।

मेरा दिल भी तेरी मुहब्बत के जाल में फँसा हुआ हैं और तेरे इश्क के दाग की मुझे खबर है।

दोस्त की तस्वीर की यह तड़प ज़ुलेखा के इश्क की आग को और भी भड़का देती है। कुछ दिन और इस तकलीफ में बीतते हैं, फिर तीसरी बार उसे माशूक का दुनिया को जला देने वाला हुस्न नजर आता है। इश्क के पैदा होने और बढ़ने की यह सूरत मुहब्बत की दास्तानों में बिल्कुल निराली है। ज़ुलेखा फिर दोस्त की तस्वीर के पाँव पर गिर पड़ती है और इन शब्दों में उससे मुहब्बत भरी निगाह करने की विनती करती है –

न मी गोयम के दर हश्तम अजीजम
न आखिर मर तुरा कमतर कनीजम।

मैं यह नहीं कहती कि मेरी शान बादशाह की-सी है। मैं तो तेरी एक छोटी-सी लौंडी हूँ।

चे बाशद गर कनीजेरा नवाजी
जे बंदे मेहनतश आजाद साजी।

क्या अच्छा हो कि तू इस लौंडी को अपना ले और दुखों के बंधन से छुटकारा दे। मगर दूसरी बार की तरह इस खयाली माशूक ने अबकी इस

रोने-धोने पर उसकी तसल्ली नहीं की और न अपना दुख जाहिर किया, बस इतना कहा –

अज़ीज़े मिस्रअम व मिस्रम मुकामस्त

मैं मिस्र का (बादशाह-लकब) वजीर हूँ और मिस्र मेरा मुकाम है। इतना ही कहा और गायब हो गया।

शायर ने यहाँ ठोकर खाई है। जब इश्क की सूरत बिल्कुल खुदा की तरफ से दिल पर जाहिर हुई है तो चाहिये था कि दोस्त की तस्वीर का यह पता सही होता। मगर वाकयात इसके खिलाफ हैं क्योंकि हज़रत यूसुफ़ मिस्र के वजीर न थे। फिर भी ज़ुलेखा को बहुत तसल्ली हो गई। जब माशूक का पता मिल गया तो उसे ढूँढ निकालना क्या मुश्किल था। थोड़ी देर के लिए उसका पागलपन दूर हो गया। इधर ज़ुलेखा दोस्त की जुदाई में परीशान थी उधर उसके रूप का सारी दुनिया में चर्चा फैला हुआ था –

सराने मुल्क रा सौदाये ऊ बूद
बबज्मे खुसरवां गौगाये ऊ बूद।

देश के सरदारों के सर में उसकी चाह थी और बादशाहों की सभा में उसका चर्चा था।

बहरवक्त आमदे अज़ शहरयारे

ब उम्मीदे विसालश खास्तगारे।

हर वक्त शहर का बादशाह आता और उससे मिलने की इच्छा करता।

जंग, रूम और शाम के बादशाहों ने अपने-अपने राजदूत ज़ुलेखा के बाप शाह तीमूस के पास भेजे मगर मिस्र के अज़ीज़ की तरफ से कोई पैगाम न आया। शाह तीमूस ने ज़ुलेखा को अपने सामने बुलाया और प्यार से अपने पास बिठाकर सब बादशाहों के पैगामों का जिक्र किया। मगर जब मिस्र के अज़ीज़ का जिक्र न आया तो वह निराश होकर बेद की टहनी की तरह काँपती हुई अपने एकांत में आ बैठी और रो-रोकर कहने लगी –

मरा ऐ काश के मादर नमीजाद

वगर मीज़ाद कस शीरम नमीदाद।

क्या अच्छा होता कि मुझे मेरी माँ न जनती और अगर जनती तो कोई मुझे दूध न देता –

कयम मन अज़ वुजूदे मन चे खेजद

वजीं बूदे न बूदे मन चे खेज़द।

मैं वह हूँ कि मेरी जिंदगी से क्या हो सकता है। इस जिंदगी के होने से न होती तो क्या नुकसान होता। मजबूर होकर शाह तीमूस ने अज़ीज़े मिस्र को अपनी तरफ से पैगाम भेजा। अज़ीज़े मिस्र खुशी के मारे फूला न

समाया। गरज यह कि ज़ुलेखा बड़ी शान के साथ मिस्र की तरफ रवाना हुई। हजरत जामी ने इस जुलूस का जिक्र बहुत फैलाकर और बड़ी आन-बान से किया जिसका जिक्र इस फाकेमस्ती और बर्बादी के जमाने में बेखर है। ज़ुलेखा खुश-रखुश चली जा रहो थी कि अब कामनाओं के पूरे होने के दिन आये –

शबे गम रा सहर खाहद दमीदन
गमे हिजरां बसर खाहद रसीदन।

गम को रात का सबेरा हो जायेगा, बिरह का दुख खत्म हो जायेगा।

मगर उसे क्या खबर थी कि जादूगर आसमान उसे सब्ज बाग दिखा रहा है। अज़ीज़े मिस्र राजधानी से उसके स्वागत के लिए आया हुआ था। ज़ुलेखा ने तम्बू के झरोखे से उसे देखा मगर ज्योंही –

ज़ुलेखा कर्द अज़ां खीमा निगाहे
बरावुर्द अज़ दिले गमदीदा आहे।

ज़ुलेखा ने तंबू से एक निगाह की और गम-भरे दिल से एक आह भरकर रह गई –

के बावेला अज़ब कारेम उफ्ताद
बसर तापाये दीवारेम उफ्ताद।

दुहाई है कि मेरा बना-बनाया काम बिगड़ गया और मेरे सर से पाँव तक दीवार गिर पड़ी –

न आनस्त आंके अक़्लहोश मन बुर्द

इनाने दिल बबेहोशेम बसपुर्द।

यह वो नहीं है जिसने मेरी अक़्ल और मेरा होश लूटा और मेरे दिल की लगाम पागलपन को सौंप दी –

दरेगा बख्ते सुस्तम सुस्ती आवुर्द

तुलूए अख्तरम बदबख्ती आवुर्द।

अफसोस है कि मेरी फूटी किस्मत और भी फूट गयी और मेरे नसीबे के सितारे बदनसीबी लाये –

मनम आं बादबां कश्ती शिकस्ता

बरहना बरसरे लौहे नशस्ता।

मैं कश्ती की फटी हुई पाल हूँ और कश्ती के बदले एक लकड़ी के तख्ते पर हर तरफ से खुली हुई बैठी हूँ –

रुबायद हरज़मा अज़ जाये मौजम

बरू गह दर हज़ीजे गहे दर औजम।

मुझे दरिया की लहरें एक जगह से दूसरी जगह ले जाती हैं। कभी मैं दरिया की गहराई में चली जाती हूँ और कभी ऊपर आ जाती हूँ –

ज़िनागह जोर मी आयद पिदीदार

शवम खुर्रम कजू आसां बुवद कार।

कभी जोर की लहर आती है और मुझे दरिया के सतह पर फेंक देती है तो मै खुश हो जाती हूँ कि अब मेरी मुश्किल आसान हो जायेगी –

चू नजदीके मन आयद बे दिरंगे

बुवद बहरे हलाकत मन निरंगे।

फिर वह लहर मेरे पास आती है और मुझे मार डालनेवाला घड़ियाल बन जाती है।

इसी तरह पेचोताब खाकर उसने बहुत देर तक नाकामी के आँसू बहाये और खुदा के दरबार में दुआ की कि मेरी इज़्ज़त और आबरू का रखवाला तू है। खुदा के दरबार में उसकी दुआ मंजूर हुई और आवाज आयी –

के ऐ बेचारा रूये खाक बरदार

कज़ां मुश्किल तुरा आसां शवद कार।

ऐ मजबूर, जमीन पर से सर उठा, तेरी मुश्किल आसान हो जायेगी –

अज़ीज़े मिस्र मकसूदे दिलत नीस्त

वले मकसूद बेऊहासिलत नीस्त।

तेरे हृदय का लक्ष्य अज़ीज़े मिस्र नहीं है मगर उसके बिना वह पूरा भी न होगा –

अजू ख्वाही जमाले दोस्त दीदन

वजू ख्वाही बमकसूदत रसीदन।

तू उसी के जरिये से दोस्त का रूप देखेगी और उसी के जरिये से अपने मतलब को पहुँचेगी –

मुबादा अज़ सोहबते ऊ हेच बीमत

कजूमानद सलामत कुफ़्ले सीमत।

तू उसकी संगत से न डर क्योंकि तू उसके साथ रह कर भी कुंवारी रहेगी।

इस आवाज ने दिल को ताकत पहुँचाई। अब वह अज़ीज़े मिस्र की बेगम थी और अज़ीज़ वहाँ के सरदारों का रईस था। रुपया-पैसा, शान-शौकत और लौंडी-गुलामों की कमी न थी। रंगरेलियों की सभायें गर्म रहती थीं मगर यह सब चीजें ज़ुलेखा के दिल को दुख पहुँचाती थीं। अक्सर रातों को सब सो जाते तो वह जालिम आसमान से शिकायत के दफ्तर खोल देती।

चे दानिस्तम बवक़्ते चारासाजी

जे खानूमाँ मरा आवारा साजी।

मुझे क्या खबर थी कि मेरे इलाज के वक़्त तू मुझे घर से बेघर करके आवारा कर देगा।

मरा बस बूद दागे बेनसीबी

फुंजूं करदी बरां दर्दे गरीबी।

मुझे बेनसीबी का दाग हो कुछ कम न था लेकिन तूने परदेस का दुख भी दिखाया।

उसके सिर पर जड़ाऊ ताज शोभा देता था, उसके रनिवास पर स्वर्ग निछावर था और उसका तख्त जड़ाऊ था मगर जब दिल पर गम का बोझ हो तो ऊपर की टीम-टाम से क्या सुख। इस ढंग से ज़ुलेखा ने अज़ीज़े मिस्र के साथ एक मुद्दत तक उम्र काटी। शायद उसका भेद अज़ीज़े मिस्र पर भी खुल गया था मगर ज़ुलेखा उसको छिपाने की कोशिश करती रही।

लबश वा खल्क दरगुफ्तार मी बूद

बले जानी दिलश वा यार मी बूद।

वह लोगों से बातें करती थी लेकिन उसकी जान और दिल अपने माशूक में रहते थे।

बसूरत बूद वा मरदुम नशस्ता

बमाने अज़ हमां खातिर गुसस्ता।

वह जाहिर में लोगों के साथ बैठती थी लेकिन दिल दोस्त में रहता था।

इस तरह जब दिन कट जाता और रात की काली बला आ जाती तो वह –

खयाले दोस्त रा दर खिलवते राज़

निशांदे ता सहर बर मसनदे नाज़।

एकांत में दोस्त के खयाल को सबेरे तक सामने रखती और –

बजानूए अदब ब नशस्तियश पेश

ब अर्जे ऊ रसानीदे गमे खेश।

उसके सामने अदब से बैठकर उससे अपना गम बयान करती।

न जाने कितने वर्षों तक वह इस दिल की आग में जलती रही। आखिर उसकी मुहब्बत में सच्चाई देखकर खुदा को उस पर तरस आया। रंग बदलने वाला जमाना उसके लिए अनुकूल हुआ। हजरत यूसुफ़ को उनके दुश्मन भाइयों ने डाह के मारे कुएं में डाल दिया। यह यूसुफ़ ही थे जिनके रूप का दर्शन ज़ुलेखा को सपने` में हुआ था। संयोग की बात, कुछ सौदागरों ने यूसुफ़ को कुएं से जिंदा निकाल लिया और उन्हें गुलाम बनाकर बेचने के लिए मिस्र के बाजार में लाये। जब यहाँ पहुँचे तो उनके हुस्न का चर्चा कस्तूरी की ख़ुशबू की तरह फैला। जो देखता हैरान रह जाता। धीरे-धीरे मिस्र के बादशाह के कानों तक यह खबर पहुँची। उसने

अज़ीज़े मिस्र को हुक्म दिया कि जाकर गुलाम को देखो। अज़ीज़ ने उसे देखा तो अचम्भे से उंगलियाँ चबाने लगा और आकर बादशाह से गुलाम की बहुत तारीफ की।

इन दिनों ज़ुलेखा को और दिनों से ज्यादा बेचैनी थी। जब से हजरत यूसुफ़ कुएं में गिरे थे ज़ुलेखा को उनसे दिली लगाव होने की वजह से किसी सूरत चैन नहीं था। एक दिन वह दिल बहलाने के लिए शहर के पास एक जंगल में गयी और आराम की बहुत सी चीजें ले गई मगर वहाँ भी उसका जी न लगा। महल की तरफ आ रही थी कि रास्ते में बादशाह के महल के सामने एक भीड़ देखी। यूसुफ़ की तारीफ हर आदमी कर रहा था। लोग उनकी मुहब्बत में पागल हो रहे थे। ज़ुलेखा ने भी अपना हाथी रोका और ज्योंही यूसुफ़ पर उसकी निगाह पड़ी` उसकी आँखों से एक पर्दा-सा हट गया और बेअख्तियार दिल से एक ठंडी आह निकल आयी और वह बेहोश हो गयी। लौंडियों ने यह हालत देखी तो हाथी जल्दी से एकांत में लायीं। ज़ुलेखा जब होश में आयी तो दाई में उसके पागलपन का कारण पूछा। ज़ुलेखा बोली –

बगुफ्त ऐ मेहरबां मादर चे गोयम
के गरदद आफते मन हर चे गोयम।

ऐ मेरी प्यारी माँ, मैं तुझसे क्या कहूँ क्योंकि इसमें हर तरह से मेरी ही परीशानी है।

दरां मजमां गुलामे रा के दीदी

जे अहले मिस्र वस्फे ऊ शनीदी।

तूने उस भीड़ में जिस गुलाम को देखा और मिस्र वालों से जिसकी तारीफ सुनी

जे आलम किबलागाहे जानेमन ऊस्त

फिदायश जानेमन जानानेमन ऊस्त।

मैं जिसे चाहती हूँ यह वही है और जिस पर जान निछावर करती हूँ यह वही है –

बतन दरतप बदिल दरताब अज़वेम

जे दीदा गर्क खूने नाब अजवेम।

मेरे बदन में बेकरारी और दिल में तड़प उसी से है और मेरी आँखें उसी के गम में खून रोती हैं –

जे खानूमा मरा आवारा ऊ साख्त।

दरीं बेचारगी आवारा ऊ साख्त।

मुझे घर से बेघर उसी ने किया और इस बेबसी में उसी ने डाला।

दाई ने ज़ुलेखा की तसल्ली की। उधर मिस्र वालों ने यूसुफ़ की खरीददारी में अपनी कद्रदानियों का सबूत देना शुरू किया। जो आता मोल बढ़ाता था। ज़ुलेखा को एक-एक पल की खबर मिलती थी और वह हर दफा बोली का दुगना कर देती थी। यहाँ तक कि कोई गाहक उसके सामने न ठहर सका। मगर अज़ीज़े मिस्र के पास इतनी दौलत न थी। जो कुछ पूंजी और जवाहिरात उसके खजाने में थे वो उसकी कीमत से आधे भी न थे। अज़ीज़े मिस्र ने यही बहाना पेश किया लेकिन –

ज़ुलेखा दाश्त दुर्जे पुर, जे गौहर
न दुर्जे बल्के बुर्जे पुर जे अख्तर।

ज़ुलेखा के पास एक मोतियों का डब्बा भरा हुआ था। वह मोतियों का डब्बा क्या था बल्कि सितारों की एक बुर्ज थी।

बहाये हर गुहर जां दुर्रे मकनूं
खिराजे मिस्र बूदे बल्कि अफजूं।

हर मोती की कीमत मिस्र के खिराज के बराबर थी बल्कि उससे भी ज्यादा।

अज़ीज़े मिस्र ने जब देखा कि यह बहाना नहीं चला तो कहने लगा कि मिस्र के बादशाह इस गुलाम को अपने गुलामों का सरदार बनाना चाहते हैं। अगर मैं इसे मोल लूँगा तो वह नाराज होंगे। ज़ुलेखा ने जवाब दिया –

बगुफ्ता रौ सूए शाहे जहाँदार
हके खिदमतगुज़ारीरा बजा आर।

ज़ुलेखा ने कहा कि बादशाह की खिदमत में जाओ और यह अर्ज करो –

बिगो बर दिल जुर्जी बंदे न दारम
कि पेशे दीदा फर्जन्दे न दारम।

मैं इस गुलाम को इसलिए चाहता हूँ कि मेरे औलाद नहीं है, इसे औलाद समझकर अपने पास रक्खूँगा।

सरफराजी मरा जीं एहतरामम
के आयद जेरे फरमां ईं गुलामम।

मेरी इज़्ज़त इसी में है कि इस लड़के को अपनी गुलामी में रक्खूँ –

बबुर्जम अख्तरे ताबिन्दा बाशद
मरा फर्ज़न्द शहरा बंदा बाशद।

यह मेरे बुर्ज का चमकदार सितारा होगा। मेरा बेटा बादशाह का गुलाम होगा।

आखिर अज़ीज़ ने मजबूर होकर ज़ुलेखा को खरीददारी की इजाजत दे दी मगर यह समझ में नहीं आता कि ज़ुलेखा यूसुफ़ को अपना बेटा बनाने की हिम्मत कैसे कर सकी। ज़ुलेखा ने जो सूरत सपने में देखी थी वह बच्चे यूसुफ़ की नहीं बल्कि जवान यूसुफ़ की थी। हाँ, यह हो सकता है कि यूसुफ़ पर नबी होने की वजह से उम्र का असर न हुआ हो। ज़ुलेखा अपना मतलब पाकर खुश हुई और कुछ दिनों उसकी आराम से बीती। कहती है –

चू बूदम माहीए दर मातमे आब
तपां बर रेगे तुफ्ता अज गमे आब।

जब मैं गम के पानी में मछली की तरह थी और जलती हुई मिट्टी पर जलती हुई मछली –

दर आमद सैले अब्रे करामत
बदरिया बुर्द अजां रेगम सलामत।

तेरी मेहरबानी की बात आयी और मुझे खुशी के दरिया में ले गई।

के बूदम गुम रहे दर जुल्मते शब
रसीदा जां जे गुमराहेम बरलब।

क्योंकि मैं रात के अंधेरे में भटक रही थी और गुमराही तक मेरी जान पहुँच गई थी।

बरामद अज़ उफक रख्शिंदा माहे

बकूए दौलतम बनुमूद राहे।

क्षितिज से एक चमकता हुआ चाँद निकला और उसने मुझे रास्ता दिखा दिया। ज़ुलेखा को अब यूसुफ़ की दिलजोई और खातिरदारी के सिवा दूसरा कोई काम न था।

चू ताजे जार ब फर्कश निहादे।

निहांरा बोसअश बरफर्क दादे।।

कभी उसके सर पर जड़ाऊ मुकुट रखती और छुपकर उसका सर चूम लेती –

चू पैराहन कशीदे बर तने ऊ

शुदे हमराज बा पैराहने ऊ।

कभी उसके कपड़े उतारती और उसे नंगा देखती –

कमर चूं चुस्त करदे बरमियानश

गुज़श्ते ईं तमन्ना बरजबानश।

कभी उसकी कमर बाँधती तो अपनी जबान से यह इच्छा प्रकट करती –

के गर दस्तम कमर बूदे चे बूदे

जे वस्लश बहरावर बूदे चे बूदे।

अगर मेरा हाथ तेरी कमर में होता तो क्या होता और अगर मैं एकांत में तुझसे मिलती तो कितना अच्छा होता।

मुसलसल गेसुवश चू शाना कर्दे

मदावाए दिले दीवाना कर्दे।

बार-बार उसके बालों में कंघी कर-करके अपने पागल दिल को तसल्ली देती।

गमश खुर्दे व गम ख्वारीश कर्दे

बखातूनी परस्तारीश कर्दे।

उसका गम खाती, खयाल रखती और उसकी सेवा स्त्री की तरह करती।

मगर चूंकि यूसुफ़ पैगम्बर के लिए गड़रिया होना जरूरी था, इस आराम में उनका जी न लगा। ज़ुलेखा ने उनके दिल का झुकाव देखा तो उनकी दिलजोई के खयाल से उनके लिए गड़रिये के काम का सामान कर दिया। रेशम की रस्सियाँ बनवाईं, जड़ाऊ लकडी तैयार कराई और हजरत यूसुफ़ चरवाही करने लगे मगर इश्क का जादू निराला है।

उम्मीदे कामरानी नीस्त दर इश्क

सफाये जिंदगानी नीस्त दर इश्क।

इश्क में दिल की मुराद पाना और साफ जिंदगी गुजारना मुश्किल है।

ज़ुलेखा बूद यूसुफ़ रा न दीदा

ब ख्वाबे ऊ खयाले आरमीदा।

ज़ुलेखा यूसुफ़ को बिन देखे बेचैन रहती और नींद में भी उसी का ध्यान रहता।

बजुज दीदारश अज़ हर जुस्तजूए

न मीदानिस्त खुद रा आरजूए।

वह सिवाय यूसुफ़ को देखने के और कोई इच्छा नहीं रखती थी।

चू शुद अज़ दीदने ऊ बहरा मंदी

जे दीदन ख्वास्त तबए ऊ बलंदी।

जब उसे देखती तो अपनी आत्मा में एक तरह की खुशी और बुलंदी पाती।

जे लाले ऊ बबोसा काम गीरद

जे सर्वश वा कनार आराम गीरद।

उसके होंट चुमने और सर गोद में रखने से आराम महसूस करती।

वले नज़ारगी कामद सुए बाग

जे शौक गुल चू लाला सीना बरदाग।

अगर कभी बाग देखने आती तो लालह (ट्यूलिप का फूल) की तरह अपने दिल पर माशूक का दाग पाती।

न खुस्त अज़रूये गुल दीदन शवद मस्त

जे गुल दीदन बगुल चीदन बरूदस्त।

फूलों को देखकर मस्त हो जाती और फुल चुनने लगती।

जब तक ज़ुलेखा ने युसूफ़ को न देखा था, सिर्फ देखने की इच्छा थी। अब मिलने का शौक पैदा हआ, मगर

ज़ुलेखा बह्हे यक दीदन हमी सोख्त

वले यूसुफ़ जे दीदन दीदा बरदोख्त।

ज़ुलेखा यूसुफ़ को एक नजर देखने के शौक में दिल ही दिल में जलती थी और यूसुफ़ ने ज़ुलेखा को न देखने के खयाल से आँखें सी ली थीं।

जे बीमे फितना सुए ऊ न मी दीद

ब चश्मे फितना रूये ऊ न मी दीद।

ज़ुलेखा जब यूसुफ़ को देखती, बुरे खयाल से देखती और उसकी उन पर जो नजर पड़ती बुरी होती। लेकिन यूसुफ़ की लापरवाही ने ज़ुलेखा को गम के भंवर में डाल दिया। फिर उसकी तबीयत में पागलपन पैदा हो गया। कंघी चोटी से घिन हो गई। मेहरबान दाई ने बड़े प्यार से इस हार्दिक दुख

का कारण पूछा। ज़ुलेखा ने अपनी कहानी निराशा के साथ शुरू की और उसे यूसुफ़ के पास मिलने का संदेशा देकर भेजा। मगर यूसुफ़ का कदम सच्चाई के रास्ते से न डिगा और उन्होंने जवाब दिया।

ज़ुलेखा रा गुलामे जर खरीदम
बसा अज वै इनायतहा के दीदम।

ज़ुलेखा ने मुझे रुपया देकर मोल लिया है और मुझ पर बड़ी-बड़ी मेहरबानियाँ की हैं।

गिलो आबम इमारत कर्दये ऊस्त
दिलो जानम वफा परवर्दये ऊस्त।

मुझे उसने बड़ी मेहरबानी से पाला पोसा और बनाया-संवारा है।

अगर उम्रे कुनम नेमत शुमारी
नियारम कर्दन ऊरा हक गुज़ारी।

अगर मैं सारी उम्र उसकी मेहरबानियों का हिसाब करूँ तो भी उसका हक अदा नहीं कर सकता।

बफरजंदे अज़ीज़म नाम बुर्दस्त
अमीने खानए खेशम सपुर्दस्त।

मुझे अज़ीज़े मिस्र के बेटे का नाम दिया और अपने घर की निगरानी मुझे सौंपी।

नयम जुज़ मुर्गे आबोदानये ऊ
खयानत चू कुनम दर खानये ऊ।

मैं उसका खिलाया-पिलाया और पाला पोसा हूँ। उसके घर में डाका कैसे डाल सकता हूँ।

जब दाई के जादू से काम न चला तो ज़ुलेखा खुद सवाल को सूरत बनकर यूसुफ़ के पास आई और यूसुफ़ से मेहरबानी की भीख माँगी मगर यूसुफ़ ने उसे भी बड़ी समझदारी से जवाब दिया।

खुदावंदे मजू अज बन्दये खेश
बदीं लुत्फम मकुन शर्मिन्दए खेश।

ऐ मेरी मालिक, अपने गुलाम से ऐसे काम की उम्मीद न रख और अपनी मेहरबानियाँ से शर्मिन्दा न कर।

कियम मन ता तुरा दम साज गरदम
दरी खाँ बाअज़ीज़ अंबाज गरदम।

मैं वो नहीं हूँ कि तेरे इस हुक्म को बजा लाऊँ और अज़ीज़ की थाली में शरीक हो जाऊँ।

ब बायद बादशाह आं बंदा रा कुश्त

कजू बायक नमकदां बावै अंगुश्त।

बादशाह को चाहिए कि उस गुलाम को मार डाले जो उसके नमकदान में अपनी उंगली डाले।

यूसुफ़ का जवाब साफ और सच्चाई से भरा हुआ था। हयादार औरत को डूब मरने के लिए इशारा बहुत था मगर इश्क ने ज़ुलेखा को अंधा कर दिया था। उसने यूसुफ़ को जब इंसानियत के पर्दे में छुपते देखा तो उसे पर्दे को हटा देने की कोशिश शुरू की। उसके पास एक बाग था। उसे खूब सजाकर, बहुत सी खूबसूरत लौंडियाँ वहाँ भेजीं और यूसुफ़ को भी सैर करने के लिए भेजा। लौंडियों से ताकीद कर दी कि यूसुफ़ को रिझाने में कोई कसर उठा न रखना और यूसुफ़ को यह दोस्ती-भरी राय दी –

अगर मन पेशे तू बर तू हराम

वजीं मानी ब गायत तल्ख काम।

अगर मैं तेरे लिए हराम हूँ और तू इसीलिए मुझे बुरी समझता है –

बसूए हर के ख्वाही गाम बरदार

जे वस्ले हर के ख्वाही काम बरदार।

इनमें से जिसे जी चाहे उससे जी बहला और अपना मतलब पूरा कर।

इन चालों का मतलब यह था कि जब यूसुफ़ इन लौंडियों में से किसी से अपना मतलब पूरा करने का खयाल जाहिर करें तो ज़ुलेखा –

निशानद खेश रा पिनहा बजाएश

खुरद बर अज़ निहाले दिलरुबायश।

छुपकर उस लौंडी की जगह बैठ जाये और इस तरह अपना मतलब पूरा करे।

इससे साफ जाहिर होता है कि ज़ुलेखा का प्रेम वासना का दूसरा नाम था। मगर उसकी कोई कोशिश कारगर न हुई। यूसुफ़ ने इन लौंडियों को खुदा की मुहब्बत का ऐसा पाठ पढ़ाया कि वो अपने गन्दे खयाल से हाथ धो बैठी और जब ज़ुलेखा पिया मिलन की इच्छा लिये हुए वहाँ पहुँची तो लौंडियों को खुदा के सामने सजदे में सर झुकाये पाया। निराश होकर वहाँ से वापस लौटी और रो-रोकर दाई से अपने दिल का दुख सुनाने लगी। दाई ने समझाया, खुदा की मेहरबानी से आप भी एक ही सुंदरी हैं। आप अपने ढंग और अदाओं से यूसुफ़ को पिघला सकती हैं। ज़ुलेखा ने जबाब दिया यह तो सच है मगर वह जालिम मेरी तरफ आँख उठाकर देखे तो। वह तो मेरी तरफ ताकता ही नहीं। आँखें चार हों तब तो दिल मिले।

न तनहा आफतम जेबाइये ऊस्त

बलाये मन जे नापरवाइये ऊस्त।

उसका रूप ही मेरे लिए आफत नहीं है, उसकी लापरवाही और भी बड़ी आफत है।

आखिर जब परखने से साबित हो गया कि इन छोटी-छोटी चालों से काम न चलेगा, तो दाई ने एक बड़ी चाल चली। रुपये की कमी न थी। एक बहुत बड़ा महल बनवाया गया जिसमे सात खंड थे। इस सतखंडे महल को उस्ताद ने ऐसा अच्छा बनाया कि हर खंड पहले खंड से बढ़-चढ़कर था और सातवाँ खंड तो जैसे सातवें आसमान का जवाब था। हीरे-जवाहिरात, कस्तूरी, अम्बर और फलदार पेड़ और दुनिया भर की सजावट वहाँ मौजूद थी। उसकी हवा दिलों में नशा पैदा करती थी। उसकी सजावट निराली थी।

दरां खाना मुसव्विर साख्त हर जा
मिसाले यूसुफ़ ओ नक्शे ज़ुलेखा।

इस महल में चित्रकार ने जगह-जगह यूसुफ़ और ज़ुलेखा को तस्वीरें बनाई थीं।

बहम बनशस्ता चूं माशूक ओ आशिक
जे मेहरे जानों दिल बाहम मुवाफिक।

आपस में प्रेमी और प्रेमिका ऐसे बैठे थे जैसे दिल और जान एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते।

बयक जा ईं लबे आ बोसा दादा

बयक जा आं मियाने ईं कुशादा।

कहीं यह उसका मुँह चूम रहा हैं और कहीं वह इसका नाड़ा खोल रही है।

जब यह महल हर तरह सज गया तो ज़ुलेखा ने भी अपने को खूब दिल खोलकर सजाया और जाकर पहले हिस्से में बैठी। यूसुफ़ भी बुलाये गये। उन्हें देखते ही ज़ुलेखा बेचैन हो गयी, सब्र हाथ से जाता रहा। यूसुफ़ का हाथ एक खास अंदाज से पकड़कर इधर उधर की सैर कराने लगी। यहाँ सिवाय आशिक और माशूक के कोई रंग में भंग डालने बाला न था। ज़ुलेखा बार-बार इश्क का जोश जताती थी मगर यूसुफ़ धर्म और इंसानियत की दलीलों से उसे चुप कर देते थे।

सवाल और जवाब –

यूसुफ़ –

मरा अज़ बंदे गम आजाद गर्दा

ब आजादी दिलम रा शाद गर्दा

मुझे गम की कैद से आजाद कर दे और आजादी से मेरा दिल खुश कर दे।

मरा खुश नीस्त की जा बा तू बाहाम

पसे ईं पर्दा तनहा बा तू बाशम।

मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि इस जगह पर्दे के पीछे तेरे साथ रहूँ।

ज़ुलेखा –

तिही कर्दम खजाइन दर बहायत

मताए अक़्लो दीं कर्दम फिदायत।

मैंने तेरी कीमत पर खजाना खाली कर दिया और तुझ पर अक़्ल और धर्म की पूंजी निछावर कर दी।

ब आं नियत कि दरमानम तू बाशी

रहीने तौके फरमानम तू बाशी।

इस ख्याल से कि तू मेरे दुख का इलाज करेगा और मेरे हुक्म में रहेगा।

यूसुफ़ –

बिगुफ्ता दर गुनह फरमांबरी नीस्त

ब इसियां जीस्तन खिदमतगरी नीस्त।

वह हुक्म जिसमे पाप हो उसे बजा लाना आज्ञा-पालन नहीं है और पाप की जिंदगी बिताना सेवा नहीं है।

ज़ुलेखा एक घर से दूसरे घर में जाते वक्त उसके दरवाजे पर ताला लगा देती थी कि यूसुफ़ भाग न जाए। इश्क उसकी अक़्ल पर धुएं की तरह छा गया था कि वह उस नतीजे को, जो दिल के लगाव ही से मुमकिन है, जबर्दस्ती हासिल करना चाहती थी। सातवें खंड में पहुँचकर ज़ुलेखा ने बहुत ही नर्मी से अपनी दास्तान कही कि जैसे अपना कलेजा ही निकालकर रख दिया मगर यूसुफ़ का दिल न पसीजा। आखिर जब उसकी कामना हद से आगे बढ़ गई तो यूसुफ़ ने यह कहकर उसकी तसल्ली की कि जल्दी से काम बिगड़ता है। ज़ुलेखा उसका यों जवाब देती है –

जे शौकम जां रसीदा बर लब इमरोज
नियारम सब्र करदन ता शब इमरोज।

तेरे इश्क में मेरी जान होंठों पर आ गई। अब आज रात तक मैं धीरज नहीं रख सकती।

के आं ताकत मरा आयद पिदीदार
के बावक़्ते दिगर अंदाजम ई कार।

मुझमें इतनी ताकत कहाँ है कि दूसरे वक्त पर यह काम छोड़ूँ।

ज़ुलेखा पिया-मिलन के नशे में मतवाली हो रही है और यूसुफ़ कहते हैं, इसमें दो बातें रुकावट डालती हैं। एक तो खुदा का डर और दूसरे अज़ीज़े

मिंस्र का। तो वह उन दोनो को दूर करने की तरकीब बताती है कि अज़ीज़े मिस्र को--

दिहम जामे कि बा जानश सतेजद

जे मस्ती ता कमायत बर न खेज़द।

मैं एक ऐसा प्याला पिला दूँगी कि उसके नशे से वह फिर उठ न सकेगा और खुदा से इस पाप की माफी के लिए अपना सारा खजाना गरीबों और फकीरों को दे दूँगी। इस पर यूसुफ़ कहते हैं, न तो मेरा खुदा रिश्वत खाता है और न मैं ऐसा एहसान भुला देने वाला हूँ कि अपने ही मालिक को मारने की राय दूँ। आखिर ज़ुलेखा को जब एक न चली तो उसने एक तेज तलवार हाथ में लेकर खुद मरने का इरादा जाहिर किया।

चू यूसुफ़ आं बिदीद अज़ जाएँ बरजस्त।

चू ज़रीं मार बिगिरिफ्तरा सरे दस्त।।

यूसुफ़ फौरन अपनी जगह से उठे और एक सुनहरे सांप की तरह उसके हाथ को पकड़ लिया।

कजीं तुंदी बियाराम ऐ ज़ुलेखा।

वजीं रू बाज कश काम ऐ ज़ुलेखा।

ऐ ज़ुलेखा, इतनी जल्दी न कर और इस खयाल से मुँह मोड़।

ज़ुलेखा ने जब यूसुफ़ को जरा नर्म होते देखा तो उनकी गर्दन में हाथ डालकर लिपट गई और ऐसी हरकतें करने लगी जो एक कुंवारी लड़की को शोभा नहीं देतीं। शायद इस वक़्त हजरत यूसुफ़ नबी के पद पर होते हुए भी सीधे रास्ते से डगमगा गये थे। मगर इस एकांत की हालत में उनकी नजर एक सुनहरे पर्दे पर पड़ी जो सामने लटक रहा था। ज़ुलेखा से पूछा, यह पर्दा क्यों पड़ा है। ज़ुलेखा बोली, इसके अंदर मेरा खुदा है। मैंने उसके ऊपर पर्दा डाल दिया है कि उसकी निगाह मुझ पर न पड़ सके। ज़ुलेखा का इतना कहना गजब हो गया। यूसुफ़ बोले, तू एक पत्थर की मूरत का इतना लिहाज करती है और मैं अपने सब कुछ देखने और सब जगह हाजिर रहने-वाले खुदा से जरा भी न डरूँ। यह कहकर फौरन वहाँ से उठ खड़े हुए और बाहर की तरफ चले। खुदा का करना भी कुछ ऐसा ही हुआ कि हर दरवाजें पर पहुँचते ही लोहे के ताले खुलते गये। ज़ुलेखा ने जब यूसुफ़ को भागते देखा तो झल्लाकर –

पये बाज आमदन दामन कशीदश

जे सूए पुश्त पैराहन बुरीदश।

उनके पीछे लपकी और पीछे से दामन पकड़ा जिससे उनका कुर्ता फट गया।

बुरूं रफ्त अज़ कफे आं गमरसीदा

बसाने गुंचा पैराहन दरीदा।

लेकिन हजरत उसके पंजे से ऐसे बाहर निकल गये जैसे कली पंखुड़ियों के पर्दे से बाहर निकल आती है।

यूसुफ़ इस महल से निकल ही रहे थे कि अज़ीज़े मिस्र आते दिखाई दिये। उन्होने यूसुफ़ का हाथ मुहब्बत के जोश में पकड लिया और फिर महल में दाखिल हुए। ज़ुलेखा ने जब यूसुफ़ को अज़ीज़ के साथ देखा तो समझो कि इसने मेरी शिकायत की है। फौरन त्रिया-चरित्र खेली, बोली कि आज मैं इस कमरे में सोती थी तो यह गुलाम, जिसे मैंने अपना बेटा कहा है, दबे पाँव मेरी सेज की तरफ आया और मेरी इज़्ज़त लेनी चाही। इतने में मैं जाग पड़ी और यह भाग निकला। अज़ीज़ ने यह दास्तान सुनी तो यूसुफ़ को खूब भला-बुरा कहा कि मैंने तुझे बेटे की तरह पाला-पोसा और तू ऐसा जानवर निकला। तब यूसुफ़ ने मजबूर होकर सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया मगर ज़ुलेखा के रोने-धोने ने अज़ीज़ को पिघला दिया और हजरत यूसुफ़ जेल में डाल दिये गये। यहाँ खुदा के दरबार में उनकी पुकार यहाँ तक मंजूर हुई कि ज़ुलेखा को चालों और यूसुफ़ के बेकुसूर होने की गवाही एक दूध-पीते बच्चे ने दी। अज़ीज़े मिस्र को अब शक की कोई गुंजाइश बाकी न रही।

उसने यूसुफ़ को छोड़ दिया और ज़ुलेखा को सजा दी। जब यह किस्सा चारों तरफ फैला और लोग ज़ुलेखा को ताने देने लगे तो उसने अपने शौहर से कहा कि मैं इस गुलाम के पीछे बदनाम हो रही हूँ, आप इसे मेरी नजरों से दूर कर दीजिए। अज़ीज़ ने यूसुफ़ को फिर कैद किया मगर –

चे मुश्किल जां बतर बर आशिके जार
कि बेदिलदार बीनद जाये दिलदार।

उस आशिक की बुरी हालत का क्या ठिकाना है जो अपने माशूक की जगह खाली देखे –

चू खाली दीद अज़ गुल गुलशने खेश
चू गुंचा खाक ज़द पैराहने खेश।

जब उसने अपने बाग में अपना फूल न देखा तो कली की तरह अपनी पंखुरियाँ मिट्टी पर गिरा दीं। जब विरह का दुख न सह सकती तो छिपकर अपनी दाई के साथ जेल में जाती और यूसुफ़ को देख आती। इधर यूसुफ़ जेलखाने में सपनों का मतलब बताने में मशहूर हो गये। सपना सुनते ही उसका मतलब बता देते। उन्हीं दिनों मिस्र के बादशाह ने सपना देखा कि मेरे मकान में पहले सात मोटी-मोटी गायें आयीं, उनके बाद सात दुबली-पतली गायें आयीं और इन मोटी-मोटी गायों को सूखे गेहूँ की तरह खा गईं।

इस सपने का कोई मतलब न बता सकता था। यूसुफ़ के सपने का हाल बताने का जिक्र बादशाह तक पहुँच गया था। बादशाह ने उन्हें दरबार में बुलाया और यूसुफ़ ने सपने का मतलब बताया कि पहले मिस्र में सात बरस तक खूब गल्ला पैदा होगा, लोग आराम से रहेंगे, उसके बाद अकाल और मंहगाई के बरस आयेंगे और उस जमाने में प्रजा को बड़े कष्ट का सामना होगा। बादशाह इस मतलब से बहुत खुश हुआ और उसी वक्त से यूसुफ़ उसकी नजर में चढ़ गये। इज़्ज़त और पद बढ़ने लगा मगर ज्यों-ज्यों उनका पद बढ़ता गया अज़ीज़े मिस्र का पद घटता गया यहाँ तक कि इसी दुख में वह मर गया। अज़ीज़े मिस्र के मरते ही ज़ुलेखा के भी बुरे दिन आये। आखिर यह हालत हो गई कि यूसुफ़ के रास्ते पर एक छोटी-सी मडैया बना कर –

ब हसरत बर सरे राह नशस्ते
खरोशां बर गुजरगाहश नशस्ते।

उसके रास्ते में बैठ जाती और पागलों की तरह रोती-धोती और चीखती-पुकारती रहती थी। लड़के आते, उसे छेड़ते। इश्क ने पागलपन की जगह ले ली थी। कैसी दुख-भरी तस्वीर है। यह वही महलों वाली ज़ुलेखा है जो आज इस हालत को पहुँच गई है।

जब इस पागलपन को एक मुद्दत बीत गई तो एक रोज नाकामी और निराशा से झल्लाकर ज़ुलेखा ने अपने खुदा को चूर-चूर कर डाला और इसी पागलपन को हालत में हजरत यूसुफ़ के पास गई। यूसुफ़ ने हैरान होकर नाम-पता पूछा, ज़ुलेखा को पहचान न सके। ज़ुलेखा बोली –

बिगुफ्त आनम कि चूं रूये तू दीदम

तुरा अज़ जुमला आलम बरगुज़ीदम।

मैं वह हूँ कि जब मैंने तेरी सूरत देखी तो तुझे सारी दुनिया से अच्छा समझकर चुन लिया।

फिशांदम गंजो गौहर दर बहायत

दिलोजां वक्फ कर्दम दर हवायत।

तेरे मोल पर अपना खजाना और जवाहिरात लुटा दिये और अपना दिल और जान तुझ पर निछावर कर दी।

जवानी दर गमत बरबाद दादम

बरीं रोजे कि मो बीनी फितादम।

तेरे गम में अपनी जवानी बर्बाद कर दी जिसका नतीजा आज तू देख रहा है।

यह सुनकर हजरत यूसुफ़ को बहुत तकलीफ हुई और वह रोने लगे। किस्सा कोताह, उनकी दुआओं ने ज़ुलेखा के दुबारा जबानी और रूप दिलवाया और तब खुदा की इजाजत से उन्होंने ज़ुलेखा से शादी कर ली।

यह है ज़ुलेखा का बहुत मशहूर किस्सा। ज़ुलेखा किसी तरह ऊँचे चरित्र का नमूना नहीं कही जा सकती। उसके प्रेम का स्थान बहुत नीचा है। वह एक चंचल स्वभाव और विचारों की स्त्री है और गंदी इच्छाओं पर ईमान और सब कुछ लुटा सकती है। जिन हालतों में जो कुछ उसने किया वही हर एक मामूली औरत करेगी। इसलिए कहा जा सकता है कि ज़ुलेखा एक हद तक सच्चाई के रंग में रंगी हुई हैं। इससे हजरत जामी का शायद यह मतलब होगा कि उसकी कमजोरियाँ दिखाकर यूसुफ़ की बड़ाइयों की इज़्ज़त बढ़ायें और इस इरादे में वह जरूर कामयाब हुए हैं।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अगस्त 1909]

मजनूँ

मजनूँ फारसी और अरबी इश्क की दुनिया का बादशाह है मगर उसकी दास्तान पढ़कर ताज्जुब होता है कि उसे यह जगह कैसे मिल गई। न कोई दिलचस्पी है और न कोई वाकया। बस वह आशिक पैदा हुआ, आशिक जिया और आशिक मरा गोया उसकी जिंदगी ही इश्क थी। इससे गरज नहीं कि इतिहास हमें उसका हवाला देता है या नहीं। इतिहास हुस्न-ओ-इश्क का जिक्र नहीं करता। हाँ, यह सब जानते हैं कि बड़े से बड़े नाम पैदा करने वाले, बड़े से बड़े मुल्क जीतने वाले को वह अमर जीवन नहीं मिला। उसके नाम पर शायर का कलम झूमता है। उसके नाम से इश्क की दुनिया कायम है वर्ना अब ऐसे आशिक कहाँ। वह आशिकों की आहों, उम्मीदों, नाउम्मीदी, पागलपन, आत्मविस्मृति की जिंदा तस्वीर है। वह खुद एक कवि की सुंदर कल्पना है। फारस और अरब के शायरों ने आशिक के लिए जो जगह कायम की है मजनूँ उसी का हकदार है। वहाँ का आशिक एक लंबा, कमजोर, दुबला-पतला आदमी होता है। उसके नाखून और बाल बड़े-बड़े होते हैं, बदन पर कोई कपड़ा नहीं होता और अगर होता है तो गरेबाँ से

दामन तक फटा हुआ, आँखों से आँसुओं को नदी जारी, गाल पीले, नाखून से बदन खसोटे हुए, जमीन पर खाक-धूल में लोटता हुआ, पागल, मतवाला, हद से ज्यादा कमजोर दिल, मस्त ऐसा कि माशूक को भी न पहचाने, पहाड़ों और जंगलों में खाक छाने, न कुछ खाये न पिये, खाये तो गम, पिये तो आँसू, हवा के सहारे जिंदा रहे, ये आशिकों की ख़ासियतें हैं और मजनूँ में ये ख़ासियतें हद को पहुँच गई हैं।

पुराने जमाने के हीरों का आम कायदा है कि वह उसी वक्त पैदा होते हैं जब उनके निराश माँ-बाप पहुँचे हुए फकीरों और अल्लाह के दोस्तों की चौखटों पर माथा रगड़ते-रगड़ते बूढ़े हो जाते हैं। मजनूँ ने भी यही ढंग अपनाया। आप पैदा हुए तो बाप ने सारी दौलत लुटा दी। यह बच्चा माँ के पेट से आशिक पैदा हुआ, बूढी दाई की गोद में उसे चैन न आता, रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा लेता मगर जब कोई खूबसूरत औरत गोद में लेती तो आप खिल जाते।

बा दायये खुद न मी शुदे राम
बे माहरुख न दाश्त आराम

अपनी दाई के बस में नहीं आता था और किसी चन्द्रमुखी के बिना चैन न लेता था।

गर सौते खुशश बगोश रफ्ते

आं तिफ़्ल दमे जे होश रफ्ते

अगर कोई अच्छी आवाज सुनता तो झूम उठता और मस्त हो जाता।

ज्योतिषियों ने जब इस आशिक लड़के का सितारा देखा तो बोले कि 'यह उठती जवानी में पागल हो जायेगा।'

कां तिफ़्ल व सेले रोजगारे

दीवाना शवद जे बेह्रेयारे

जमाने के बहाव के साथ दीवाना हो जाये किसी माशूक के इश्क में।

दर इश्के बुते फसाना गरदद

रुसवा शुदये जमाना गरदद

माशूक के इश्क में कहानी की तरह सारी दुनिया में मशहूर हो जायेगा।

लेकिन फितदश गहे जबानी

दरसर हवसे चुना के दानी (हातिफी)

लेकिन जब उस पर जवानी आयेगी तो उसके सर में एक हवस पैदा हो जायेगी जिसे इश्क कहते हैं।

अज़ इश्क बुते नजंद गरदद

दीवाना ओ मुस्तमंद गरदद

इश्क में बदनाम, पागल और परीशान होगा।

जब लड़के की पढ़ाई का वक्त आया तो माँ-बाप ने उसे मकतब में बिठा दिया।

इस मकतब में कुछ लडकियाँ भी पढ़ती थीं। लैला उनकी रानी थी। हुस्न और नजाकत में लाजवाब। आशिक मजनूँ ने उसे छाँटा। दोनों मकतब में बैठे-बैठे इशारे-नजारे करते। इश्क रंग लाने लगा। (समझदार लड़के और लड़कियों को एक ही मकतब में पढ़ाना ठीक है या नहीं इस सवाल पर राय कायम करने में यह दास्तान पढ़ने वालों को बहुत दिक्कत नहीं हो सकती।)

आ गुलशने हुस्न रा ब एक बार
शुद कैस ब नक्दे जां खरीददार

कैस यानी मजनूँ इस हुस्न के बाग को फौरन ही अपनी जान की कीमत देकर खरीदने पर तैयार हो गया।

लैला चू रफीके खेश दीदश
ऊ नीज ब मेहे दिल खरीदश

लैला ने जब मजनूँ को अपना दोस्त पाया तो उसने भी उसे अपने दिल की मेहरबानी से मोल ले लिया।

इश्क आमद व दर्द सीना जा कर्द

खुद रा बदो यार आशना कर्द

इश्क आया और सीने में दर्द की जगह पैदा की और अपने आप को दोनों से परिचित कराया।

दर खानये सब्र आतश उफ्ताद

शुद खिरमने नंगोनाम बरबाद

सब्र की जगह पर आग गिर पड़ी और इज्जत-आबरू का खलिहान बर्बाद हो गया।

धीरे-धीरे यह भेद लड़कों पर खुल गया। चर्चा फैली। लैला की माँ ने यह हालत देखी तो लड़की को मकतब से उठवा लिया। समझाने लगी।

गुफ्तश के शनीदम अज़ फलाने

का शुफ्तईतू शुदी जवाने

मैंने किसी से सुना है कि तू किसी जवान पर आशिक हो गई है।

वीं हम के तू नीज असीरे रूये

आजुर्दा जे जख्मे तीरा रूये

और यह भी कि तू इश्क में फँसी तो उसके जो काला सियाह है।

गीरम बुअदत हजार आशिक

माशूका शुदन जे तू चे लायक

मैंने माना कि तेरे हजारों आशिक हैं लेकिन तुझे किसी का आशिक होने की क्या जरूरत।

दुख्तर कि ब ईनो आ न शीनद

जुज़ रू सियही दिगर न बीनद

लैला ने माँ की बात न सुनी और सिवाय मुँह काला करने के कोई सूरत नजर न आई।

गुल रा शरफ ओ लताफते हस्त

चंदां के न कर्द कस बदूदस्त

फूल की इज़्ज़त और उसकी नजाकत तभी तक है जब तक कि कोई उसे न छुए।

आं कम के गिरफ्त आ कर्द बूयश

अज़ दस्त बेफगनद बकूयश

जैसे ही आदमी ने उसको छुआ और सूँघा, हाथ में रखने के बदले मुहल्ले में फेंक दिया।

तरसम के चू गरदद ई ख़बर फाश

बदनाम शवी मियाने औबाश

मैं डरती हूँ कि अगर यह बात फैली तो तू बदमाशों में बदनाम हो जायेगी।

सूफी कि रवद ब मजलिसे मैं

वक्ते बचक्रद प्याला बरवै

सूफी जब शराब की मजलिस में जाता है तो वह छलकता हुआ शराब का प्याला चढ़ा जाता है।

आं कस कि मगस जे कासा रानद

नाख़ुरदन ओ ख़ुरदनश न दानद (खुसरो)

वह आदमी जो प्याले में से मक्खी निकाल देता है तो वह उसका खाना और नहीं खाना नहीं जानता यानी खाना न खाना बराबर समझता है।

मगर लैला पर इन नसीहतों का वही असर हुआ जो आशिकों पर हुआ करता है।

उसने फौरन इन बातों से अपने को अनजान जताया, भोली-भाली लड़की बन गई और कहने लगी, 'अम्मां, इश्क क्या होता है?'

कै मादर दहर इश्क गो चीस्त

माशूक कुदाम व आशिकम कीस्त

ऐ मेरी माँ, इश्क क्या चीज है, मैं किसकी आशिक हूँ और मेरा माशूक कौन है?

आं इश्क गुलेस्त दर बहारे

या नाम दिहेस्त दर दयारे

वह इश्क बहार का कोई फूल है क्या या किसी मुकाम का नाम है?

या इश्क जे जिन्स खुर्द पिनहास्त

अज़ बहे खुदा ब मन बिगो रास्त

या वह इश्क कोई छिपी हुई चीज है, खुदा के वास्ते मुझे अच्छी तरह ठीक-ठीक बता।

हरगिज न शनीदाएम ई नाम

लफ्जे के नीस्त दर जहाँ आम

मैंने यह नाम कभी नहीं सुना। ऐसा कोई लफ्ज दुनिया में आम नहीं है।

माँ बेचारी सीधी-सादी औरत थी। लड़की की बातों पर यकीन आ गया। इधर इश्क ने और पाँव निकाले। मियां मजनूँ मदरसे जाते और रो-पीटकर घर चले आते। आखिर जब देखा कि इस रोने-धोने से काम न चलेगा तो एक दिन आप अंधे बन बैठे और लैला के दरवाजे पर जाकर रास्ता पूछा। लैला ने उनका हाथ पकड़कर रास्ता बताया। दिल की कहानी कहने-सुनने का भी मौका मिल गया। अब तो आपको चस्का फ्ड गया। अब आप फकीर बनकर लैला के दरवाजें पर पहुँचे और आवाज लगाई, लैला ने आवाज़ पहचान ली। खुद भीख लेकर दरवाजे पर आई। नजरें मिलीं ओर दिल ठंडे

हुए। फिर तो मियां मजनूँ रोज एक न एक स्वांग भरते यहाँ तक कि बहरूप खुल गया। लोग मजनूँ की ताक में रहने लगे कि मौका पायें तो हमेशा के लिए किस्सा पाक कर दें। यह पांसा भी पट पड़ा। लैला की जुदाई ने मजनूँ को पागल बना दिया।

दीवानए इश्क शुद ब एक बार

रुसवाये मुहल्ला गश्त ओ बाजार

वह इश्क में पागल हो गया। मुहल्ले-बाजार में बदनाम हो गया।

गश्ते सरोपा बरहना पैवस्त

तिफ़्लाने कबीला संगे दरदस्त

हमेशा नंगे पाँव और नंगे सर रहता और कबीले के बच्चे उसे पत्थर मारते।

दर कू बफुगां जे संगे एशां

दरखाना बजां जे पंदे खेशां

मुहल्ले में उनके पत्थरों से परेशान और घर में घर वालों की नसीहत से तंग।

हर हर सरे कोह फसानए ऊ

दर हर महफिले तरानए ऊ

हर पहाड़ की चोटी पर उसी की कहानी थी और हर मफफिल में उसी का तराना था।

मजनूँ का इतना बुरा हाल देखा तो बाप को फिक्र हुई। पहले तो समझते रहे कि यह इश्क यूं ही है, होश आयेगा तो आप ही असर जाता रहेगा। मगर जब देखा कि हर रोज रंग गाढा होता जाता है तो एक दिन आपने मजनूँ से पूछा – तुम्हारी यह क्या हालत है? क्या फिक्र है? इस पागलपन का क्या सबब है? अगर इश्क ने सताया है तो माशूक कौन है?

परवानए शोलए चे शमई
आशुफ्ताये गुलरुखे चे जमई

तू किस चिराग के शोले का परवाना है और किस फूल जैसे गालों वाले का आशिक है?

आहुए कुदाम लालाज़ारत
कर्द अज़ नज़रे चुनी शिकारत

तेरा हिरन किस बाग का है जिसने एक निगाह में तुझे शिकार कर लिया?

मगर मजनूँ की अक़्ल बिल्कुल ठिकाने न थी। बाप को भी न पहचान सका। पूछने लगा – तुम कौन हो, कहाँ से आए हो? और जब मालूम हुआ कि यह बुजुर्ग मेरे बाप हैं तो बोला –

मजनूँ गुफ्तश बिगो पिदर चीस्त
गैरज़ लैला कसे दिगर कीस्त

मजनूँ ने उससे कहा – बाप क्या चीज है, सिवाय लैला के दूसरा कौन है।

नामद जे मए कि इश्क दादश

अज़ मादरो अज़ पिदर बयादश

उसको इश्क ने जो शराब पिलाई है उसमे वह माँ-बाप को भूल गया है।

बेटे का तो यह हाल, बूढ़े बाप ने नसीहतों का दफ्तर खोल दिया। दुनिया की ऊँच-नीच सुझाई, कमाल पैदा करने की नसीहत की और अपनी लंबी-चौडी बातें औरतों की बेरुखी और मक्कारी पर खत्म कीं।

जीं शेफ्तगी व खामकारी

बिसियार कशी जे दहर खारी

इस मुहब्बत और नातजुर्बकारी की वजह से तू दुनिया में बहुत बेइज़्ज़त होगा।

खाही चू सआदते गरामी

दानिश तलब ओ बलंद नामी

अगर तू चाहता है कि खुशकिस्मत हो तो इल्म और बड़ा नाम हासिल कर।

अकनूं कि जवानओ होशमंदी

बायद तलबीदन अर्जुमंदी

अभी तू जवान और समझदार है, तुझे चाहिए कि इज़्ज़त और नाम पैदा करे।

फर्दा कि शवी बसाने मन पीर

अफसोस खुरी व नीस्त तदबीर

कल तू मेरी तरह बुड्ढा हो जायेगा फिर अफसोस करेगा लेकिन तब कोई इलाज न होगा।

बा अस्ल ओ नसब मबाश मगरूर

कां हस्त जे मर्दुमी दूर

खानदान और जात-पांत पर घमंड न कर क्योंकि ये बातें मर्दानगी से दूर हैं।

कस मेह्रो वफा जे जन न जूयद

कज़ शोरा ज़मीं समन न रूयद

कभी औरत से मुहब्बत और मेहरबानी की उम्मीद न रखनी चाहिए. क्योंकि बजर जमीन में चमेली कभी नहीं लगती।

चश्मश कि नजर बनाज़ कर्दा

बर तू दरे फितना बाज़ कर्दा

उसकी चितवन ने एक खास नजर करके तुझ पर फितने और फसाद का दरवाजा खोल दिया है।

मगर आशिकों पर नसीहतों का असर कब हुआ है। खासतौर पर ऐसी नसीहत का जिसमे दिल की हालत का जरा भी खयाल न रक्खा गया हो और जिसमे हमदर्दी का काई पहलू न हो। मजनूँ ने इसके जवाब में मजबूरी और बेबसी जतायी और किसी कदर बेअदबी के साथ कहा, 'आप इस गली से वाकिफ नहीं, आप मेरे दर्द को जया जानें, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए।'

ईं शेफ्तगी बदस्ते मन नीस्त
कस दुश्मने जान खेश्तन नीस्त

यह इश्क मेरे बस का नहीं है क्योंकि कोई आदमी अपनी जान का दुश्मन नही होता।

खाही जे फिराके ऊ न नालम
बरखेज ओ बरारश अज़ ख़यालम

अगर तू चाहता है कि मैं उसकी जुदाई में न रोऊ-चिल्लाऊँ तो उठ और उसका खयाल मेरे दिल से निकाल दे।

खिजलतजदा ओ सियाहकारम
वज़ कर्दये खेश शर्मसारम

मैं कुसूरवार हूँ और अपने किये पर शर्मिंदा हूँ।

चूं नीस्त बदस्त अख्तियारम

बगुजार पिदर, मरा बकारम

जब मुझे अपने पर अख्तियार नहीं तो यही अच्छा है कि ऐ बाप तू मुझे मेरी हालत पर छोड़ दे।

आं बेह कि नसीहतम न गोई

दस्त अज़ मनो कारे मन बशोई

यही अच्छा है कि तू मुझे कोई नसीहत न कर और मुझसे और मेरे काम से हाथ धो ले।

आं दीदा कि आमद अज़ अज़ल कूर

अज़ यारिए सुरमा कै दिहद नूर

वह आँख जो पैदा ही अंधी हुई उसको सुरमे की मदद से क्या रोशनी मिल सकती है।

पंदम चे दिही, चे जाये पंदस्त

पंदे तू मरा न सूदमंदस्त

तू मुझे नसीहत करता है, यहाँ नसीहत की क्या जगह है, तेरी नसीहत से मुझे क्या फायदा।

अब जवाब का आखिरी टुकड़ा मतलब से भरा हुआ है जो एक हद तक असलियत का रंग लिये हुए है।

ऊ नै लैला ओ मन न मजनूँ

यक तन शुदाएम हर दो अकनूं

वह लैला नहीं है और मैं मजनूँ नहीं हूँ। हम दोनों अब एक बदन हो गये हैं। उधर लैला की हालत भी खराब थी। दिन-रात रोती-धोती रहती थी।

मी गुफ्त कि आह चूं कुनम चूं

मजनूँ शुदाअम जे इश्के मजनूँ

कहती थी कि हाय मैं क्या करूँ। मजनूँ के इश्क में खुद मजनूँ हो गई हूँ।

ऐ बादेसबा चू मी तवानी

कज़ मन ख़बरे बाऊ रसानी

कहती, ऐ सुबह की नर्म और ठंडी हवा, अगर तुझसे हो सके तो मेरी हालत उससे कह देना।

मन हम जे तू कुश्तए फिराकम

जुफ्तम ब गमत गरज तू ताकम

मैं भी तेरी जुदाई की मारी हुई हूँ। अगरचे तुझसे जुदा हूँ लेकिन तेरे गम के साथ हूँ।

ऐ दोस्त बिया दबाये मन कुन

फिक्रे मनो दर्दहाय मन, कुन

ऐ दोस्त आ और मेरी दवा कर, मेरे दर्द की फिक्र कर।

मसलत न हरीफे रंजो दुर्दम।

दानी कि जनम न चूं तू मर्दम।।

तुझ जैसा मेरे गम और दर्द का साथी नहीं है। तू जानता है कि मैं औरत हूँ मर्द नहीं हूँ।

ज़न जे आतशे इश्क बेश सोज़द

खाशाके ज़ईफ पेज सोज़द

औरत इश्क की आग में ज्यादा जलती है जैसे कमजोर घास-फूस फौरन ही जलकर राख का ढेर हो जाते हैं।

मजनूँ के बाप ने जब देखा कि खाली नसीहतों और तसल्लियों से काम न चलेगा और लड़का बिल्कुल दीवाना हो चुका है तो लैला के बाप से दरख्वास्त की कि मजनूँ से लैला की शादी कर दें मगर लैला के बाप ने बड़ी बेदर्दी से इंकार कर दिया और अपनी मजबूरी इन शब्दों में व्यक्त की —

फर्जन्दे तू देव जिश्त खूईस्त

दीवाना ओ तुंद ओ हर्जगोईस्त

तेरा बेटा शैतान की सी प्रकृति रखता है। वह पागल है, सख्त तबीयत है और बकवास करता रहता है।

इस्लाह पिजीर नीस्त मजनूँ

अज़ वर्तये अक़्ल हस्त बेरूं

मजनूँ सीधे रास्ते पर नहीं आ सकता। वह अक़्ल के घेरे से दूर जा पड़ा है।

बदनामतरे अजू न बीनम

खुदकामतरे अजू न बीनम

मैंने उससे ज्यादा बदनाम और उससे ज्यादा मतलबी दूसरा नहीं देखा।

दानी कि मरा न बा तू जंगस्त

न अज़ तू व खेशिये तू नंगस्त

तू जानता है कि मेरी तुझसे लड़ाई नहीं है और न तुझसे और तेरे रिश्तेदारों से मैं कोई शर्म रखता हं।

ईं कार वले न कारे सहसस्त

दीवानए तू न यारे अहलस्त

लेकिन यह काम आसान नहीं है क्योंकि तेरा दीवाना दोस्ती के लायक नहीं है।

तूती र्कि ब चोग्द हम नफस कद

बुलबुल र्कि ब जाग दर कफस कद

यह एक ऐसी ही बात है जैसे तूती का साथी उल्लू को बनाना या बुलबुल के साथ कौवे को पिंजरे में रखना।

मजनूँ के बाप ने इन ऐबों की सफाई में बहुत जोरदार तकरीर की और कहा कि आपका यह खयाल बिल्कुल गलत है। मजनूँ न तो बदमिजाज है और न बदमस्त। उसे सिर्फ इश्क की बीमारी है, उसकी दवा मिली और वह होश में आया। आप खुद उसे देख लें, उसकी आदत का इम्तहान कर लें, किसी के कहने-सुनने में न आयें। हुक्म हो तो हाजिर करूँ। वह इस बात पर राज हो गया और हज़रत मजनूँ बुलाए गए मगर सवाल-जवाब की नौबत आने के पहले ही किस्मत की बात कि लैला का कुत्ता उधर से निकल पड़ा। 'दीवानारा हुए बसस्त' मजनूँ को अब कहाँ सब्र, आप उठे और दौड़कर कुत्ते को सीने से चिपका लिया, कभी उसके नाखूनों को चूमते, कभी उसके मुँह को प्यार करते और उसकी तारीफों के पुल बाँध दिये।

बरजस्त जे जाये खेश आजाद

वज़ शौक बदस्तओ पायश उम्राद

अपनी जगह से बेचैन होकर उठा और उसके पाँव पर गिर पड़ा।

मालीद ब पुश्त ओ पाये ऊ रूए

कीं पाये गुज़श्ता जस्त जां कूए

उसकी पीठ और पाँव पर अपना चेहरा मला क्योंकि उसके पाँव लैला के मुहल्ले से गुजरते थे।

आवुर्द बहस्रतश दर आगोश

खारीद ब नाखुन आं सरोगोश (हातिफी)

बड़े अरमान से उसे गोद में लिया और उसका सर और कान खुजलाने लगा।

पायश जे कुलूखे खार मीरुफ्त

वज़ पाओसरश गुबार मी रुफ्त

उसके पाँव से काँटे साफ करता था और उसके पाँव और सर की मिट्टी साफ करता था।

दामन बतहश फिगंदा दर खाक

मीकर्द ब आस्तीं सरश पाक

अपना दामन उसके नीचे बिछाता और उसका सर आस्तीन से झाड़ता।

बोसीदा सरश ब रुफ्क ओ आरज्म

खारीद तनश बनाखुने नर्म

उसका सर प्यार से चूमता और उसका बदन धीरे-धीरे नाखून से खुजाता।

गुफ्त ऐ गिलेस्त अज़ वफा सरिश्ता

नक्शत फलक अज़ वफा सरिश्ता

कहता जाता है कि तेरी मट्टी वफा से गूंधी हुई है और तेरी तस्वीर वफा के आसमान से बनाई हुई है।

हमनान कसां हलाल खुर्दा

हम खुर्दा खुद हलाल कर्दा

तूने जिसका खाया उसे हलाल करके खाया और अपना खाया हुआ हलाल कर दिया।

सद रौज़ये खुश बजेरे पायत

दर रौज़येगह बिहिश्त जाएँत

तेरे पाँव के नीचे सैकड़ों बाग हैं और हर बाग में एक जन्नत है।

सद खूं जे लबत चकीदा दर खाक

वज़ लौसे ख़बासतत दहन पाक

सैकड़ों खून तेरे होंठ से टपके लेकिन तेरा मुँह खबासत से पाक है।

गर तू सगे अज़ सरिश्ते दौरां

ईनक सगे तू मनम बसद जां

अगरचे तू दुनिया का कुत्ता है लेकिन अब मैं तेरा कुत्ता हूँ।

मजनूँ की जबान ने इस वक्त कमाल का जोर दिखाया। यह गोया अपनी उम्मीदों और मुरादों का मर्सिया था। मजनूँ से दामन छुड़ाकर लैला के बाप ने बेटी की शादी इब्ने सलाम से कर दी। लैला को बहुत गम हुआ। जहाँ तक शर्म ने इजाजत दी उसने अपनी नाराजी जाहिर की मगर जब कुछ जोर न चला तो रो-धोकर चुप हो गई। खुशी की महफिल सजाई गई। काजी साहब तशरीफ लाये। शादी की रस्में अदा की गईं और दूल्हा-दुल्हन के मिलने की तैयारियाँ होने लगीं। दूल्हा बन-ठन के दुल्हन के कमरे में आया।

आमद ब सूए उरूस दामाद
बा खातिरे खुर्रम ओ दिले शाद

बड़ी खुशी और शौक से दूल्हा दुल्हन की तरफ बढ़ा।

दर पहलुए ज़न निगार बनशस्त
मी खास्त के सूए ऊ बर दस्त

सवाँरी हुई दुल्हन के पास बैठा और चाहता था कि उस पर हाथ डाले कि —

बर रूये जदश तमाचए सख्त

मदां गूना दरू फिताद अज़ तख्त

दुल्हन ने दूल्हे को इस जोर से तमाचा रसीद किया कि वह तख्त से नीचे गिर पड़ा।

गुफ्तश चे ख़याले खाम दारी

गुल बूए मकुन जे काम दारी

और उससे कहा कि किस बेहूदा खयाल में है। मेरी जवानी के फूल का रस न चूस।

ई तख्त मुकामे ताजदारीस्त

कीं खुतबा बनामे शह्रयारीस्त (हातिफी)

यह मुकाम ताजदार का है और यह खुतबा बादशाह का।

लैलीश चुना तमाचए जद

कि उफ्ताद मर्द मुर्दा बेखुद

लैला ने उसके इस जोर से तमाचा मारा कि वह मुर्दे की तरह गिर पड़ा।

यहाँ किस्से में कुछ विरोध है। निजामी और हातिफी कहते हैं कि लैला की शादी इब्ने सलाम से हुई और दोनों की एक राय है कि लैला ने अपने लालची शौहर के मुँह पर तमाचा मारा। आखिर वह गरीब चांटा खाकर भाग खड़ा हुआ और तलाक के सिवा कोई सूरत नजर न आई। मगर खुसरो

फरमाते हैं कि मजनूँ की शादी नूफल की लड़की से हुई। नूफल शायद मजनूँ के कबीले का सरदार था। उसे मजनूँ की परेशानी पर तरस आया। मजनूँ की तरफ से लैला के बाप के पास शादी का पैगाम भेजा और इंकार की हालत में लड़ाई की धमकी दी। लैला का कबीला भी लड़ाई में एक ही था। लड़ाई हुई और लैला का बाप हारा। मगर जब उसके कबीले वालों ने इस मार-काट को खत्म करने के लिए लैला को मार डालना चाहा तो मजनूँ बेताब हो गया। उसने नूफल से दरख्वास्त की कि खुदा के वास्ते इस हंगामे को खत्म कीजिए।

आ तीर मज़न बदुश्मनां पेश
कजं वै दिले दोस्तां कुनी रेश

दुश्मनों पर वह तीर न चला, जिससे दोस्तों का दिल जख्मी हो जाएँ।

चूं जामये बख्ते मन कबूदस्त
अज़ कोशिशे मर्दुमा चे सूदस्त

चूंकि मेरी किस्मत का लिबास आसमानी है यानी मैं बदनसीब हूँ, लोगों की कोशिश से क्या फायदा।

नूफल ने अपनी फौज हटा ली मगर उसकी बहादुरों जैसी हमदर्दी ने यह न चाहा कि वह मजनूँ को अपना दामाद बना ले। मजनूँ ने रिश्तेदारों के

समझाने और नूफल की बहादुरी से प्रभावित होकर यह शादी मंजूर कर ली। धूम-धाम से ब्याह हुआ मगर –

चूं शुद गहे आ कि खुर्रम ओ शाद
हम ख्वाबा शवंद सर्व ओ शमशाद

खुशी से भरी हुई घड़ी में सरो और शमशाद जैसे दूल्हा-दुल्हन एक कमरे में सोने गये।

अज़ तख्ते शही सुबुक फुरू जस्त
बर रूये जमी चू खाक बनशस्त

मजनूँ दुल्हन की सेज से नोचे कूदा और जमीन पर मट्टी की तरह बैठ गया।

मह दर पये आं कि शवद जुफ्त
दीवाना जे माहेनौ बर आशुफ्त

चाँद जैसी दुल्हन इस फिक्र में कि अपने दूल्हे से मिले और मजनूँ की ऐसी हालत जैसी नये चाँद पर पागल का पागलपन और बढ़ जाता है।

अज़ बसके गिरीस्त सीना पुरताब
शुद नक्शे बिसात शुस्ता जां आब

सीने को आग की बेचैनी से इस कदर रोया कि आँसुओं से फर्श के फूल बेल धुल गये।

लैला ने यह खबर सुनी तो बेचैन हो गई। उस वक्त शिकायत के ढंग पर एक चिट्ठी लिखी, कोमल भावनाओं से भरी हुई, कि मैं तुम्हारे नाम पर कसम खाये बैठी रहूँ, तुम्हारे लिए रोऊँ, तुम्हारे वियोग में जलूँ और घर वालों के ताने सहूँ और तुम वफादारी की शर्त को इस बेदर्दी से भुला दो।

मन बे तू चुनी बगम नशस्ता

अज हर चे बजुज तू रूये बस्ता

मैं तेरे गम में इस तरह बैठी हुई हूँ और सिवा तेरे सबसे मुँह बाँधे हुए हूँ।

चू साया रवद बराहे बा मन

फरके न कुनी जे साया ता मन

तू मेरे रास्ते में साये की तरह रहता है, मुझमें और मेरे साये में फर्क नहीं करता।

दीदी के ब मारिजे हलाकम

चूं बाद बरो शुदी जे खाकम

तू देख रहा है कि मैं मरने के किनारे तक पहुँच गई हूँ और तू मेरी खाक पर हवा की तरह गुज़र रहा है।

बेगाना सिफत खराम कर्दी

बेगानगी तमाम कर्दी

गैरों का रास्ता अख्तियार कर रहा है और परायेपन को तूने हद कर दी।

अकनूं ब विसाल खुफ्तये शाद

हमखाबये तू मुबारकत बाद

अब तू अपनी दुल्हन के साथ खुशी-खुशी सो रहा है, तुझे तेरे साथ सोने वाली मुबारक हो।

बाई हमा दोस्तदारी यारम

बा यारे तू नीज़ दोस्तदारम

मैं इन तमाम बातों पर भी तेरी दोस्त हूँ और तेरी साथी की भी दोस्त हूँ।

आं यार कि दोस्त दाश्त यारम

दुश्मन बुअदम अर न दोस्त दारम

वह दोस्त जो मेरे प्रेमी को दोस्त रक्खे अगर मैं उस दोस्त न रक्खूँ तो उसकी दुश्मन हूँ।

गर तू ब कुनी ब मेह्र यादम

अज़ तरबियते गमे तू शादम

अगर तू मेहरबानी से मुझे याद करे तो तेरे गम में भी खुश हूँ।

मजनूँ तो आशिक ही थे उसका एक लंबा-चौडा जवाब लिखा। खूब रोये गिड़गिड़ाये और मान लिया कि मैंने शादी की, मजबूर था, बेबस था मगर

मैंने अगर इस माशूक की सूरत देखी हो तो मेरी आँखें फूट जायँ। कैसा नाजुक शेर हैं –

मुर्ग कि परश बिरेख्त अज तन
बेहूदा बुअद कफस शिकस्तन

वह चिड़िया जिसके पर उखाड़ दिये गये उसका पिंजड़ा तोडना फिजूल है।

यह खुसरो की रवायत है मगर हमारे खयाल में निजामी और हातिफी की रवायत ज्यादा सही है। मजनूँ अपने बाप को कई बार बेअदबी से जवाब दे चुका था। इस वक्त सिर्फ अदब की खातिर उसका काबू में आ जाना मुमकिन नहीं मालूम होता। इसके विपरीत लैला औरत थी और अपने जिद्दी माँ-बाप की ज्यादा खुल्लम-खुल्ला मुखालिफत नहीं कर सकती थी। इसलिए जब मजनूँ को मालूम हुआ कि लैला की शादी इब्ने सलाम से हो गई तो उसने एक दर्द से भरी हुई चिट्ठी लिखी थी। खुली-खुली शिकायतें की थीं। तुम वादा तोड़ने वाली हो, दगाबाज हो, फरेबी हो।

दानी ब मनत चे वादहा बूद
हरगिज ब तू ईं गुमां कुजा बूद

तू जानती है कि मुझसे तूने क्या वादा किये थे, मुझे तुझसे यह उम्मीद कहाँ थी।

ऐ गंजे सुखन दरोग वादा

वै दिलबरे बे फरोग वादा

ऐ बातों के खजाने, ऐ वादा न पूरा करने वाले, ऐ माशूक, ऐ वादा भूल जाने वाले।

गाहम ब सुख़न फरेब दादी

बा वादा गहे शकेब दादी

कभी तूने मुझे अपने वादों से तसल्ली दी और कभी अपनी बातों से धोखा दिया।

लैला ने इसका बड़ी गंभीरता से जवाब दिया और मजनूँ की तसल्ली की।

आजकल के उर्दू शायरी वाले माशूकों की तरह खंजर हाथ में न लिये रहती थी, वफा की शर्त और कायदे को जानती थी।

अफसानये कस न कर्दा अम गोश

पस खुर्दये कस न कर्दा अम नोश

मैंने किसी की बातों पर यकीन नहीं किया और न किसी का जूठा खाया है।

दानी कि मरा ब तू वयारे

दर बस तने अक्द इख्तियारे

तू जानता है कि मेरी तुझसे दोस्ती है। अपनी शादी करने के लिए तुझे अख्तियार है।

चीजे कि बर इख्तियारे मन बूद

जां मुद्दहयत न गश्ता खुशनूद

जो चीज कि मेरे बस में थी उससे तेरा दुश्मन खुश न हुआ।

कम कुन जे शर्मसारम

मन खुद जे तू इन्फेआल दारम

ज्यादा गुस्सा न हो, मैं शर्मिंदा हूँ। मुझे खुद तुझसे संकोच होता है।

इश्क की बीमारी बढ़ती गई। पहले तो कैस ही मजनूँ थे अब लैला भी मजनूँ (पागल) बनी। शर्म और हया की रोक-थाम कम हुई। उसने एक दिन सपना देखा कि मजनूँ आया है और बहुत दर्दभरे, दिल के टुकड़े कर देने बाले अंदाज में अपनी गम की दास्तान सुना रहा है। रोता है और उसके तलुओं से आँखें मलता है। यह सपना देखते ही बेचैनी के मारे लैला की आँख खुल गई। उसने दिल को फूंक देने वाली एक आह भरी और सुबह होते ही शर्म-हया पर लात मारकर अपने ऊँट पर सवार होकर नज्द का रास्ता लिया और पागलों की तरह मजनूँ को ढूँढ़ने लगी। आह, इस आग ने मजनूँ को बिल्कुल घुला डाला। ऐसा कमजोर हो गया था कि लैला उसे पहचान न

सकी। घुटनों पर सर झुकाए, एक चट्टान का तकिया बनाए, खुले मैदान में, जहाँ न कोई पेड़ न छाया, वह बैठा हुआ था। उसकी मुहब्बत का ही असर था कि जंगल के खूनी जानवर हिरनों के साथ उसके आस-पास बैठे थे। ऊँट इन जानवरों को देखते ही भागा मगर लैला फुर्ती से कूद पड़ी और जानवरों के बीच में से निर्भय निकलकर मजनूँ के पास खड़ी हो गई और उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगी।

आं सर के बखाके रह फितादश
बर जानुए खेश्तन निहादश

वह सर जो रास्ते की खाक पर पड़ा था उसे अपनी जांघ पर रक्खा।

अश्क अज़ रुखे गरीब गमनाक
मी कर्द ब आस्तीने खुद पाक

अपनी आस्तीन से उस गरीब गम के मारे के चेहरे से आँसू पोंछे।

मजनूँ को दोस्त की निकटता ने अधीर कर दिया। लैला उसकी अधीरता से प्रभावित होकर बोली –

ऐ आशिके जार गमगुसारम
मकसूदे तू चीस्त ता बरारम

ऐ मेरा गम खाने वाले आशिक, बता तू क्या चाहता है। तेरी कोई ख्वाहिश ऐसी नहीं जिसे मैं पूरा न कर सकूँ।

आं बेह के दिहेम दस्त बाहम

वां गह ब निहेम सर ब आलम

यह अच्छा होगा कि हम-तुम (हमेशा के लिए) एक दूसरे का हाथ थाम लें और फिर दुनिया में रहें।

यह लहज़ा जुदा न बाशेम

ब हेचकस आशना न बाशेम

पल भर को भी जुदा न हों और दूसरे किसी से कोई मतलब न रक्खें।

मगर मजनूँ को इश्क और रोने-धोने से काम था। शायद लैला से मिलने और उसकी सूरतें निकालने की तरफ उसका खयाल ही नहीं गया था। तड़पना और जलना उसकी तबियत बन गई थी। इस मौके पर शायरों में कुछ मतभेद हो गया है। हजरत खुसरो कहते हैं –

आसूद दो मुर्ग पर दर यके दाम

वामीख्त दो बादा दर यके जाम

दो बुलबुलें एक जाल में ऐसी खुशी से मिल गईं कि जैसे एक प्याले में दो शराबें मिला दी हों।

दर सुब्ह बहम दमीदा अज दूर

दो शोलारा यके शुदा नूर

दूर से सुबह की रोशनी चमकी और दो शोलों से एक नूर पैदा हो गया।

मगर हजरत निज़ामी और हातिफी ने मजनूँ की इश्क की इज़्ज़त बहुत ऊँची कर दी है। चुनांचे इस मौके पर हातिफी ने मजनूँ के पाक दामन पर धब्बा नहीं लगाया। खयाली इश्क को अमली मैदान में कदम नहीं रखने दिया। मजनूँ को उस वक्त लैला की बदनामी का खयाल आया। सारी जिंदगी उसे बदनाम करने में खर्च की, खुद भी दुनिया के ताने सहे और उस पर उंगलियां उठवाईं मगर उस वक्त विरोधियों का डर आड़े आ गया, बोले –

आं बे कि निहाँ जे ईनो आनत

नज़दीके पिदर बरम रवानत

यह अच्छा है कि मैं तुझे बहुत परदेदारी के साथ तेरे बाप के पास ले चलूँ।

दस्तम न दिहद अगर विसालत

काने शवम अज़ तू बा ख़यालत

अगर वे तुझे मेरे साथ रखने पर खुश न हों तो न सही। मैं तेरे खयाल ही से खुश रहूँगा।

जी पस मनम ओ ख़याले तू ऐ दोस्त

ता दस्त दिहद विसालत ऐ दोस्त

और इसके बाद फिर जब तक ऐ दोस्त, तू मुझसे न मिले मैं हूँ और तेरा खयाल।

लैला अपने घर लौट आई। आशिक की इससे ज्यादा और क्या खातिर की जा सकती थी। कुछ दिनों तक वे दोनों इसी गम में घुलते रहे। मजनूँ अब आशिकाना शेर कहकर अपने दिल की आग बुझाने लगा और उन शेरों में दर्द और दिल की तड़प का ऐसा असर होता था कि सुनने वालों के कलेजे मुँह को आ जाते थे। इश्क अपनी आखिरी हद तक पहुँच चुका था, वह इश्क जो आप अपनी मंजिल हो, वह इश्क जो दोस्त की मुलाकात की हदों का पाबन्द न हो, उसका अंजाम और क्या हो सकता था। हातिफी कहता है, लैला ने सपना देखा कि मजनूँ मर गया और उसी दिन उसे मारें गम और बेचैनी के बुखार आ गया। इस बुखार की आग ने दिल की जलन के साथ मिलकर उसका काम तमाम कर दिया। उसके मुकाबले में खुसरो की यह रवायत ज्यादा सही मालूम होती है कि एक दिन लैला बेचैन होकर अपनी कुछ सहेलियों के साथ एक बाग की तरफ निकल गई। घर पर किसी तरह चैन ही न आता था। बाग में वह जमीन पर बैठी हुई अपने दर्द व गम की दास्तान सुना रहीं थी कि इसी अर्से में मजनूँ के एक हमदर्द और

दोस्त उधर आ निकले। जवान लड़कियों का यह जमघट देखा तो लैला को पहचान गए। इस खयाल से कि देखें मजनूँ के पागलपन ने लैला के दिल पर भी कुछ असर किया है या नहीं, आपने मजनूँ को एक दर्द भरी गजल गानी शुरू को। लैला ने सुनती तो जिगर के टुकड़े-टुकड़े हो गए। दीवानों की तरह उठी और उस गजल गाने वाले के पाँव पर अपने गाल रख दिए और मजनूँ की खबर पूछी।

जा गमज़दा कीं तराना रानी
मारा खबरें देह अतंवानी

जिस गम के मारे हुए का यह गीत है, अगर हो सके तो, उसका हाल भी बयान कर।

वह हज़रत इश्क और आशिक्री के भेदों के वाकिफ न थे, अपनी उसी इम्तहान लेने की धुन में बोले – मजनूँ तो चल बसे।

दिल रा ब तू दादा बूद आजाद
जां नीज़ बबेदिली ब तू, दाद

उसने दिल तो तुझे आजादी से दे ही दिया था, आखिरकार जान भी तुझे ही दे दी।

ताजीम्त नजर बसूए तू दाश्त

चू मरहमे आर्जुए तू दाहत

उसने मरते दम तक तेरा रास्ता देखा क्योंकि तू उसकी उम्मीदों का मरहम रखती थी।

लैला यह दिल छेद देने वाली खबर सुनते ही पछाड़ खाकर गिरी और घायल परिंदे की तरह तड़पने लगी। मियां गजल गाने बाले बहुत शर्मिंदा हुए और चाहा कि इस घाव को खुशी को खबरों से भर दें – मजनूँ अभी जिंदा हूँ, नज्द में उसकी दर्दभरी आवाज अब भी सुनाई दे रही है, मैंने तो परखने के लिए झूठ मूठ कह दिया था। मगर इन बातों का लैला के दिल पर कुछ असर न हुआ, रूह को ऐसा सदमा पहुँचा कि सँभल न सकी। घर पहुँचते पहुँचते बुखार आया और हालत बिगड़ गई और मौत के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। मरते वक्त उसने अपनी माँ को बुलाया और उससे बेअदबी और अपनी शरारतों की माफी माँगने के बाद यह आखरी गुजारिश –

चू अज़ पये मरकदे निहानी
पोशी ब लिबासे आ जहानी

जब तू मुझे कब्र में रखने के लिए उस दुनिया का लिबास पहनाए।

अज़ दामने चाक यारे दिल सोज
यक पारा बियार ओ दर कफन दोज

तो मेरे दिल जले दोस्त के दामन का एक टुकड़ा भी कफन में सी देना।

ता बाखुद अजां मुसाहिबते पाक

पैवन्दे वफा बरम तहे खाक (खुसरो)

ताकि मैं उस पाक दोस्त के साथ वफादार रहने का रिरता खाक में भी ले जाऊँ।

रोजे कि बकस्रे जाविदानी

रू आरम अजीं सराये फानी

जिस दिन कि अपने उस हमेशा कायम रहने वाले महल यानी कब्र में इस सराये फानी दुनिया से जाऊँ।

आवाज देह आं असीरे मारा

वां कुश्तये जख्मे तीर मारा

तू मेरे उस कैदी, मेरे तीर के जख्मी को आवाज देना।

अहवाल मेरा चुनां के दानी

गोई बतरीके तर्जुमानी

और जैसा कि तू मेरी हालत को जानती है ज्यों ही त्यों उससे कह देना।

बरगोई कि शमअए जां गुदाजां

वै चश्मो चिरागे इश्कबाजां

और कहना कि ऐ जान पिघलाने वालों के चिराग, ऐ इश्क वालों की आँख के नूर –

लैला जे गमे तू रफ्त दर खाक

पाक आमद ओ रफ्त हम चुनां पाक

लैला तेरे गम में खाक में चली गई। वह जैसी पाक आई थी वैसी ही पाक चली गई।

संगेश कि बरसरे मजारस्त

अज़ कोहे गमे तू यादगारस्त

वह पत्थर जो उसकी कब्र पर है वह तेरे गम के पहाड़ की यादगार का एक टुकड़ा है।

मजनूँ ने जब यह जान-लेवा खबर सुनी तो सर के बाल नोचता, रोता-पीटता लैला के मकान की तरफ दौड़ा। उस वक्त लैला का जनाजा जा रहा था। अपने-पराए जनाजे के पीछे थे। मजनूँ जनाजे के आगे-आगे हो लिया और हँसता, गजलें गाता चला। मौत की खुशी इसी को कहते हैं।

आशिक कि नज़ारए चुनां दीद

बरदाश्त कदम कि हम इनां दीद

आशिक ने यह सीन देखा, कदम उठाए कि अपने दोस्त को साथ देखा।

दर पेश जनाज़ा रफ्त खन्दां

नै दर्द नै दागे दर्दमन्दां

जनाजे के आगे-आगे हँसता हुआ चला, न अपना गम और न गम खाने वालों का खयाल।

नज्म अज सरे वज्द हाल मी खांद

खुश खुश गजलें विसाल भी खांद

जोश के साथ शेर पढ़ता और बहुत खुश होकर पिया मिलन की गजल गाता था।

इस ढंग से वह कब्र तक गया। जब रिश्तेदारों ने लैला की लाश कब्र में रक्खी तो मजनूँ कूदकर अंदर बैठ गया। लोग उसकी इस तहजीब के खिलाफ हरकत पर आग हो गए। तलवारों के वार किए कि छोड़कर भाग जाए मगर वहाँ मजनूँ कहाँ था, सिर्फ उसकी खाक थी। आखिर एक दुनिया छाने हुए बुज़ुर्ग ने उन बेअक़्लों को समझाया।

कीं कार न शहवतो हवाईस्त

सिर्रे जे खूज़ीनये ख्युदाईस्त

यह काम झूठे इश्क और दिखावे की चाह का नहीं है, यह तो एक भेद है खुदा के खजाने का।

वर्ना बहवस कसे न जूयद

कज़ जाने अज़ीज़ दस्त शूयद

वर्ना झूठे इश्क में कोई अपनी प्यारी जान से हाथ नहीं धोता।

खुशवक्त कसे के अज़ दिले पाक

दर राहे वफा चुनी शवद खाक

भाग्यवान है वह आदमी जो पाक दिल के साथ वफा की राह में इस तरह खाक हो जाए।

गर आशिक्री ई मुकाम दारद

तकवा ब जहाँ चे नाम दारद

अगर इश्क यह मुकाम रखता है तो दुनिया में तकवा यानी पाक जिंदगी गुजारना और किस चीज का नाम है।

ता हर दो न दर मुगाक बूदन्द

जे आलाइशे नफ्स पाक बूदन्द

यहाँ तक कि दोनों खाक का ढेर ही नहीं हुए बल्कि दिल की सारी गंदगियों से पाक हो गए।

दाहम मी कुनद हाले जेशां

दर गर्दने मा बबाल एशां

उनसे हमारा हाल परीशान और गर्दन भारी है।

इस तरह इश्क की यह अमर कहानी खत्म होती है। इसमें कथा की न मौलिकता है न खयालों की बुलन्दी। मगर मजनूँ का कैरेक्टर जैसा कि शायरों ने खींचा है खयाली होने पर भी दिलचस्प है। निजामी ने तो इन दोनों प्रेमियों को खुदा के गहरे दोस्तों की महफिल में बिठाया है और उनका जिक्र बड़े अदब और इज़्ज़त से करते हैं। उनका मजनूँ बहुत पाक और ऊँचे कैरेक्टर का आदमी है जिसका इश्क बेखोट और दिल की बुराइयों से साफ-सुथरा है। पागल और मस्त था मगर उसने इंसानियत की हद से बाहर कदम न रक्खा। जब कभी आशिक और माशूक मिले हैं उन्होंने इज़्ज़त-आबरू की शर्तों की बड़ी सख्ती से पाबंदी की है। अलबत्ता खुसरो ने इस कैरेक्टर को इंसानी कसौटी की तरफ खींचा है। इसमें जरा भी शक की गुंजाइश नहीं कि मजनूँ शारीरिक प्रेम की मंजिलें तय करके आध्यात्मिक प्रेम तक पहुँच गया था जहाँ 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रहा।

आं सालिके इश्क कामिले बूद
दीवाना न बूद आकिले बूद

वह इश्क की राह का पहुँचा हुआ मुसाफिर था। पागल न था, अक़्लवाला था।

दाग़श न जे आतशे फतीला

दर्दश न जे गुलरुखे कबीला

उसका दाग आग न था और उसका दर्द यानी इश्क फूल जैसी सूरत वालों से न था।

सरमस्त न अज़ शराबे अंगूर

दर रक्स न अज़ सदाये तंबूर

वह अंगूर की शराब से मस्त न था और सितार की आवाज पर नहीं झूमता था।

बेहोश जे बादये दिगर बूद

अज़ जामे मुराद बेखबर बूद

वह किसी और ही शराब से बेहोश था और अपनी मुराद की शराब के प्याले से चूर था।

आं रफअते शां कि दाश्त मजनूँ

बूद अज़ दर्जाते अक़्ल बेरूं

मजनूँ जो ऊँची शान रखता था वह अक़्ल की पहुँच से बाहर है।

प्रेम एक बड़ा कोमल भाव है जो इंसान को नर्मदिल बना देता है। जिस वक्त नूफ़ल लैला के कबीले से लौट रहा था और मजनूँ ने मार-काट का बाजार

गर्म देखा तो उसका दिल पसीज गया। उसने फौरन लड़ाई बन्द करवा दी। एक बार उसने माली को सरों का पेड़ काटते देखा और उसे अपनी कीमती अंगूठी देकर पेड़ को आरे की तकलीफ से बचाया। इसी तरह बहेलिए को कई हिरन जाल में फँसाए लाते देखा और उसे अपना घोड़ा देकर उन बेजबानों को जान बचाई।

गर्दन मजनश कि बेवफा नीस्त

दर गर्दने ऊ रसन रवा नोस्त

उनकी गर्दन न मार क्योंकि वह बेवफा नहीं हैं और उनकी गर्दन में रस्सी डालना मुनासिब नहीं है।

जब लैला की इब्ने सलाम से शादी हो चुकी थी तो एक दिन मजनूँ उसे देखने के शौक से बेताब होकर लैला के घर चला आया। लैला ने झरोखे से उसे देखा तो बोली, “तुम इस तरह अपनी जान खतरे में क्यों डालते हो?” मजनूँ अपना दुखड़ा रोने लगा कि इतने में इब्ने सलाम को ख़बर हो गई। भरा बैठा ही था। तलवार लिए गरजता हुआ आ पहुँचा और चाहा कि एक ही बार में पागलपन के साथ सर भी खत्म कर दे। मगर उसका हाथ ऊपर का ऊपर उठा रह गया। दूसरे हाथ में तलवार ली। उसकी भी वही गति

हुई। शर्मिंदा होकर मजनूँ के पैरों पर गिर पड़ा और माफी चाही कि मदद कीजिए, मैं तो किसी काम का न रहा। मजनूँ ने जवाब दिया –

आजार कसां मसाज पेशा

काजुर्दगीयत रसद हमेशा

लोगों को तकलीफ न पहुँचा क्योंकि इससे तुझे हमेशा तकलीफ पहुँचती रहेगी।

और वहाँ से चला आया। बंदिश के लिहाज से यह दास्तान ज़ुलेखा की दास्तान से ज्यादा कद्र के काबिल नहीं मगर इसके प्रेम का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रेम की असफलता फारसी शायरों का तरीका है और मजनूँ से ज्यादा अच्छी इसकी कोई मिसाल नहीं।

['कैस' शीर्षक में उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', जनवरी 1913]

गालियाँ

हर एक जाति का बोल-चाल का ढंग उसकी नैतिक स्थिति का पता देता है, अगर इस दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दुस्तान सारी दुनिया को तमाम जातियों में सबसे नीचे नजर आएगा। बोल चाल की गंभीरता और सुथरापन जाति की महानता और उसकी नैतिक पवित्रता को व्यक्त करती है और बदजबानी नैतिक अंधकार और जाति के पतन का पक्का प्रमाण है। जितने गन्दे शब्द हमारे जबान से निकलते हैं शायद ही किसी सभ्य जाति की जबान से निकलते हों। हमारे जबान से गालियाँ ऐसे धडल्ले से निकलती हैं कि जैसे उनका जबान पर आना एक जरूरी बात है। हम बात-बात पर गालियाँ बकते हैं और हमारी गालियाँ सारी दुनिया की गालियों से निराली, घृणित और गंदी होती हैं। हमीं हैं कि एक दूसरे के मुँह से माँओं, बहनों, बेटियों के बारे में गंदी से गंदी गालियाँ सुनते हैं और पैतरे बदलकर रह जाते हैं बल्कि बहुत बार हम इसका एहसास भी नहीं होता कि हमारा कुछ अपमान हुआ है। जिन गालियों का जवाब किसी दूसरी कौम का आदमी तलवार और पिस्तौल से देगा उससे कई गुना घृणित और गंदी गालियाँ हम

इस कान से सुनकर उस कान उड़ा देते हैं। हमारी गालियों से माँ, बहन, बीबी, भाई, कोई नहीं बचता। हम अपनी नापाक जबानों से इन पाक रिश्तों को नापाक करते रहते हैं।

यों तो गालियाँ बकना हमारा सिंगार है मगर खासतौर पर जबर्दस्त गुस्से की हालत में हमारी जबान के पर लग जाते हैं। गुस्से की घटा सर पर मंडलाई और मुँह से गालियाँ मूसलाधार मेह की तरह बरसने लगीं। अपने दुश्मन या विरोधी को दूर से खड़े खरी-खोटी सुना रहे हैं, आस्तीनें चढ़ाते हैं, पैतरे बदलते हैं, आँखें लाल-पीली करते हैं और सारा जोश चंद नापाक गालियों पर खत्म हो जाता है। विरोधी की सत्तर पुश्तों को जबान की गंदगी से लथपथ कर देते हैं। उसी तरह विरोधी भी दूर ही से खड़ा हमारी गालियों का तुर्की बतुर्की जवाब दे रहा है। इसी तरह घंटों तक गाली-गलौच के बाद हम धीमे पड़ जाते हैं और हमारा गुस्सा पानी हो जाता है। इससे बढ़कर हमारे जातीय कमीनेपन और नामर्दी का सुबूत नहीं मिल सकता कि जिन गालियों को सुनकर हमारे खून में जोश आ जाना चाहिए उन गालियों को हम दूध की तरह पी जाते हैं। और फिर अकड़कर चलते हैं कि जैसे हमारे ऊपर फूलों की वर्षा हुई है। यह भी जातीय पतन की देन है। जातीय पतन दिलों की इज़्ज़त और स्वाभिमान की चेतना मिटाकर लोगों को बेगैरत और बेशर्म बना देती है। जब अनुभूति की शक्ति मिट गई तो खून में जोश

कहाँ से आए। जो कुछ थोडा-बहुत बासी कढ़ी का-सा उबाल आता है उसका जोर जबान से कुछ थोड़े से गन्दे शब्द निकाल देने पर ही खत्म हो जाता है।

गुस्से की हालत में जबान की यह रवानी औरतों में ज्यादा रंग दिखाती है। दो हिन्दुस्तानी औरतों की तू-तू मैं-मैं देखिए और फिर सोचिए कि जो लोग हमको अर्ध-बर्बर कहते हैं वे किस हद तक ठीक कहते हैं। कुंजडे, खटिक, भठियारे यह सब जातियाँ जबानी गंदगी के लिए (क्या नैतिक गंदगी नहीं?) खासतौर पर मशहूर हैं। क्या-क्या गंदगियाँ उनकी जबान से निकलती हैं कि तौबा! जिन शब्दों की याद एक लज्जाशील स्त्री के गालों को लाज से लाल कर देगी, वे शब्द इन औरतों की जबान से बेधड़क और मोटरकार की रवानी के साथ निकलते हैं। अब्बासी और दुलरिया जरा पुरजोर लहजे में विचारों का लेन-देन कर रही हैं। अब्बासी दुलरिया के बेटे को चबा जाती है। दुलरिया उसके शौहर को कच्चा खा जाती है। तब अब्बासी उसके दामाद को निगल लेती है। इसके जवाब में दुलरिया उसके दामाद को देवी की भेट चढ़ा देती है। अब्बासी झुंझलाकर दुलरिया के बूढ़े दादा की लंबी दाढ़ी को जलाकर खाक कर देती है क्योंकि इस गरीब के बदन में अब हड्डियों को छोड़कर गोश्त का नाम भी नहीं रहा वर्ना शायद उसे भी निगल जाती। दुलरिया जामे से बाहर होकर अब्बासी के सातों पुश्त के मुँह पर

तारकोल लपेट देती है। बदकिस्मती से यह रवानी अधिकांश श्रेणियों की औरतों में कमोबेश पाई जाती है, और यह गालियाँ उन गंदी नापाक गालियों के मुकाबले में कुछ भी नहीं हैं जो हम आए दिन बाजारों और गलियों में सुना करते हैं।

गालियों से हमें कुछ प्रेम-सा हो गया है। गालियाँ बकने और सुनने से हमारा जी ही नहीं भरता। साफ-सुथरा मजाक हमारे यहाँ करीब-करीब गायब है। मजाक जो कुछ है वह गाली-गलौज पर खत्म हो जाता है। हमने गालियाँ देने और सुनने के लिए रिश्ते मुकर्रर कर लिए हैं। बीवी का भाई अपने बहनोई और बहनोई के दोस्त और उन दोस्तों के परिचितों और टोले-मुहल्ले के हर आदमी के लिए यकसां तौर पर फोहश मजाक का निशाना है। जो होता है उसे अपनी हैसियत के हिसाब से गालियाँ देता है। उसकी बहनें और उसके घर की बड़ी-बूढियाँ एक भी इस भेडियाधसान हमले से बेदाग नहीं रहने पातीं। इस गरीब को गंदी-गंदी बातें सुनाना हर आदमी अपना हक समझता है। उसे गन्दे शब्दों से पुकारना, उसे ललचाई नजरों से देखना हर बड़े-बूढ़े का जरूरी काम है। उसी तरह जब कोई आदमी अपने ससुराल जाता है तो सारा मुहल्ला उसे गालियाँ सुनाता है। जवान लोग खामखाह उसकी बहन से ब्याह करने पर आमादा होते हैं और बूढ़े उसकी माँ से औरत-मर्द का रिश्ता मिलाते हैं और यह बेहूदा बातचीत जिंदादिली

में दाखिल समझी जाती है। शादियों में दूल्हे के साथ ससुराल में कदम-कदम पर जबानी और अमली मजाक किए जाते हैं। सालियाँ, सलहजें, सास सभी उसे गालियाँ देने और उसके मुँह से गालियाँ सुनने की तमन्ना रखती हैं। देवर-भौजाई की नोक-झोंक कौन नहीं जानता। भावज के साथ हर तरह की दिल्लगी जाएँज़ है। और वह दिल्लगी क्या है? गालियाँ! हमारे यहाँ गालियों का कुछ कम घृणित नाम दिल्लगी है।

हमारे देश में गालियाँ केवल गद्य में ही नहीं पद्य में भी दी जाती हैं। हम गालियाँ गाते हैं और वह भी खुशी के मौके पर। अगर शोक के अवसर पर गालियाँ गाई जाएँ तो शायद उसकी यह व्याख्या की जा सके कि हम जालिम आसमान और ववफा तकदीर को कोस रहे हैं। लेकिन खुशी के जलसों में गालियाँ गाना अनोखी बात है। हाँ, इन गालियों में वह शैतानियत, वह खूंखारी और वह दिल को दुख पहुँचाने की बात नहीं होती जो गुस्से की हालत में गालियों में पाई जाती है। तब भी इन गीतों का एक-एक शब्द दिलों में गन्दे खयाल और गंदी भावनाएँ उभारता है। इसकी व्याख्या इसके सिवा और क्या की जा सकती है कि हमारा कामुक स्वभाव वासना उभारने वाली गालियाँ सुनकर खुश होता है। बारात दरवाजे पर आई और गालियों से उसका स्वागत किया गया और फिर लोग उसके आतिथ्य-सत्कार में लग गए लेकिन ज्योंही खाने का वक्त आया, लोग हाथ-

पाँव धो-धोकर पत्तलों पर कढ़ी-भात खाने बैठे कि चारों तरफ से गालियों की बौछार होने लगी और गालियाँ भी ऐसी-वैसी नहीं, पंचमेल, कि शैतान सुने तो जहन्नुम से निकल भागे। लोग सपड़-सपड़ भात खा रहे हैं, ढोल-मजीरे बज रहे हैं, वाह-वाह मची है और गालियों गाई जा रही हैं गोया पेट भरने के लिए भात के अलावा गालियाँ खाना भी जरूरी है। और है भी ऐसा ही। लोग ऐसे शौक से गालियाँ सुनते हैं कि शायद रामायण, महाभारत और सत्यनारायण की कथा भी न सुनी होगी। मुस्कराते हैं, मुग्ध होकर गर्दन हिलाते हैं और एक दूसरे का नाम गंदगी में लिथेड़े जाने के लिए पेश करते हैं। जिन महाशयों के नाम इस तरह पेश होते हैं वे इसे अपना सौभाग्य समझते हैं। और दावत खत्म होने के बाद कितने ही ऐसे लोग बच रहते हैं जिनके दिल में गालियाँ खाने की हवस बाकी रहती है। खुशनसीब है वह आदमी जो इस वक्त गालियाँ खाता है। सारी बिरादरी की आँखें उसकी तरफ उठती हैं। बावजूद इस आदर-सम्मान के वह गरीब बड़े विनयपूर्वक गर्दन झुकाए हुए है। कहीं-कहीं घर की औरतें यह फर्ज अदा करती हैं लेकिन ज्यादातर जगहों में डोमनियाँ यह पाक रस्म अदा करने के लिए बुलाई जाती हैं। नहीं मालूम ये गीत किसने बनाए हैं। किन्हीं-किन्हीं गीतों में शायरी का रंग पाया जाता है। क्या अजब है, किसी रौशन तबीयत के आदमी ने इसी रंग में अपने फन का कमाल दिखाया हो। इस गाने के लिए

गानेवालियों को इनाम देना पड़ता है। दुनिया में हिन्दुओं के सिवा और कौन ऐसी जाति है जो गालियाँ खाए और गांठ से रुपया खर्च करके इस मैदान में कायस्थ लोग सभी फिरकों से बाजी ले गए हैं। उनके यहाँ बहुत जमाना नहीं गुजरा कि महफिलों में गालियाँ बक-बककर इल्मी लियाकत दिखाई जाती थी। दूसरी जातियाँ शास्त्रार्थ और इल्मी बहसें करती हैं और कायस्थ हजरात गंदी गालियाँ बकने में अपना पांडित्य दिखाते हैं। क्या उल्टी अक़्ल है। शुक्र है कि यह रिवाज अब कम होता जाता है वर्ना गाँव में किसी लड़के या लड़की की शादी ठहरी और गाँव भर के नौजवान और होनहार लड़के गालियों की गजलें याद करने लगते थे। हफ्तों और महीनों तक गालियों को रटने के अलावा उन्हें और कोई काम नहीं था। घर के बड़े-बूढ़े शाम को दफ्तर और कचहरी से लौटते तो लड़कों से यह गंदी गजलें सबक की तरह सुनते और लबोलहजा दुरुस्त करते। जब बच्चों को गालियाँ माँ के दूध के साथ पिलाई जाएँ तो नैतिक शक्ति क्योंकर आ सकती है।

गुस्से में हम गाली बकें, दिल्लगी में हम गाली बकें, गालियाँ बककर लियाकत का जोर हम दिखाएँ, गीत में गली हम गाए – जिंदगी का कोई काम इससे खाली नहीं, यहाँ तक कि धार्मिक मामलों में भी हमारे यहाँ गाली बकने की जरूरत है। दूसरे सूबों का हमें तजुर्बा नहीं मगर संयुक्त प्रांत के कुछ हिस्सों

में दीवाली के दो दिन बाद दूज के रोज गाली बकने वाली पूजा होती है। सारे गाँव या मुहल्ले की औरतें नहा-धोकर जमा होती हैं,जमीन पर गोबर का एक पुतला बनाया जाता है, इस पुतले के इर्द-गिर्द औरतें बैठती हैं और कुछ पान-फूल चढ़ाने के बाद गाली बकना शुरू कर देती हैं। यह त्योहार इसीलिए बनाया गया है। आज के दिन हर औरत का फर्ज है कि वह अपने प्यारों को गालियाँ दे। जो आज के दिन गालियों से बच जाएगा उसे साल भर के अंदर जरूर यमराज घसीट ले जाएँगे। गोया यमराज से बचने के लिए गालियों की यह मोटी दीवार उठाई गई है | हमने काल से लड़ने के लिए कैसा हथियार निकाला! कहीं-कहीं यह रिवाज है कि दूज के दिन बजाए अपने प्यारों के दुश्मनों को गालियाँ दो जाती हैं और गोबर का पुतला फर्जी दुश्मन समझा जाता है। दुश्मन को खूब जी भर कोसने के बाद औरतें इस पुतले की छाती पर ईंट का एक टुकड़ा रख देती हैं और फिर उसे मूसल से कूटना शुरू करती हैं। इस तरह दुश्मन का निशान गोया हस्ती के सफे से मिटा दिया जाता है। गालियों से केवल धर्म खाली था, वह कसर भी पूरी हो गई।

हमारी रुचि इतनी विकृत हो गई है कि हममें से कितने ही शौकीन, रंगीन तबियत के लोग ऐसे निकलेंगे जो सुंदरियों के मुँह से गालियाँ सुनना सबसे बड़ा सौभाग्य समझते हैं। बदजबानी भी गोया हसीनों के नखरे में दाखिल

है। प्रेमीजनों का यह संप्रदाय उस सुंदरी को हरगिज प्रेमिका न कहेगा जिसकी जबान में शोखी और तेजी नहीं। जबान का शोख होना माशूकियत का सबसे जरूरी जुज समझा जाता है। मगर अफसोस कि जबान की शोखी का मतलब कुछ और ही खयाल किया जाता है। अगर माशूक दिल्लगीबाज हाजिरजवाब हो तब तो गोया चार चाँद लग गए। मगर हमारे यहाँ जबान की शोखी गाली बकने का दूसरा नाम है। मियां मजनूँ लैला से हुस्न का जकात तलब करते हैं। लैला तेवर बदलकर गाली दे बैठती है। मियां मजनूँ जरा और सरगर्म होते हैं तो लैला उनकी मैयत देखने की तमन्ना जाहिर करने लगती है। इस गाली-गलौच का शुमार माशूकाना शोखी में दाखिल है। जिस हालत में कि जबान से सच्चाई और आत्मीयता में डूबे हुए शब्द निकलने चाहिए उस हालत में हमारे यहाँ गाली-गलौज होने लगता है, और अक्सर निहायत गंदा, फोहश। मगर हमारे स्वर्ग-जैसे देश में ऐसे लोग भी हैं जिन्हें इन गालियों में मुहब्बत की दुगनी तेज शराब का मजा आता है और जिनकी महफिलें इस जबानी तेजी के बगैर सूनी और बेरौनक रहती हैं। हमारी तहजीब का ढंग ही निराला है। इसी नैतिक पतन ने हिन्दुस्तान को आज ऐसी बेगैरत और बेशर्म कौम बना रक्खा है।

विलायत में बिलिंग्सगेट नाम का एक बाजार है। वहाँ की बदजबानी सारे इंगलिस्तान में मशहूर है और किताबों में उसकी मिसाल दी जाती है, मगर

हमारे हिन्दुस्तान की मामूली बोलचाल के आगे बिलिंग्सगेट के मल्लाह भी शर्म से पानी-पानी हो जाएँगे।

गाली हमारा जातीय स्वभाव हो गई है। किसी इक्के पर बैठ जाइए और सुनिए कि इक्केवान अपने घोड़े को कैसी गालियाँ देता है ऐसी गंदी कि जी मतलाने लगे। वह गरीब घोड़ा और उसकी नेक माँ और बुजुर्ग बाप और नालायक दादा, सब इस नेकबख्त औलाद की बदौलत गालियाँ पाते हैं। हिन्दुस्तान ही तो है, यहाँ के जानवरों को भी गालियों से लगाव है। बैलगाड़ी वाला भी अपने बैलों को ऐसी फर्माइशी गालियाँ देता है। और तो था ही, सरकार बहादुर ने आजकल गालियाँ बकने के लिए एक महकमा कायम कर रक्खा है। इस महकमे में शरीफजादे और रईसजादे लिए जाते हैं, उन्हें अच्छी-अच्छी तनख्वाहें दी जाती हैं और रिआया के अमन-चैन की जिम्मेदारी उन पर रक्खी जाती है। इस महकमे के लोग गालियों से बात करते हैं। उनके मुँह से जो बात निकलती है, गंदी, घिनौनी। ये लोग गालियाँ बकना हुकूमत की निशानी और अपने ओहदे की शान समझते हैं। यह भी हमारी टेढ़ी अक़्ल की एक मिसाल है कि हम गाली बकने को अमीरी की शान समझते हैं। और देशों में जबान का सुथरापन और मिठास, चेहरे की गंभीरता, शराफत और अमीरी के अंग समझे जाते हैं और हिन्दुस्तान में जबान की गंदगी और चेहरे का झल्लापन हुकूमत का जुज खयाल किया

जाता है। देखिए मोटे जमींदार साहब अपने असामी को कैसी गालियाँ देते हैं। जनाब तहसीलदार साहब अपने बावर्ची को कैसी खरी-खोटी सुना रहे हैं और सेठ जी अपने कहार पर किन गन्दे शब्दों में गरम होते हैं, गुस्से से नहीं सिर्फ अपनी हुकूमत की शान जताने के लिए। गाली बकना हमारे यहाँ रईसी और शराफत में दाखिल है। वाह रे हम !

इन फुटकर गालियों से तबियत भरती न देखकर हमारे बुजुर्गों ने होली नाम का एक त्योहार निकाला कि एक हफ्ते तक हर खास व आम खूब दिल खोलकर गालियाँ देते.हैं। यह त्योहार हमारी जिंदादिली का त्योहार है। होली के दिनों में हमारी तबीयतें खूब उभार पर होती हैं और हफ्ते भर तक जबानी गंदगी का एक गुबार-सा हमारे दिल व दिमाग पर छाया रहता है। जिसने होली के दिन दो-चार कबीर न गाये और दो-चार दर्जन गंदी बातें जबान से न निकालीं वह भी कहेगा कि हम आदमी हैं | जिंदगी तो जिंदादिली का नाम है। लखनऊ में एक जिंदादिली अखबार है। वह भी होली में मस्त हो जाता है और मोटे-मोटे अक्षरों में पुकारता है –

आई होली आई होली, हमने अपनी धोती खोली

यह इस जिंदादिल अखबार की जिंदादिली है ! वह सभ्य और सुसंस्कृत रुचि का समर्थक समझा जाता है। लेकिन जिस देश में गालियों का ऐसा

रिवाज हो वहाँ इसी का सुथरे मजाक में शुमार है। कुछ हिन्दी अखबारों की जिंदादिली उन दिनों अथाह हो जाती है। निरंतर कबीरें छपती हैं और अधिकांश कबीरें शब्दों के अलंकार के पर्दे में गालियों से भरी हुई होती हैं। अगर किसी दूसरी कौम का आदमी इन दो हफ्तों के हिन्दी अखबार उठाकर देखे तो शायद दुबारा उनकी सूरत देखने का नाम न लेगा | हमारे कौमी अखबारों की यह हालत हो जाती है।

तकिया कलाम के तौर पर भी गालियाँ बकने का रिवाज है और इस मर्ज में ज्यादातर नीम-पढ़े लोग गिरफ्तार पाए जाते हैं। ये लोग कोई एक गाली चुन लेते हैं और बातचीत के दौरान में उसे इस्तेमाल करना शुरू करते हैं, यहाँ तक कि वह उनका तकिया कलाम हो जाती है और बहुत बार उनके मुँह से अनायास निकल पड़ती है। यह निहायत शर्मनाक आदत है। इससे नैतिक दुर्बलता का पता चलता है और बातचीत की गंभीरता बिल्कुल धूल में मिल जाती है। जिन लोगों को ऐसी आदत पड़ गई हो उन्हें तबियत पर जोर डालकर जबान में सफाई पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए।

किस्सा कोताह, हम चाहे किसी और बात में शेर न हों, बदजबानी में हम बेजोड़ हैं। कोई कौम इस मैदान में हमको नीचा नहीं दिखा सकती। यह हम मानते हैं कि हममें से कितने ही ऐसे लोग हैं जिनकी जबान की पाकीज़गी

पर कोई ऐतराज नहीं किया जा सकता मगर कौमी हैसियत से हम इस जबर्दस्त कमजोरी का शिकार हो रहे हैं। कौम की उन्नति या अवनति थोड़े से चुने हुए लोगों के निजी गुणों पर निर्भर नहीं हो सकती।

सच तो यह है कि अभी तक हमारे मार्गदर्शकों ने इस महामारी को जड़ से खोदने की सरगर्म कोशिश नहीं की, शिक्षा की मंदगति पर इसके सुधार को छोड़ दिया और जनसाधारण की शिक्षा जैसी कुछ उन्नति कर रही है वह सूरज की तरह रौशन है। इस बात को दुहराने की जरूरत नहीं कि गालियों का असर हमारे आचरण पर बहुत खराब पड़ता है। गालियाँ हमारी बुरी भावनाओं को उभारती हैं और स्वाभिमान व लाज-संकोच की चेतना को दिलों से कम करती हैं जो हमको दूसरी कौमों की निगाहों में ऊँचा उठाने के लिए जरूरी है।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', दिसंबर 1909]

हँसी

एक प्रसिद्ध दार्शनिक का कथन है कि मनुष्य हँसने वाला प्राणी है और यह बिल्कुल ठीक बात है क्योंकि श्रेणियों का विभाजन विशेषताओं पर ही आधारित होता है और हँसी मनुष्य की विशेषता है। यों तो मानव हृदय की भावनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं मगर आनंद और शोक का स्थान इनमें सबसे प्रधान हैं। अन्य भावनाएँ इन्हीं दोनों के अंतर्गत आ जाती हैं। उदाहरण के लिए निराशा, लज्जा, दुख, क्रोध, घृणा ये सब शोक के अंतर्गत आ जायेंगे। उसी प्रकार अहंकार वीरता, प्रेम आदि आनंद की श्रेणी में। मनुष्य का जीवन इन्हीं दो प्रतिकूल भावनाओं में विभाजित है। आनंद का प्रकट लक्षण हँसी है, शोक का रोना। हँसने और खुश रहने की इच्छा सर्वसामान्य है। रोने और शोक से हर व्यक्ति बचता है। हँसना और रोना मनुष्य के जन्मजात गुण हैं, अर्जित गुण नहीं। बच्चा पैदा होते ही रोता है और उसके थोड़े ही दिनों बाद एक खामोश सी मुस्कराहट उसके चेहरे पर दिखाई देने लगती है। अन्य भावनाएँ समझ बढ़ने के साथ-साथ पैदा होती जाती हैं।

कुछ विद्वानों ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया है कि कुछ जानवर भी हँसने में आदमियों के साझीदार हैं। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि जानवरों की हँसी सस्वर नहीं होती मगर जो प्रेरणाएँ मनुष्य के हृदय में हँसी उत्पन्न करती हैं उनमें किसी न किसी हद तक वह भी जरूर शरीक हैं। कुत्ता अपने मालिक को जब कई दिन के बाद देखता है तो दुम हिलाता हुआ उसके पास चला जाता है बल्कि उसके बदन पर चढने की कोशिश करता है और एक किस्म की आवाज उसके मुँह से निकलने लगती है। जिन कुत्तों को गेंद उठा लेने की शिक्षा दी जाती देते हैं। जब कई कुत्ते साथ खेलने लगते हैं तो उनकी चुहल और शरारत की कोई सीमा नहीं रहती। जिन लोगों ने`इन कुत्तों के चेहरों को ध्यान से देखा है वे कहते हैं कि आँखों में एक शरारत-भरी झलक, गालों का सिकुडना और दांतों का बाहर निकल आना, जो हँसी के अनिवार्य लक्षण हैं, वे सभी एक बहुत हल्की-सी शक़्ल में कुत्तों के चेहरे पर भी दिखाई देने लगते हैं। कभी-कभी कुत्ते मुर्गियों को सिर्फ डराने के लिए दौड़ाया करते हैं। बिल्ली एक बहुत गंभीर जानवर है मगर वह भी चूहों को खिलाते वक्त अपनी जन्मजात हास्यप्रियता का परिचय देती है। और बन्दरों के बारे में तो कितनी ही पशु-विज्ञान के विद्वान का विश्वास है कि वे हँसते भी हैं और मजाक समझते भी हैं। अगर बन्दर को मुँह चिढ़ाओ तो वह कितना झल्लाता है। अगर उसे छेदने के लिए उसके

साथ दिल्लगी करो तो वह नाराज हो जाता है। उसे यह पसंद नहीं कि कोई उसका मजाक उड़ाए। कहने का मतलब यह कि कुत्ते, बिल्ली, बन्दर की हँसी खामोश और बेआवाज होती है मगर उसमें हँसी दिल्लगी की चेतना होती है।

बच्चे को हँसी भी शुरू में बेआवाज और किसी कदर जानवरों से मिलती हुई होती है। मगर उम्र के दूसरे महीने में उसमे फैलाव और तीसरे महीने में आवाज पैदा हो जाती है। तब उसे गुदगुदाओ तो खिलखिलाता है और दूसरों को देखकर हँसता है। गुदगुदाने से हँसी क्यों होती है, कुछ विद्वानों ने इसकी भी व्याख्या की है। एक प्रोफेसर का ख्याल है कि जब मनुष्य विकास की आंरभिक स्थिति में था उस समय माँ बच्चे के शरीर पर से मक्खियाँ उड़ाने या दूसरे कीड़े को भगाने के लिए ही उसी तरह हाथ फेरती थी जिस तरह आजकल गायें अपने बच्चों को चाटती हैं। इसी तरह हाथ फेरने से बच्चे को बहुत कुछ आराम मिलता है। लिहाजा.आजकल भी जब नर्मी से शरीर पर हाथ फेरा जाता है तो उसी तरह इंसान को वही आराम याद आता है और वह हँसने लगता है। यह खयाल सही हो या गलत मगर आदमी की हँसी का विकास उसकी इंसानियत के साथ ही होता है। एक मजेदार बात है कि होंठ या शरीर की एक जरा-सी हरकत इंसान को घंटों हँसाती है।

वहशी कौमें भावनाओं की प्रौढ़ता की दृष्टि से बहुत कुछ बच्चों से मिलती हैं। यही कारण है कि उनकी हँसी भी बच्चों की हँसी से मिलती-जुलती होती है। बच्चे कभी-कभी खामखाह हँसते हैं। उनकी हँसी लाज-संकोच की परवाह नहीं करती। वहशियों की भी यही हालत है। सभ्य लोग अपनी हँसी पर बहुत संयम करते हैं लेकिन बर्बरों में यह संयम कहाँ। वह जब हँसते हैं तो खूब खुलकर। खूब कहकहे लगाते हैं। तालियां बजाते हैं, चूतड पीटने लगते हैं और नाचते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी उनकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं। हँसते-हँसते मर जाना इससे चाहे एक कदम और आगे बढ़ा होता हो। कोई अपरिचित चीज देखकर वह खूब हँसते हैं। बोर्नियो द्वीप में एक मिशनरी को पियानो बजाते देखकर वहाँ के बर्बर निवासी हँसने लगते है। सभ्य लोगों की एक-एक हरकत उन बर्बरों की हँसी का सामान है। उनके कपड़े, उनका मुँह-हाथ धोना, यह सब बातें उन्हें अजीब मालूम होती हैं और यह अजीब मालूम होना हँसी की मुख्य प्रेरणाओं में से एक है। एक बार एक हब्शी सरदार इंगलिस्तान में पहुँचा और एक कारखाने की सैर करने के लिए चला। मैनेजर ने मेहरबानी से उसे कारखाना दिखाना शुरू किया। संयोग से एक जगह मैनेजर का कोट किसी चरखी की पकड़ में आ गया और बेचारे मैनेजर साहब कोट के साथ दो-तीन चक्कर खा गए। कर्मचारियों ने दौड़कर किसी तरह उनकी जान बचाई मगर हब्शी सरदार

हँसते-हँसते लोट गया। उसने समझा कि मैनेजर साहब ने उसे तमाशा दिखाने के लिए कलाबाजियाँ खाई और इस घटना के बाद वह जब तक इंगलिस्तान में रहा उसने कई बार मैनेजर साहब से वही दिलचस्प तमाशा दिखाने का तकाजा किया। कुछ असभ्य जातियों में रईसों के दरबार में अब भी मसखरे या विदूषक रक्खे जाते हैं।

पुराने जमाने में दरबारी विदूषकों का रिवाज हिन्दुस्तान और योरप में प्रचलित था। यहाँ तक कि वे दरबार का आभूषण समझे जाते थे। उनके बगैर दरबार सूना रहता था। इस सभ्यता के युग में भी वही रिवाज एक दूसरी शक़्ल में मौजूद है जिसे थियेटरों में देख सकते हैं। एस्किमो एक जंगली कौग है। उनके यहाँ रिवाज है कि जब किसी मुकदमे का फैसला होने लगता है तो दोनो विरोधी पक्ष के लोग एक दूसरे को गंदी-गंदी गालियाँ सुनाना शुरू करते हैं। कभी-कभी पद्य-बद्ध गालियों दी जाती हैं। हाकिम इजलास और दूसरे तमाशाई इन तुकर्बोदियों पर खूब हँसते हैं और आखिरकार उसी पक्ष की विजय होती है जो गालियों की गंदगी और बेशर्मी के लिहाज से तमाशाइयों को ज्यादा खुश कर दे। न्याय की अच्छी कसौटी निकाली है। ऐसे देश में गालियाँ बकना निश्चय ही कानूनदानी से अच्छा और फायदेमंद धंधा है और काश हमारे देश के कुंजड़े और भटियारे वहाँ पहुँच जाएँ तो यकीन है कि उन्हें किसी अदालत में हार न हो। अभी पशु-

विज्ञान के किसी पंडित ने छान-बीन नहीं की लेकिन हँसी और निर्लज्ज़ता में कोई कार्य-कारण संबंध अवश्य है। हिन्दुस्तान में शादी-ब्याह में, दावतों में गंदी और शर्मनाक गालियाँ गाने का रिवाज कितना बुरा मगर सब तरफ कितना प्रचलित और लोकप्रिय है। यहाँ तक कि कितने ही लोगों को गालियों के बगैर ब्याह का मजा ही नहीं आता और जब तक कानों में गंदी-गंदी गालियों की पुकारें नहीं आतीं खाने की तरफ तबियत नहीं झुकती।

हर एक देश या जाति का साहित्य उस देश की सर्वोत्तम भावनाओं और विचारों का संग्रह होता है और हालांकि किसी जाति के साहित्य में हँसी-दिल्लगी को वह स्थान नहीं दिया जाएँगा जिसका उसे सर्वसाधारण में अपने प्रचलन की दृष्टि से अधिकार है और प्रेम की भावनाओं को उससे ऊँचा स्थान दिया जाता है जो एक सीमाबद्ध भावना है और जिसका प्रभाव मानव जीवन के लिए एक विशेष अंग तक सीमित है, तब भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उनका प्रभाव हर एक साहित्य पर स्पष्ट है और चूँकि हँसने-हंसाने की इच्छा हर दिल में रहती है, हास्य-कृतियां पसंद भी की जाती हैं। अंग्रेजी में शेक्सपियर का मसखरा फॉल्स्टफ, स्पेनी लिटरेचर का डॉन कुइक्जोट और उर्दू लिटरेचर का खोजी कैसे गम भुला देने वाले हैं। कितने रंज और गम के सताए हुए दिल उनके एहसानमंद हैं।

यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि गद्य हो या पद्य, हँसी-दिल्लगी उसकी आत्मा है और उसके बगैर वह रूखी-सूखी, और बेमजा रहती है।

हँसी के अनेक उद्दीपक हैं। संस्कृत में हँसी के प्रकारों, उनकी व्याख्या और उनके उद्दीपकों आदि को बड़े विशद और विस्तृत ढंग से बयान किया गया है। अंग्रेजी में ऐसी विशद सैद्धान्तिक चर्चा इस विषय पर नहीं है। इन उद्दीपकों में विशेष ये हैं।

1. किसी चीज का अनोखापन जैसे बन्दर का कोट-पतलून पहनना।

2. किसी अच्छी चीज का फौरन किसी बुरी सूरत में जाहिर होना जैसे मुँह चिढाना।

3. कोई शारीरिक दोष जैसे कानापन या लंगडाकर चलना।

4. मानव विशेषताओं में कोई असाधारण बात जैसे शेखी मारना या भोलापन।

5. किसी चीज का अपने साधारण रूप से अलग हटना जैसे मुँह में कालिख लगना।

6. अशिष्टता।

7. छोटी-मोटी दुर्घटनाएँ जैसे किसी का लड़खड़ाकर गिर पड़ना।

8. निर्लज्ज शब्दों का प्रयोग।

9. हर तरह की अतिशयोक्ति या हद से आगे बढ़ जाना जैसे भारी-भरकम पेट या बहुत ऊँचा कद।

10. गुप-चुप बातें।

11. चीजों की तरह आवाज में भी अजनबीपन, अनोखापन जैसे बेसुरा गीत।

12. दूसरों की नकल करना।

13. कोई द्वयर्थक वाक्य।

उपरोक्त वर्गीकरण को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि हँसी का उद्दीपन विशेषतः किन्हीं दो वस्तुओं के विरोध पर आधारित है। एक लड़का अपने बाप का ढीला-ढाला कोट पहन लेता है और उसे देखते ही फौरन हँसी आती है। अफीमचियों की कहानियाँ हँसी का एक न चुकने वाला खजाना है। अकबर और बीरबल के चुटकुले भी दिलों को गरमाने के लिए आजमाए हुए नुस्खे हैं और ख्वाजा बदीउज़्ज़मां उर्फ खोजी (खुदा की उन पर रहमत हो !) को तो उर्दू लिटरेचर का सबसे बड़ा शोकसंहारक कहना चाहिए। हाजी बगलोल भी उन्हीं के मुरीदों में शामिल हैं। शायरी के

दोषों और त्रुटियों को सरशार ने हँसी-दिल्लगी का कैसा फडकता हुआ लिबास पहनाया है। ख्वाजा साहब की गंवई बातचीत, उनका शेर पढ़ना, डीग मारना, ये सब हँसने के अक्सीर नुस्खे हैं। छंद-शास्त्र की भूलें, स्त्रीलिंग और पुल्लिंग की गलतियां जो शायरी में ऐब समझी जाती हैं वे पढ़े-लिखे आदमियों के लिए हँसी का सामान हैं। उर्दू कवियों की सौंदर्य की अतिशयोक्ति भी मजाक की हद तक जा पहुँचती है। नाभी को गहराई को अगर बरेली का कुआं कहें तो खामखाह हँसी आएगी।

विद्वानों ने हँसी को छ: श्रेणियों में विभाजित किया है –

1. होंठो ही होंठों में मुस्कराना।
2. खुलकर मुस्कराना।
3. खिल-खिलाना।
4. जोर से हसना।
5. कहकहे लगाना।
6. हँसते हँसते पेट में बल पड़ जाना और आँखों से आँसू बहने लगना।

इनमें पहली और दूसरी किस्मों का स्थान सबसे ऊँचा है, तीसरी और चौथी का मध्यम और पाँचवीं और छठी किस्में सबसे निकृष्ट समझी जाती हैं और उनकी गिनती अशिष्टता में होती है। जिस समय गालों पर हल्की-सी

शिकन पड़ती है. नीचे के होंठ फैल जाते हैं, दांत नहीं दिखाई देते हैं, आँखें चमकने लगती हैं, उसे होंठों ही होंठों में मुस्कराना कहते हैं। जिस हँसी में मुँह, गाल और आँखें फूली हुई नजर आती हैं और दाँतों की लडियाँ किसी कदर दिखाई देने लगती हैं उसे खुलकर मुस्कराना कहते हैं। खिलखिलाने की व्याख्या करने की जरूरत नहीं। इसमें आँख कुछ सिकुड़ जाती है। कहकहा लगाना अशिष्टता है, खासतौर पर बड़े-बूढ़ों के सामने जोर से हँसना बुरी बात है। डाक्टरी दृष्टि से कहकहा तंदुरुस्ती के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इससे सीने और फेफडों को ताकत पहुँचती है और तबीयत खिल उठती है। मनोविज्ञान के पंडितों का विचार है कि हँसी खुली हुई तबीयत की पहचान है और जिस आदमी के इरादे नेक न हों और जिसके हृदय को शांति और इत्मीनान हासिल न हो वह कभी खुलकर नहीं हँस सकता।

हम ऊपर लिख आये हैं कि संस्कृत साहित्य में हँसी-दिल्लगी के बारे में बड़ी गहरी छान-बीन के साथ विचार किया गया है। उपरोक्त विचार बड़ी हद तक उसी के हैं। अब हम कुछ हास्य-रस के संस्कृत श्लोकों का अनुवाद लिखकर इस लेख को समाप्त करेंगे। उर्दू हास्य की शैली से हम परिचित हैं, संस्कृत साहित्य के भी कुछ उदाहरण देखिए –

1. यह देखिए कुक्कुट मिश्र आए। आपने अपने गुरु से कुल पाँच दिन शिक्षा पाई। सारा वेदांत तीन दिन में पढ़ा है और न्याय को तो फूल की तरह सुंघ डाला है।

2. विष्णु शर्मा नामक किसी दुश्चरित्र विद्वान की बुराईयों की गई है – विष्णु शर्मा हाय हाय करके रोते और कहते थे कि मेरे जिस मस्तक पर मंत्रों से पवित्र किया गया पानी छिड़का गया था उसी पर प्रेमिका के पवित्र हाथों ने तडातड चपत लगाई।

3. एक कोमल भावनाओं से अपरिचित ब्राह्मण अपनी प्रेमिका से कहता है- ऐ देवी, मेरे यह होंठ सामवेद गाते-गाते बहुत पवित्र हो गये हैं। इन्हें तुम जूठा मत करो। अगर तुमसे किसी तरह नहीं रहा जाता तो मेरे बायें कान को ही मुँह में लेकर चुबलाओ।

4. जबान कट नहीं जाती, सर फट नहीं जाता, तब फिर जो कुछ मुँह में आये कह डालने में हर्ज ही क्या है। निर्लज्ज व्यक्ति विद्वान बनने में आगा-पीछा क्यों करे।

5. दो औरतों वाले मर्द की हालत उस चूहे की सी होती है जिसके बिल में सांप है और बिल के बाहर बिल्ली।

6. दामाद दसवाँ ग्रह है। वह हमेशा टेढ़ा और तीखा रहता है, हरदम पूजा की माँग किया करता है और हमेशा कन्याराशि पर चढ़ा रहता है।

7. जैनियों का मजाक उड़ाते हुए एक लेखक कहता है कि ये लोग एकांत में भी सुंदरी के लाल-लाल होंठों से बचते रहते हैं क्योंकि होंठ में दांत लगने से उन्हें मांसाहार का आरोप लगने का भय है।

8. एक जिंदादिल बुड्ढा कहता है – क्या करें सिर के बाल सफेद हो गये हैं, गालों पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं दांत टूट गये हैं पर इन सब बातों का मुझे कुछ दुख नहीं। हाँ जब रास्ते में मृगनयनी सुंदरियाँ मुझे देखकर पूछती हैं, "बाबा किधर चले?" तो उनका यह पूछना मेरे दिल पर बिजलियाँ गिरा देता है।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', फरवरी 1916]

दुःखी जीवन

हिन्दू दर्शन दुःखवाद है, बौद्ध दर्शन दुःखवाद है और ईसाई दर्शन भी दुःखवाद है। मनुष्य सुख की खोज में आदिकाल से रहा है और इस की प्राप्ति उसके जीवन का सदैव मुख्य उद्देश्य रही है। दुःख से वह इतना घबड़ाता है कि इस जीवन में ही नहीं, आने वाले जीवन के लिए ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि वहाँ भी सुख का उपभोग कर सके। जन्नत और स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण, सब उसी आकांक्षा की रचनाएँ हैं। सुख को प्राप्ति के लिए हो हमने जीवन को निस्सार और संसार को नित्य कहकर अपने मन को शांत करने की चेष्टा की। जब जीवन में कोई सार ही नहीं है और संसार अनित्य ही है, तो फिर क्यों न इनसे मुँह मोड़कर बैठें? लेकिन हम क्यों दुखी होते हैं, वह कौन-सी मनोवृत्ति है जो हमें दुःख की ओर ले जाती है, इस पर हमने विचार नहीं किया। आज हम इसी प्रश्न की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि इस अंधकार में कहीं प्रकाश भी मिल सकता है या नहीं।

दुःख के दो कारण हैं-एक तो वे रूढ़ियाँ जिनमे हमने अपने को और समाज को जकड़ रखा है और दूसरे वे व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ हैं जो हमारे मन को संकुचित रखती हैं और उसमे बाहर की वायु और प्रकाश नहीं आने देतीं। रूढ़ियों से तो हम इस समय बहस नहीं करना चाहते, क्योंकि उनका सुधार हमारे बस की बात नहीं वह समष्टि की जागृति पर निर्भर है, लेकिन व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का संस्कार हमारे बस की बात है और हम अपना विचार यहीं तक परिमित रक्खेंगे।

अक्सर ऐसे लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं जो असमय के कारण अपना स्वास्थ्य खो बैठे हैं, या जिन पर लक्ष्मी की अकृपा है। लेकिन वास्तव में सुख के लिए न धन अनिवार्य है न स्वास्थ्य। कितने ही धनी आदमी दुखी हैं, कितने ही रोगी सुखी हैं। सुखी जीवन के लिए मन का स्वस्थ होना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिए नीरोग शरीर लाजिमी चीज है। सभी तो ऋषि नहीं होते। बलवान और स्वस्थ मन, बलवान और स्वस्थ देह में ही रह सकता है। साधना और तप इस विषय में अपवाद उपस्थित कर सकते हैं, लेकिन साधारणत: स्वस्थ देह और स्वस्थ मन में कारण और कार्य का संबंध है। यद्यपि वर्तमान रहन-सहन ने इसे दुस्तर बना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर बुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आँख न बन्द कर ले, तो वह

अपनी देह को नीरोग रख सकता है देह तो एक मशीन है। इसे जिस तरह कोयले-पानी की जरूरत है उसी तरह इससे काम लेने की जरूरत है। अगर हम इस मशीन से काम न लें तो बहुत थोड़े दिनों में इसके पुरजों में मोर्चा लग जाएगा। मजदूरों के लिए यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो केवल उन लोगों के लिए है जो गद्दी पर या कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं। उन्हें कोई-न-कोई कसरत जरूर ही करतनी चाहिए। क्रिकेट और टेनिस के लिए हमारे पास साधन नहीं हैं तो क्या, हम अपने घर में सौ-पचास डंड-बैठक भी नहीं लगा सकते? अगर हम स्वास्थ्य के लिए एक घंटा भी समय नहीं दे सकते तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम सुख को ठोकरों से मारकर अपने द्वार से भगाते हैं।

भोजन का प्रश्न भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्या चीज किस तरह और कितनी खाई जाएँ, इस विषय में मूर्खा से अधिक शिक्षित लोग गलती करते हैं। अधिकतर तो ऐसे आदमी मिलेंगे जो इस विषय में कुछ जानते ही नहीं। जिंदगी का सबसे बड़ा काम है भोजन। इसी धुरी पर संसार का सारा चक्र चलता है और इसी के विषय में हम कुछ नहीं जानते। बच्चों में शील और विनय का तथा बड़ों का संयम का पहला पाठ भोजन से आरंभ होता है। यह हास्यास्पद-सी बात है पर वास्तव में आत्मोन्नति का पहला मंत्र भोजन में पथ्यापथ्य का विचार है।

दुःख का एक बड़ा कारण है अपने आपमें डूबे रहना, हमेश अपने ही विषय में सोचते रहना। हम यों करते तो यों होते, वकालत पास करके अपनी मिट्टी खराब की, इससे कहीं अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली। लड़के नहीं हैं तो यह फ़िक मारे डालती है कि लड़के कब होंगे। लड़के हैं तो रो रहे हैं कि ये क्यों हुए, ये कच्चे-बच्चे न होते तो कितना आराम से जिंदगी कटती। कितने ही ऐसे हैं जो अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट हैं। कोई माँ-बाप को कोसता है जिन्होंने उसके गले में जबरदस्ती जुआ डाल दिया – कोई मामा या फूफा को जिन्होंने विवाह पक्का किया। अब उनको सूरत भी उसे पसंद नहीं। बीवी से आये दिन ठनी रहती है – वह सलीका नहीं रखती, मैली है, फूहड़ है, मुर्दा है, या मुहर्रमी है। जब देखों मुँह लटकाये बैठी रहती है। यह नहीं कि पति महोदय दिन भर के बाद घर में आये हैं, तो लपककर उनके गले से लिपट जाये। इस श्रेणी में अधिकतर लेखक – समाज और नवशिक्षित युवक हैं। वे दूसरों की बीवियों को देखकर अपनी किस्मत ठोंकते हैं – वह कितनी सुघड है, कितनी हंसमुख, कितनी सुरुचि रखने वाली। दिन-रात बेचारे इसी डाह में जला करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो चाहते हैं कि सारी दुनिया उनकी प्रशंसा करती रहे। खुद जब मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं। वह खुद किसी के प्रशंसक नहीं बनते, किसी से

प्रेम नहीं करते। लेकिन इच्छुक हैं कि दुनिया उनके आगे नतमस्तक खड्डी रहे, उनका गुणगान करती हरे। दुनिया उनकी कद्र नहीं करती, इस फिक्र में घुले जाते हैं, इससे उनके स्वभाव और व्यवहार में कटुता आ जाती है। और ऐसे लोग तो घर-घर मिलेंगे तो निन्यानवे के फेर में पड़कर जीवन को भार बना लेते है। संचय, संचय लगातार संचय। इसी में उनके प्राण बसते हैं, ऐसा आदमी केवल उन्हीं से प्रसन्न रहता है, जो संचय में उसके सहायक होते हो और किसी से उसे सरोकार नहीं। बीवी से हँसने-बोलने का उसके पास समय नहीं, लड़कों को प्यार करने और दुलराने का उसे बिल्कुल अवकाश नहीं। घर में किसी से धेली का नुकसान भी हो गया तो उसके सिर हो जाता है। बीवी ने अगर एक आने की जगह पाँच पैसे की तरकारी मंगवा ली तो पति को रात-भर झींकने का मसाला मिल गया – तुम घर लुटा दोगी, तुम्हें क्या खबर पैसे कैसे आते हैं, आज मर जाऊँ तो भीख माँगती फिरो। ऐसी ऐसी दिल जलाने वाली बातें करके आप रोता है और दूसरों को रुलाता है। लड़के से कोई चिमनी टूट गई, तो कुछ न पूछो, बेचारे निरपराध बालक की शामत आ गई। मारते-मारते उसकी खाल उधेड़ डाली। माना लड़के से नुकसान हुआ तुम गरीब हो और तुम्हारे लिए दो-चार आने का नुकसान भी कठिन है। लेकिन लड़के को पीटकर तुमने क्या पाया? चिमनी तो जुड़ नहीं गई। हाँ | स्नेह का बंधन जरूर टूटने को हो

गया। यह सब अपने आप में डूबे रहने वालों का हाल ह उनके लिए केवल यही औषध कि अपने विषय में इतनी चिंता न करें, दूसरों में भी दिलचस्पी लेना सीखें – चिड़िया पालना, फूल-पौधे लगाना, गान-बजाना, गपशप करना, किसी आंदोलन में भाग लेना। गरज मन को अपनी ओर से हटाकर बाहर की ओर ले जाना ही ऐसे चिंताशील प्रकृति वालों के लिए दुःख-निवारक हो सकता है।

उदासीन प्रकृति वाले भी अक्सर दुखी रहते हैं। संसार में उनके लिए कोई सारवस्तु नहीं। यह मरज अधिकतर उच्चकोटि के विद्वानों को होता है। उन्होंने संसार के तत्त्व को पहचान लिया है और जीवन में अब ऐसी कोई वस्तु नहीं मिलती जिसके लिए वे जिएँ। संसार रसातल की ओर जा रहा है, लोगों से प्रेम उठ गया, सहानुभूति का कहीं में नाम नहीं, साहित्य का डोंगा डूब गया, जिससे प्रेम करो वही बेवफाई करता है, संसार में विश्वास किस पर किया जाएँ? यह चीज तो उठ गई ! अब लखन से भाई और हनुमान से सेवक कहाँ? यह उदासीनता अधिकतर उन्ही लोगों में होती है जो संपन्न हैं, जिन्हें जीविका के लिए कोई काम नहीं करना पड़ता। मजे से खाते हैं और सोते हैं। क्रियाशीलता का उनमें भावा होता है। वे दुनिया में केवल रोने के लिए आए हैं, किसी का उनको जात से उपकार नहीं होता। हर एक चीज में ऐब निकालना, हर चीज से असंतुष्ट रहना, यही उनका

उद्यम है। ऐसे लोगों का इलाज यही है कि तुरंत किसी काम में लग जाएँ। और कुछ न हो सके तो ताज खेलना ही शुरू कर दें। कोई भी व्यसन उनके रोने से अच्छा है। संसार कब रसातल की ओर नहीं जा रहा था? जब कौरवों ने द्रौपदी को भरी सभा में नंगी करना चाहा और पांडव बैठे हुए टुकर-टुकर देखते रहे, क्या तब संसार रसातल को नहीं जा रहा था? किस युग में भाई ने भाई का गला नहीं काटा, मित्रों ने विश्वासघात नहीं किया, व्यभिचार नहीं हुआ, शराब के दौर नहीं चले, लड़ाईयाँ नहीं हुईं, अधर्म नहीं हुआ? मगर पृथ्वी आज भी वहीं है जहाँ दस हजार बरस पहले थी। न रसातल गई न पाताल। और इसी तरह अनंत काल तक रहेगी। संदेह जीवन का तत्त्व है। स्वस्थ मन में सदैव संदेह उठते हैं और संसार में जो कुछ उन्नति है उसमे संदेह का बहुत हाथ है। लेकिन संदेह क्रियाशील होना चाहिए, जो नित्य नये आविष्कार करता है, जो साहित्य और दर्शन की दृष्टि करता है। संसार अनित्य है तो आपको इसकी क्या चिंता है? विश्वास मानिए, आपके जीवन में प्रलय न होगा। और अगर प्रलय भी .हो जाएँ तो आपके चिंता करने की वजह? जो सबकी गति होगी वही आपकी भी होगी। घर से बाहर निकलकर देखिए – मैदान में कितनी मनोहर हरियाली है, वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गाना हो रहा है, नदी में चाँद कैसा थिरक रहा है। क्या इन दृश्यों से आपको जरा भी आनंद नहीं आता ? किसी

झोपड़ी में जाकर देखिए। माता फाके कर रहो है पर कितने प्रेम से बालक को अपने सूखे स्तन से चिमटाए हुए है। पत्नी अपने बीमार पति को सिरहाने बैठी मोती बरसा रही है और ईश्वर से मनाती है कि पति की जगह वह खुद बीमार हो जाएँ। विश्वास कीजिए आप सेवा और त्याग तथा विश्वास के ऐसे-ऐसे कृत्य देखेंगे कि आपकी आँखें खुल जायेंगी। हो सके तो उनकी कुछ मदद कीजिए प्रेम करना सीखिए। उस उदासीनता की, उस मानसिक व्यभिचार क, यही दवा हैं।

आजकल दुःख की एक नयी टकसाल खुल गई है और वह है जीवन संग्राम। जीवन-संग्राम। जिधर, देखिए, यही आवाज सुनाई देती है। इस संग्राम में आप किरा की सहानुभूति की, क्षमा की, प्रोत्साहन की, आशा नहीं कर सकते। सभी अपने अपने नस और दाँत निकाले शिकार की ताक में बैठे हैं। उनकी क्षुधा प्रशांत महासागर से भी गहरी है, किसी तरह शांत नहीं होती। काश, यह दिन चौबीस घंटो को बजाए अड़तालीस घंटों का होता | इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली। फिर वह 12 बजे रात से पहले नही बन्द हो सकती – एक मिनट के लिए भी नहाँ। नाश्ता खड़े खड़े कीजिए, खाना दौड़ते-दौड़ते खाइए मित्रों से मिलने का समय तहीं , फालतू बात सुनने की फुरसत नहीं। मतलब को बात कहिए साहब, चटपट। समय का एक एक मिनट अशर्फी है मोती है, से व्यर्थ नहीं खो सकते। यह संग्राम

की मनोवृत्ति पश्चिम से आई है, और बड़े वेग से भारत में फैल रही है। बड़े बड़े शहरों पर तो उसका अधिकार हो चुका है अब छोटे छोटे शहरों और कस्बों में भी उसकी अमलदारी होती जाती है। मंदी, तेजी, बाज़ार के उतार चढ़ाव, हिस्सों का घटना बढ़ता यही जीवन है। नींद में भी यहीं मंदी तेजी का स्वप्न देखते है। पुस्तकें पढ़ने की किसे परवाह, सिनेमा देखने लेगे। । उपन्यास कौन पढ़े, छोटी कहानियों से मनोरंजन कर लेते है। लेकिन यह खब्त भी है कि हम किसी क्षेत्र में किसी से पीछे न रहें। साहित्य और दर्शन और राजनीति, हर विषय में नयी बातें भी हमसे बचने न पायें। सुरुचि और सर्वज्ञता के प्रदर्शन के लिए नयी से नयी पुस्तकें तो मेज पर होनी ही चाहिए। किसी तरह उनका खुलासा मिल जाएँ तो क्या कहना, दस मिनट में किताब का लुब्धे-लुबाब मालूम हो जाएँ। आलोचना पढ़कर भी तो काम चल सकता है। इसीलिए लोग आलोचनाएँ बड़े शौक से पढ़ते हैं। अब हम उन ग्रंथों पर अपनी राय देने के अधिकारी हैं। सभ्य समाज में कोई हमें मूर्ख नहीं कह सकता। इस भाग-दौड़ के जीवन में आनंद के लिए कहाँ स्थान हो सकता है? जीवन में सफलता अवश्य आनंद का एक अंग है। और बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग, लेकिन हमें उस तेज घोड़े को अपनी रानों के नीचे रखना चाहिए। यह नहीं कि वह हमें जिधर चाहे, लिए दौड़ता फिरे। जीवन को संग्राम समझना – यह समझना कि यह केवल पहलवानों का

अखाड़ा है और हम केवल अपने प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ने के लिए ही संसार में आये हैं, उन्माद है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी इच्छा तो बलवान हो जाती है लेकिन विचार और विवेक का सर्वनाश हो जाता है। इसका इलाज यह है कि हम संतोष और शांति का मूल्य समझें। जीवन का आनंद खोकर जो सफलता मिले वह वैसी ही है जैसे अपनी आँखों के सामने कोई तमाशा। सफलता का उद्देश्य है आनंद। अगर सफलता से दुःख बढ़े, अशांति बढ़े, तो बह वास्तविक सफलता नहीं।

भविष्य की चिंता दुःख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है। कल कहीं चल बसे तो क्या होगा? घर का कुछ भी इंतजाम न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आँखें बन्द कीं और उधर सारी गृहस्थी तीन तेरह हुई। लड़का उड़ाऊ हैं पैसे की कद्र नहीं करता, न जमाने का रुख देखता है। इस चिंता में अक्सर राता को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। ऐसी मनोवृत्ति नयी नयी शंकाओं की सृष्टि करने में निपुण होती है। दो-चार दिन खांसी आई तो तुरंत तपेदिक की शंका होने लगी दो-चार दिन का हल्का ज्वर आ गया तो झाँका हुई जीर्ण ज्वर है। अगर जवानी में आँखें बहक गई हैं तो अब पाप की भावना हृदय को दबाए हुए है। यही शंका लगी हुई हैं कि उस अपराध के दंडस्वरूप न जाने क्या ज्या आफत आने वाली है। लड़का बीमार हुआ

और मान-मनौती होते लगी। बस, बरी दंड है। किसी बड़े मुकदमे में हारे ओर वही शंका सिर पर सवार हुई। बस, यह सब उसी का फल है। इतना बोझ लेकर वैतरणी कैसे पार होगी। नरक को भीषण कल्पना खाना-पीना हराम किये देती है। इसका इलाज यही है कि आदमी हर विषय पर ठंडे मन से विचार करे, यहाँ तक्र कि उस पर उसके सारे पहलू रोशन हो जाएँ। तुम क्यों समझते हो कि तुम्हारे लड़के तुममें ज्यादा नालायक होंगे? इसी तरह तुम्हारे बाप ने भी तो तुम्हें नालायक समझा था। पर तुम तो लायक हो गये और आज गृहस्थों .की देखभाल मजे से कर रह हो। तुम्हारे बाद इसी तरह तुम्हारा लड़का भी घर बार संभाल लेगा। मुमकिन है वह तुमसे ज्यादा चतुर निकले। और पाप तो केवल पंथों का ढकोसला है। हमारे समुदाय में कोई शराबी नही तुमने पी ली तो पाप किया। क्यों पाप किया? करोडों आदमी रोज पीते हैं, खुले खजाने पीते हैं। वे इसे पाप नहीं समझते, बल्कि उनकी निगाह में जो शराब न पीये वही पापी है। हमारे कुल में मांस खाना वर्जित है, हमने खा लिया तो पाप नहीं किया? पाप वही है जिससे अपना और दूसरों का अहित होता है। अगर शराब पीने से तुम्हारे सिर में दर्द होने लगता है या तुम बहककर गालियाँ बकने लगते हो, तो बेशक शराब पीना तुम्हारे लिए पाप है। अगर तुम शराब के पीछे बाल-बच्चों को खाने-पीने का कष्ट देते हो, बेशक शराब पीना तुम्हारे लिए पाप है। उसे तुरंत छोड़ दो।

इसी तरह मांस खाने से अगर तुम्हारे पेट में दर्द होने लगे तो वह तुम्हारे लिए वर्जित है। मांस ही क्यों दूध पीने से तुम्हारी पाचन-क्रिया बिगड़ जाएँ तो दूध भी तुम्हारे लिए वर्जित है। धर्म-अधर्म के मिथ्या विचारों में पड़कर, दैवी-दंड की कल्पनाएँ करके, क्यों अपने को दुःखी करते हो? बाबा वाक्य की गुलामी-केवल इसलिए कि बाबा वाक्य है – चाहे कट्टर-पंथियों में तुम्हारा सम्मान बढ़ा दे, पर है मूर्खता। स्वयं विचार करो कि वास्तव में दुष्कर्म क्या है? अपने कारोबार में कांइयांपन, नौकरों से कटु व्यवहार, बाल-बच्चों पर अत्याचार, अपने सहवर्गियों से ईर्ष्या और द्वेष, प्रतिद्वन्द्वियों पर मिथ्या आरोप, बुरी नीयत, दगा- फरेब, यह सब वास्तव में दुष्कर्म हैं। जिनकी कानून में भी सजा नहीं, लेकिन जिससे मानव-समाज का सर्वनाश हो रहा है। मन में पाप की कल्पना का पैठ जाना हमारे आत्म-सम्मान को मिटा देता है और जब आत्म-सम्मान चला गया तो समझ लो कि बहुत कुछ चला गया। पापाक्रांत मन सदैव ईर्ष्या से जला करता है, सदैव दूसरों के लिए ऐब देखता रहता है, सदैव धर्म का ढोंग रचा करता हैं। जब तक वह दूसरों के पाप का पर्दा न खोल दे और अपनी धर्मपरायणता प्रमाणित न कर दे, उसको शांति नहीं।

हमारे दो-एक मित्र ऐसे हैं जिन्हें हमेशा यह फिक्र सताया करती है कि लोग उनसे जलते हैं, उनके लेखों की कोई प्रशंसा नहीं करता, उनकी पुस्तकों

की बुरी आलोचनाएँ होती हैं। अवश्य ही कुछ लोगों ने एक गुर बनाकर उनका अनादर करना ही अपना ध्येय बना लिया है। ऐसे आदमी सदैव दूसरों से ऐसे सशंक रहते हैं मानों वे खुफिया पुलिस हों। बस, जिसने उनकी प्रशंसा न की उसे अपना दुश्मन समझ लिया। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे अपने को उससे बड़ा आदमी समझते हैं जितने वे हैं। संसार को क्या गरज पड़ी है कि उनके पीछे हाथ धोकर पड़ जाएँ। हम अपनी रचना को अमूल्य समझें, इसका हमें अधिकार है, लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लड़कों को ही अपना बैरी समझने लगता है। वह कदाचित् आशा करता है कि उसके लड़के अपने लड़कों से ज्यादा उसका ख्याल रखें। यह अस्वाभाविक है किसी को यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को, चाहें वह उसका लड़का हो क्यों न हो, उसे स्वाभाविक मार्ग से हटाकर अपने राह पर लगाए।

['हंस', अप्रैल, 1933]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

हिन्दी भाषा के कवियों में बाबू हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। यह ठीक है कि उन्हें तुलसी, सूर, बिहारी या केशव की-सी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई मगर इसका कारण यह नहीं कि वे योग्यता में इन कवियों से घटकर थे। तुलसीदास पद्य-बद्ध आख्यायिका के सम्राट् थे। सूर ने अध्यात्म और बिहारी ने सौंदर्य और प्रेम को कमाल पर पहुँचाया। कबीर ने संसार की निस्सारता का राग गाया मगर हरिश्चन्द्र ने हर रंग को कविता की। वह काव्य-प्रतिभा जो किसी एक रंग को बहुत ऊँचाई तक पहुँचा सकती थी, बिखर गई। इसलिए ये कवि ऊँचाई और गंभीरता में यद्यपि हरिश्चन्द से बढ़े हुए हैं मगर काव्य-विस्तार की दृष्टि से हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनको गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार था। गद्य में तो उन्हें मार्गदर्शक का स्थान प्राप्त है। उनके पहले राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी गद्य में ख्याति पायी थी मगर राजा लक्ष्मणसिंह की योग्यता अधिकतर अनुवाद में खर्च हुई और राजा शिवप्रसाद की हिन्दी में उर्दू शब्द बड़ी संख्या में रहते

थे। शुद्ध हिन्दी की नींव भारतेन्दु ही के कलम ने डाली और उस जमाने से अब तक हिन्दी गद्य ने बहुत कुछ तरक्की हासिल कर ली है मफार आज भी हरिश्चन्द्र के हिन्दी गद्य की प्रौढ़ता, चुलबुलापन और शुद्धता प्रशंसनीय है। उनकी सबसे अधिक स्मरणीय और स्थायी साहित्यिक पूंजी उनके नाटक हैं। इस मैदान में काई उनका प्रतियोगी नहीं। हिन्दी नाट्यकला के वे प्रवर्तक हैं। उनके पहले हिन्दी भाषा में नाटकों का अस्तित्व न था। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास की 'शकुन्तला' का अनुवाद अवश्य किया था पर वह केवल अनुवाद था। मौलिक नाटक अप्राप्य थे। बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य की इस कमी को पूरा करने की कोशिश की। उन्होने छोटे-बड़े अठारह नाटक लिखे जिनमे कुछ मौलिक और कुछ अनुवाद हैं। मौलिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' ऐसी किताबें हैं जो संसार की किसी भाषा का गौरव हो सकती हैं, और 'मुद्राराक्षस' यद्यपि एक संस्कृत नाटक का अनुवाद है तथापि उच्चकोटि की रचना के सारे गुणों से भरपूर। इस सारे साहित्यिक कृतित्व पर दृष्टि डालकर कह सकते हैं कि हरिश्चन्द्र जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा का कवि हिन्दी भाषा में शायद ही दूसरा पैदा हुआ होगा।

बाबू हरिश्चन्द्र एक नामवर बाप के बेटे थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र बनारस क एक जाने-माने रईस थे। वह 'गिरधर' उपनाम से कविता करते

थे। नीति-परक विषयों पर लिखने में वह बेजोड़ थे। हरिश्चन्द्र ने धन सम्पत्ति साथ काव्य-रचना की योग्यता भी उत्तराधिकार में पाई थी और यद्यपि संपत्ति उनके खुले हाथों में बहुत दिन न रही मगर काव्य-रचना के उत्तराधिकार में उन्होने सपूत बेटे की तरह बहुत कुछ वृद्धि को। वह सम्वत् 1907 में पैदा हुए और कुछ दिनो घर पर हिन्दी और फारसी पढ़ने के बाद क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए मगर यहाँ पढ़ाई का सिलसिला ज्यादा दिनो तक न चल सका। वह पाँच ही साल के थे कि उनकी माँ का देहांत हो गया और सम्वत् 1917 में जब उनकी उम्र दस साल से ज्यादा न थी, बाबू गोपालचन्द्र का देहांत हो गया। इन कारणों से उनकी पढ़ाई ढंग से न हुई और छुटपन में ही गृहस्थी का बोझ भी सिर पर आ पड़ा। पढ़ने-लिखने में यूं ही उनकी तबियत न लगती थी, गृहस्थी एक बहाना हो गई, पढ़ना छोड़ बैठे। मगर इसी उम्र में वह काव्य-रचना की प्रतिभा का प्रमाण दे चुके थे। यह गुण उनमें दैवी था। पाँच हो साल की उम्र में एक दोहा लिखकर अपने कवि पिता को आश्चर्य में डाल दिया था और जिस समय उन्होंने पढ़ना छोड़ा वह अपने काव्यमर्मज्ञ मित्रों के बीच काफी ख्याति पा चुके थे। जीवन के आरंभिक वर्षों में उन्होंने विद्योपार्जन के प्रति बहुत उत्साह नहीं दिखलाया लेकिन अपनी दैवी बुद्धि से इस कमी को बहुत जल्द पूरा किया और हिन्दुस्तान की कुल भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उनका

अंग्रेजी ज्ञान बहुत अच्छा था। यह बात उनके 'दुर्लभ बंधु' से प्रकट होती है जो शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है। मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी, उर्दू, मैथिली इन सब भाषाओं में वह केवल अपने विचार ही प्रकट नहीं कर सकते थे बल्कि कविता भी कर सकते थे। इससे उनकी प्रखर बुद्धि का अंदाजा किया जा सकता है।

बाबू हरिश्चन्द्र का खानदान बनारस के जाने-माने और पैसे वाले घरानों में था। उन्हें कई लाख की जायदाद उत्तराधिकार में मिली थी मगर उन्होंने धन-सम्पदा की परवाह करना न सीखा था। दोस्तों के आतिथ्य-सत्कार, विलासपूर्ण जीवन, गरीबों की मदद और कवियों की क़द्रदानी में वह रुपया पानी की तरह बहाते थे। दीवाली के रोज तेल की जगह इत्र से दिये जलाते थे और सिर और शरीर में तो वह तेल के बदले आमतौर पर खूब मंहगे इत्र मला करते थे। कवियों की क़द्रदानी का यह हाल था कि एक-एक दोहे पर खुश होकर सैकडों रुपये इनाम दे देते। याचक को जवाब देना उन्होंने सीखा ही न था। जैसा कि दुनिया क कायदा है, ऐसे खर्चीले आदमियों की कमजोरी से फायदा उठाने वाले भी ढेरों पैदा हो जाते हैं। बाबू हरिश्चन्द्र को दौलत उनकी नाजरबरदारियों में खूब खर्च होती थी। उनके इस खर्चीलेपन को देखकर एक बार महाराज बनारस ने उनसे कहा, 'बाबूजी, घर देखकर काम करो।' इसका जवाब आपने दिया, 'महाराज, यह दौलत मेरे कितने ही

पुरखों को निगल गई है, अब मैं इसे खा जाऊँगा।' इससे उनके स्वभाव की मस्ती का सबूत मिल सकता है।

भारतेन्दु बड़े रंगीले, बांके, सुंदर, सजीले आदमी थे। सौंदर्य-प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। सुंदरता खुद ब खुद उनकी आँखों में खुब जाती थी और कवि में यह एक विशेष गुण है। चित्रों से उन्हें बड़ा प्रेम था। बड़ी तलाश और खर्च से उन्होंने एक अनूठा संग्रह एकत्र किया था मगर एक दोस्त को उनके प्रति बहुत अनुरक्त देखकर उन्हें दे डाला। सौंदर्य की प्रशंसा और वर्णन से उनकी कविता भरी हुई है और साहित्य-रसिकों का विचार है कि इस रंग में उनकी तबियत असाधारण जोर दिखा गई है। नाटकों को छोड़कर, उनका काव्य सौंदर्य और प्रेम की भावनाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक कवि चाहे उसने कैसी ही बहुमुखी प्रतिभा क्यों न पाई हो सिर्फ एक ही क्षेत्र में चोटी पर पहुँचता है। हरिश्चंद्र ने करुणा, प्रेम, प्राकृतिक दृश्य, वीरता, वैराग्य, हास्य, नीति आदि सभी रंगों में अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। मगर वह घुलावट जो उनके सौंदर्य-चित्रण में पैदा हो गई है, दूसरे रंगों में अपेक्षाकृत कम है।

जिंदादिली बाबू हरिश्चन्द्र का विशेष गुण थी और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होती थी। साहित्य-रचना, देशप्रेम, सामाजिकता – इन सब कार्यों

में उन्होंने आगे बढ़कर योग दिया। उन्होंने गद्य और पद्य की कई पत्रिकाएं जारी कीं और नुकसान उठाकर चलाईं। साहित्य के विकास के लिंए एक संस्था स्थापित की। कुछ दिनों तक एक रीडिंग क्लब चलाया और चौखंबे में एक अंग्रेजी स्कूल कायम किया। इसके खर्चे वह बारह साल तक खुद अदा करते रहे। उनका लगाया हुआ यह शिक्षा का पौधा अब एक ऊँचा-पूरा पेड़ हो गया है। इसमें अब स्कूल लीविंग तक की पढ़ाई होती है। मकान नया बन गया है और विद्यार्थियों की संख्या चौगुनी हो गई है। इन बातों से प्रकट होता है कि बाबू हरिश्चन्द्र जमाने की रफ्तार से और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे।

उनकी जिंदादिली बहुधा चुहल और दिल्लगीबाजी में खर्च होती थी। होली के दिनों में उनके यहाँ अबीर और गुलाल का दरिया बहता था। वह खुद कमर में एक मोटा-सा कुंडा बांधे, मसखरों का एक तूफाने-बेतमीजी साथ लिये बड़ी आजादी से कबीरें गाते निकलते थे। इन दिनों में वह फक्कड, स्वांग, नकल, फोहश, किसी से बाज न आते थे। अप्रैल की पहला तारीख अंगेजों के यहाँ दिल्लगी का दिन है। आज के दिन हर किस्म का मजाक जाएँज़ है। बाबू हरिश्चन्द्र इस तारीख को शहर वालों के दिलबहलाव के लिए जरूर कोई न कोई गुल खिलाते थे। एक बार एलान कर दिया कि एक मशहूर उस्ताद हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ्त गाना सुनायेंगे। जब हजारों आदमी

जमा हो गये तो पर्दा खुला और एक आदमी मसखरों का भेस बनाये, उल्टा तम्बूरा हाथ में लिये बरामद हुआ और बड़ी भोंड़ी आवाज में रेंकने लगा। लोग समझ गये कि भारतेन्दु ने यह शगूफा खिलाया है। शर्मिंदा होकर वापिस गये।

मगर इस आजादी और बेफिक्री के बावजूद उनके स्वभाव में संतोष भी बहुत था। वह अपनी कमजोरियों पर कभी-कभी लज्जित भी होते थे मगर नानी ने हरिश्चन्द्र के स्वभाव को देखकर उनके छोटे भाई के नाम सारी जायदाद का हिब्बेनामे कर दिया। हिब्बेनामे पर बाबू हरिश्चन्द्र के दस्तख़त बहुत जरूरी थे मगर जब यह कागज उनके सामने आया तो उन्होंने बेधड़क उस पर दस्तखत कर दिये और दो-ढाई लाख की जायदाद की जरा भी परवाह न की। यह उनकी उदारता और निस्पृहता का बहुत अनूठा उदाहरण है।

बाबू हरिश्चन्द्र का साहित्यिक जीवन बाकायदा तौर पर अठारहवें साल से शुरू हुआ और यद्यपि उन्होंने उम्र बहुत कम पाई, देहांत हुआ तो उनकी उम्र सिर्फ छत्तीस साल थी, तो भी इन्हीं अठारह वर्षों में उन्होंने अपने कलम से हिन्दी जबान को मालामाल कर दिया। उनकी रचनाएँ तीन

हिस्सों में बाँटी जा सकती हैं नाटक, कविताएँ और गद्य के विविध लेख। इनमें से हर एक की संक्षिप्त चर्चा करना बहुत जरूरी मालूम होता है।

बाबू हरिश्चन्द्र के नाम से सोलह सम्पूर्ण नाटक मिलते हैं मगर अधिकांश बहुत छोटे हैं जो कुछ पन्नों में ही खत्म हो गये हैं। इनमें अधिकांश संस्कृत नाटकों के अनुवाद या रूपांतर हैं। मौलिक नाटकों की संख्या पाँच से अधिक नहीं। इनमें भी चन्द्रावली, नीलदेवी और सत्य हरिश्चन्द्र के अलावा और किसी नाटक को ठीक अर्थों में नाटक नहीं कहा जा सकता। वैदिक हिंसा, अंधेर नगरी नाटक नहीं बल्कि राष्ट्रीय और सामाजिक प्रश्नों पर हास्य-व्यंगपूर्ण चुटकुले हैं जो बहुत लोकप्रिय हुए और बार-बार खेले गये। 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र की नैतिक और सांस्कृतिक दुर्बलताएँ बड़ी प्रभावशाली, हास्यपूर्ण और कहीं-कहीं दर्दनाक ढंग से दिखाई गई हैं। 'चन्द्रावली' प्रेम और प्रेम के रहस्यों की एक पिटारी है जिससे कवि की सूझ-बूझ और मर्मभेदी दुष्टि का बखूबी अंदाजा किया जा सकता है। 'नीलदेवी' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमे अमीर अब्दुलशरीफ खाँ और महाराज सूरजदेव के मार्के बयान किये गए हैं और सौंदर्य व प्रेम के मनचले कवि ने लड़ाई के मैदान में ऐसी काटें की हैं कि उसे पढ़कर दिलों में वीरता की एक लहर पैदा हो जाती है। 'मुद्राराक्षस' यद्यपि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद है तो भी इसमें मूल के सब गुण वर्तमान हैं और

इसीलिए अनुवाद में जहाँ-तहाँ अनुचित रूपांतर का धोखा होता है। हरिश्चन्द्र की शायद सबसे प्रसिद्ध कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' है। इसमें महाराज हरिश्चन्द्र की सच्चाई की परीक्षा का जिक्र है।'महाभारत' में इसका संक्षिप्त उल्लेख आया है। जैसे कालिदास ने महाभारत से 'विक्रमोर्वशी' और 'शकुंतला' का प्लाट लेकर उनको बुनियाद पर अपने अमर नाटकों की इमारत खड़ी की है उसी तरह बाबू हरिश्चन्द्र ने भी इस नाटक में महाभारत से घटना ले लो है। महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यवंश के एक चक्रवर्ती राजा थे जो सच्चाई, वचन-पालन और वफादारी में इस तरह एक कहावत बन गये हैं जिस तरह हनुमान वीरता में, संकल्प में रावण, न्याय में युधिष्ठिर और हिम्मत में भीष्म पितामह। इस नाटक में विश्वामित्र ऋषि का राजा हरिश्चन्द्र को परीक्षा के लिए आना, राजा का विपत्ति में पड़कर बनारस जाना, वहाँ एक डोम के हाथ बिकना, फिर शमशान की चौकीदारी पर नियुक्त होना, रानी शैव्या का रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आना, राजा का उससे कफन माँगना – ये घटनाएँ बहुत हो करुण, प्रभावशाली और निपुण ढंग से दिखलायी गयी हैं। उनको दुहराने को यहाँ जरूरत नहीं है क्योंकि ऐसे बहुत शिक्षित लोग न होंगे जिन्होंने इस नाटक का न पढ़ा हो या खेले जाते न देखा हो। यह घटनाएँ स्वयं मनुष्य की नैतिक ऊँचाइयों का सुंदरतम उदाहरण हैं। उन पर बाबू हरिश्चन्द्र की जादू-भरी कलम ने सोने में सुहागे

का काम किया है। हमने कई बार इस नाटक का खेल देखा है। जिस वक्त शैव्या रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आती है उस वक्त दर्शकों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। विलाप का दृश्य इससे अधिक प्रभावशाली अगर किसी हिन्दी कवि ने खींचा हैं तो वह महाराजा रामचन्द्र का वनवास है। ऐसा कोई कालेज कोई हास्टल, कोई लिटरेरी सोसाइटी और कोई ड्रामैटिक कंपनी न होगी जिसने यह खेल न किया हो। मगर तुलसी के वनवास की तरह हरिश्चन्द्र का यह वर्णन दिलों पर असर किये बगैर नहीं रहता। इसमें कोई शक नहीं कि जब तक हिन्दी भाषा जिंदा रहेगी यह नाटक सर्वप्रिय रहेगा।

लेकिन अगर इस नाटक को, जिसके कथानक की रचना में कवि को बहुत ज्यादा प्रयत्न नहीं करना पड़ा, अलग कर दिया जाये तो बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों में एक खास कमजोरी नजर आती है और वह है कथानक की दुर्बलता। यह दोष 'चन्द्रावली' और 'नीलदेवी' में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनमें वर्णन-शक्ति, भाव, दृश्य-चित्रण सब कुछ है मगर प्लाट कमजोर है और इसी प्लाट की कमजोरी ने अच्छे करेक्टरों को पैदा न होने दिया। 'हरिश्चन्द्र' के अलावा उनके बाकी मौलिक नाटकों में कोई कैरेक्टर ऐसा नहीं – या हैं तो बहुत कम – जो मनुष्य के उच्च जीवन का आदर्श बन सके और नैतिकता के ऊँचे शिखरों तक पहुँचे। घटनाओं के प्रकार पर कैरेक्टरों

की हीनता और उच्चता निर्भर है। दुर्बल घटनाओं की स्थिति में ऊँचे कैरेक्टर क्योंकर पैदा हो सकते हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं में अगर्चे नाटकों की सी मौलिकता नहीं, क्योंकि इस मैदान में नया कुछ बहुत कम बचा है, लेकिन उसका स्थान बहुत ऊँचा है। काव्य-मर्मज्ञों ने उसको बहुत मान दिया है और हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में उनकी गिनती की है। उर्दू में उदाहरण देकर उनकी कविता की विस्तृत चर्चा नहीं की जा सकती। सिर्फ इतना कहना काफी है कि उन्होंने हर रंग में अपनी प्रतिभा का जौहर दिखाया। सौंदर्य और वीरता का मैदान उनके लिए इतना ही आसान था जितना कायरता और घृणा का। तब भी जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, प्रेम के रंग में उनकी कविता असाधारण रूप से सशक्त, प्रभावशाली और नैचुरल है। अध्यात्म और वैराग्य में भी उनकी तबियत ने जोर दिखाया है और जब यह खयाल करो कि यह ऐशपसंद, शौकिन, रसीले कवि की रचना है तो सचमुच आश्चर्य होता है। वह अपने युग के केवल कवि नहीं बल्कि राष्ट्रीय कवि थे. और राष्ट्रभाषा की हैसियत से हर एक पब्लिक और राष्ट्रीय घटना पर उन्होंने आवश्यकतानुसार बधाई, शोक, स्वागत, विदाई आदि की कवितायें लिखी हैं मगर उनमें कोई विशेषता नहीं। कविता से और उसके असली उद्देश्यों से उनका कवि-स्वभाव कैसा परिचित था वह इस बात से बखूबी जाहिर हो

जाता है कि उन्होंने कविता के नौ रसों में चार और जोडे और काव्य-मर्मज्ञों ने इस संशोधन को एक मत से स्वीकार कर लिया।

बाबू हरिश्चन्द्र के गद्य-लेख विभिन्न विषयों पर हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक, राष्ट्रीय नैतिक – गरज कि सभी प्रश्नों पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है मगर उनमें न विचारों की ताजगी है न खोजी, हाँ जबान अलबत्ता साफ-सुथरी है।

हिन्दी के साहित्य संसार ने भी भारतेन्दु का यद्यपि उतना सम्मान नहीं किया जिसके वह अधिकारी हैं तो भी तुलसी और केशव जैसे उच्चकोटि के कवियों को देखते हुए काफी गनीमत है। तुलसी की कोई प्रामाणिक और संपूर्ण जीवनी नहीं, सूर और केशव भी गुमनामी के कूचे में पड़े हुए हैं मगर बाबू हरिश्चन्द्र की कई जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें बिहार के बाबू वृजनन्दन सहाय की पुस्तक 'हरिश्चन्द्र का जीवन' बहुत विशद और मनोरंजक है। हिन्दी में उसका वही स्थान है जो उर्दू में 'हयाते ग़ालिब' का है। इन बातों पर नजर डालते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी में हिन्दी भाषा ने हरिश्चन्द्र जैसा समर्थ, उन्नत-विचार और उमंग से भरपूर कवि नहीं पैदा किया और गो अब भाषा की चर्चा दिन ब दिन ज्यादा हो

रही है मगर अभी बहुत अर्सा गुजरेगा जब हमको साहित्य की गद्दी पर हरिश्चन्द्र का कोई उत्तराधिकारी दिखायी देगा।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', जनवरी 1993]

कालिदास की कविता

यों तो संस्कृत साहित्य की आज तक थाह नहीं मिली। एक सागर है कि जितना डूबो उतना ही गहरा मालूम होता है। मगर तीन कवि बहुत प्रसिद्ध हैं — वाल्मीकि, व्यास और कालिदास। इनकी कृतियाँ एक-एक युग का संपूर्ण इतिहास हैं और यही उनकी ख्याति का आधार है। वाल्मीकि सबसे पुराने थे। उनकी कविता में कर्त्तव्य और सचाई का रंग प्रधान है। व्यास, जो उनके बाद हुए, अध्यात्म और भक्ति की ओर झुके और कालिदास ने सौंदर्य और प्रेम को अपना क्षेत्र बनाया। रामायण वाल्मीकि की और महाभारत व्यास की लोकप्रिय पुस्तकें है और ये दोनों हिन्दू धर्म का अंग बन गई हैं। मगर कालिदास को हम कुछ भूल-सा गए थे और अगर अंग्रेजी विद्वानों और लेखकों ने हमारा मार्ग-दर्शन न किया होता तो हम शायद अब तक इस अमर कृति को गुमनामी के कोने में पड़ा रहने देते। कालिदास की इस वक्त जो कुछ चर्चा है वह अंग्रेजी शिक्षा की देन है। कई शताब्दियों के बाद कालिदास का सितारा चमका है और आज उसके जीवन, युग और कृतियों पर अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में बहुत खोज और विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे

जा रहे हैं। हिन्दुस्तान और यूरोप में एक से उत्साह के साथ उसके संबंध में खोजबीन की जा रही है, यद्यपि अभी तक प्रामाणिक रूप से उसके जीवन के संबंध में सामग्री प्राप्त नहीं हुई।

कालिदास की कविता संक्षेप में कोमल भावनाओं और अलंकृत कल्पनाओं की कविता है। पुराने कवियों की कविता में सादगी और सहजता का रंग विशेष होता है, उपमाएँ और रूपक सर्वसुलभ, भावनाएँ सच्ची मगर सादा, वर्णन शैली सरल। और यही कारण है कि साधारण लोगों में पुराने कवियों को जो लोकप्रियता प्राप्त होती है उस पर बाद के कवि सदा ईर्ष्या किया करते हैं क्योंकि उनकी कविता, जिसे काव्य-रुचि की आवश्यकताएँ और युग की परिस्थितियाँ रंगीन, सूक्ष्म और उलझा हुआ बना देती हैं, साधारण लोगों की समझ से बाहर होती है। मगर बाद के कवियों में अनुकरण, कृत्रिमता और विषयों की दरिद्रता की जो सर्वसामान्य दुर्बलता पाई जाती है कालिदास की कविता उससे बिल्कुल अछूती है। रंगीनी और सूक्ष्मता के साथ उनकी कविता में वही सरलता, वही विषयों की नवीनता और वही कल्पनाओं की बाढ़ मौजूद है जो प्राचीन कवियों की कविता में पाई जा सकती है। उसकी प्रतिभा कविता की हर शैली का रंग में एक-सी समर्थ है। उसकी नाच-गाने की महफिलें निजामी को शर्मिन्दा कर देती हैं और लड़ाई के मैदान में फिरदौसी को कल्पना का घोड़ा भी ऐसी उड़ानें नहीं भरता।

सिर्फ 'मेघदूत' में सौंदर्य और प्रेम, संयोग और वियोग की भावनाएं इतनी अधिक मात्रा में मिलती हैं कि उन पर किसी भाषा की कविता को गर्व हो सकता है। उसकी एक एक कल्पना पर काव्यमर्मज्ञ चकित रह जाते हैं। पहले दिल पर एक नर्म असर होता है और फिर फौरन भावों की सूक्ष्मता, विचारों की विविधता और वर्णन के सौंदर्य को देखकर आश्चर्य होने लगता है। हमारे उर्दू के प्रेमियों ने प्रातः समीर को दूत बनाया। मीर ने सबसे पहले ये सेवा प्रातः समीर को सौंपी और दाग को भी इससे अधिक गतिशील और वाणी-निरपेक्ष कोई दूत दिखाई न पड़ा। दो शताब्दियों तक प्रातः समीर ने यह सेवा की और अब भी उसका गला न छूटा। मगर कालिदास ने एक नया दूत ढूँढ़ निकाला। वह मेघ को अपनी व्यथा की कहानी सुनाता है। ऐसी ही अछूती बातों से उसकी कविता भरपूर है। संस्कृत कवियों का यह एक विशेष गुण है कि वे अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यों की खूब चाशनी देते हैं। उनकी कवि-कल्पनाएँ सदाबहार फूलों और पत्तियों से सजी हुई नजर आती हैं। कालिदास में यह गुण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है। फूल-पत्तियों का जिस खूबसूरती और अछूतेपन से उसने प्रयोग किया है वह संस्कृत में भी किसी दूसरे कवि को सुलभ नहीं हुआ। उसकी उपमाएँ नई-नई कोंपलें हैं और रूपक महकते हुए रंग-बिरंगे फूल। यह ठीक है कि उर्दू और फारसी के कवियों ने बेल-बूटों का इस्तेमाल किया है मगर

उनके फूल-पत्ते मुरझाए हुए, बेरंग और बेमजा हैं। उनकी कल्पना की उड़ानें उन्हें आसमान पर उड़ा ले गईं और वहाँ जोहल व अतारिद, जोहरा व मुश्तरी जैसे नक्षत्रों से उनका परिचय करा दिया, यहाँ तक कि अब किसी फारसी कसीदे को समझने के लिए ज्योतिष और अंतरिक्ष-विज्ञान का जानना जरूरी है। संस्कृत कविता इतने ऊँचे न उड़ सकी मगर उसने इसी दुनिया की हर चीज को खूब गौर से देखा-भाला और उसका अध्ययन किया। वह किसी मीनार की तरह ऊँची नहीं बल्कि एक हरे-भरे मैदान की तरह फैली हुई है जिसमे हिरन किलोलें करते हैं, रंग-बिरगे पंछी चहचहाते हैं, हरियाली लहलहाती है और दर्पन-जैसे पानी के सोते बहते हैं। मतलब यह कि संस्कृत कविता को तीनों लोकों से समान रुचि है। वह जिस दुनिया में पैदा हुई है उसी दुनिया की हर चीज से परिचित है और यह सिर्फ शकुन्तला नाटक का पहला पार्ट पढ़ने से इस खूबी के साथ प्रकट हो जाता है जिसे बयान नहीं किया जा सकता। हिरन और भौंरा, माधवी,और कतेकी, कदंब और नीम, ये सब हमारे सामने आते हैं, बेजान चीजों की तरह नहीं, कवि ने उनमें एक जान डाल दी हैं, उन सब में प्रकृति की संवेदना का समान अंश है। इसी सीन को पढ़कर प्रसिद्ध कवि गेटे विभोर हो गया था, और वह भी केवल अंग्रेजी अनुवाद के अध्ययन से। और अब इस बात को सिद्ध करने के लिए ज्यादा दलीलों की जरूरत नहीं है कि वह

नशे का सा असर जो संस्कृत कविता हमारे दिलों पर पैदा करती है, किसी दूसरी भाषा की कविता के सामर्थ्य से परे है, विशेषतया उर्दू कविता के जिसकी उपमा उन पौधों से दी जा सकती है जो अक्सर बागों में बनावटी जिंदगी बसर करते नजर आते हैं, मुरझाए हुए पत्ते, निर्जीव पीले रंग, सिमटी हुई शाखें, न फल न फूल। फारस का पौधा हिन्दुस्तान में लगाया गया, न वह जमीन न वह आबहवा, न देखने से आँखों को ताजगी होती है न दिल को खुशी। जहाँ तक उपमाओं और दृश्य-चित्रण का संबंध है उर्दू कविता बड़े हद तक कृत्रिमता और अवास्तविकता की एक पिटारी है। संस्कृत कवियों के दृश्य और भावनाएं सब इसी धरती की हवा-पानी से बनी हैं और यही उनकी प्रभावोत्पादकता का रहस्य है। देखिए कालिदास वर्षा ऋतु में शहद की मक्खियों का शहद जमा करना किस नर्मी और खूबसूरती से दिखाता है –

तलाशे शहद में हैं मक्खियाँ सुबुक परवाज
मगर मिज़ाज में ये सादगी के हैं अंदाज
कि नाचते कहीं आते हैं जब नज़र ताऊस
फिजाये दश्त में फैलाये बाल-ओ-पर ताऊस
तराने गाती हुई जब करीब आती है
कंवल के फूलों के धोखे में बैठ जाती है।

महक रही है हवा केतकी के फूलों से
बसी हुई है सबा केतकी के फूलों से
हर एक रविश पे है जमघट परीजमालों का
अजब बनाव है फूलों के गहने वालों का
चमन में करती हुई सुब्हदम गुलअफशानी
लचक लचक के है पौदों को दे रही पानी
कहीं कदम के दरख्तों पर छा रही है बहार
हरे हरे किसी जानिब हैं नीम के अशजार

सरो, शमशाद और सनोबर के मुकाबले में कदम्ब और नीम और केतकी कैसे अपने जान पड़ते हैं।

कविता की इन खूबियों के अलावा कालिदास ने मानव चरित्र को भी बड़ी गहरी आँखों से देखा था। मानव-स्वभाव के उलट-फेर का उसे पूरा ज्ञान था। किन बातों से आदमी के दिल में कैसी भावनाएँ और विचार पैदा होते हैं वे उसने आश्चर्यजनक वास्तविकता के साथ दिखलाए हैं। उसके नाटक मानव चरित्र के चित्र हैं जिनके अंग-प्रत्यंग के संतुलन, रंगों की उपयुक्तता और चेहरे-मोहरे की सुघरता की तारीफ पूरी तरह नहीं की जा सकती। और इश्क की घातें और मुहब्बत के इशारे तो उसने ऐसी नजाकत के

दिखाए हैं जो काव्य-रसिकों को मुग्ध कर देते हैं। इस रंग में कोई उसका प्रतिद्वंदी है न उसकी बराबरी का दावा करने वाला वह इस रंग का उस्ताद है, गोकि यह सच है कि कभी कभी उसका कलम अपनी शोखी में हद से आगे बढ़ गया है। क्योंकि वह स्वच्छंद स्वभाव का आदमी था। मगर इसमें कोई संदेह नही कि उसने दाम्पत्य ही को प्रेम की सबसे ऊँची कसौटी माना है। 'मेघदूत' में विरही यक्ष जिस प्रेमिका की याद में तड़पा है वह उसकी पत्नी थी। 'ऋतुसंहार' में भी जहाँ-तहाँ इसके संकेत हैं –

वो महवशें जो बदलती हैं करवटें शाब भर
रुला रही है लहू जिनको दूरिये शौहर
बरस रही है उदासी अब उनकी सूरत पर
जिगर की आग कयामत है इक कयामत पर

कालिदास आमतौर पर हिन्दुस्तान का शेक्सपियर कहा जाता है और इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं। दुनिया में सिर्फ शेक्सपियर ही ऐसा कवि है जिसकी उससे तुलना को जा सकती है। दोनों नाटककार हैं, दोनों मानव-हृदय के मर्मज्ञ। उनकी कल्पनाएँ उनकी बंदिशे बहुत जगहों पर लड गई हैं। एक ही कवि-मन प्रकृति को ओर से दोनों को मिला था। किसी चीज को जिस निगाह से शेक्सपियर देखता है उसी निगाह से कालिदास भी उसे देखता है। व्यथा और शोक, निराशा और प्रतिशोध, प्रेम और वियोग में

आदमी के दिल में कैसी भावनाएँ लहरें मारती हैं, इसको जिस खूबी से शेक्सपियर ने दिखाया है, उसी रंगीनी के साथ कालिदास ने भी दिखाया है। शेक्सपियर के जितने कैरेक्टर हैं वह सब एक दूसरे से भिन्न हैं। हर एक में कोई न कोई अपनी विशेषता है। कालिदास के कैरेक्टरों की भी यही स्थिति है। शेक्सपियर के मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो, जूलियट की तस्वीरों को कालिदास के दुष्यंत, शकुन्तला, प्रियंवदा की तस्वीरों के मुकाबले में रखने से साफ मालूम हो जाता है कि इन दोनों कवियों को मनुष्य की प्रकृति का कैसा ज्ञान था। शेक्सपियर और कालिदास में अगर कुछ अंतर है तो यह है कि शेक्सपियर को मानव-चरित्र के चमत्कार दिखाने में अधिक कौशल है और कालिदास को प्रकृति के चित्रण में। शेक्सपियर को मानव-स्वभाव के भीतर जो पहुँच थी वही कालिदास को प्रकृति के चमत्कारों में थी। इसीलिए शेक्सपियर का साहित्य गंभीर है और कालिदास का रंगीन। शेक्सपियर जिस तरह अपने पहले और बाद के कवियों से बड़ा है उसी तरह कालिदास के साहित्य की रंगीनी और नर्मी संस्कृत में बेजोड़ है।

कालिदास की कविताओं और नाटकों से प्रकट होता है कि वह काव्य-शिल्प और पिंगल आदि के ज्ञान के अलावा विभिन्न शास्त्रों और कलाओं में भी सिद्ध थे। उनके साहित्य में जगह-जगह दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वह सांख्यदर्शन और योग पर अधिकार रखते थे।

वह शिव के उपासक थे मगर उनका विचार वेदांत की ओर झुका हुआ था। आत्मा और परमात्मा, शरीर और प्राण, माया और संसार आदि पेचीदा आध्यात्मिक प्रश्नों पर उन्होंने अपने साहित्य में बड़ी स्वतंत्रता के साथ विचार किया है। ज्योतिष की इस युग में बड़ी चर्चा थी। उज्जैन इस विद्या का उन दिनों केन्द्र था। वराहमिहिर, जो बड़ा प्रसिद्ध ज्योतिषी हुआ है, कालिदास के मित्रों में था और इसमें अब कोई संदेह नहीं हो सकता कि कालिदास को इस विद्या का प्रकांड ज्ञान था। उन्होंने खुद ज्योतिषी पर एक मार्के की किताब लिखी है जो आज तक चलती है। उनका भौगोलिक ज्ञान भी बहुत विस्तृत था। उन्होंने हिन्दुस्तान के हर कोने में सफर किया था। मेघदूत में उनके भौगोलिक ज्ञान का काफी प्रमाण मिलता है। जहाँ कहीं समुद्री दृश्य चित्रित किए हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि वह किसी आँखों-देखे दृश्य की तस्वीर खींच रहे हैं। प्रकृति-विज्ञान में भी उनकी दृष्टि गहरी और ठोक थी। ज्वार-भारा, तूफ़ान, चन्द्र, और सूर्य-ग्रहण आदि प्रकृति के चमत्कारों के संबंध में उन्होंने जो चर्चा को है, उनसे मालूम होता है कि उनके बारे में उन्हें वही ज्ञान था जिस पर आज के वैज्ञानिक एकमत हैं। और राजनीति के तो वे जैसे एक सागर थे। 'रघुवंश' में शुरू से आखिर तक राजाओं ही का जिक्र है। इसमें सैकडों ऐसे प्रसंग हैं जिनसे पता चलता है कि उन्हें राजनीति का पूरा ज्ञान था। राजा किसे कहते हैं? उसका क्या

धर्म है? प्रजा के साथ उसका कैसा बर्ताव होना चाहिए? प्रजा के उस पर क्या अधिकार हैं? इन बातों को जैसा कुछ कालिदास समझते थे शायद आज बड़े-बड़े बादशाहों को भी वह ज्ञान न होगा। कहने का मतलब यह कि कालिदास एक अत्यंत गुणी व्यक्ति, सिद्धहस्त कवि और ज्ञान का सागर था। उसकी बुद्धि के विस्तार पर हमको आश्चर्य होता है। उपमाओं में दुनिया का कोई कवि उससे आँखें नहीं मिला सकता। उसकी उपमाएँ ऐसी उपयुक्त, ऐसी सटीक, ऐसी सजीव हैं कि अगर उन्हें श्लोक में से निकाल दीजिए तो श्लोक बिल्कुल नीरस और फीका हो जाता है। प्रकृति का कोई ऐसा चमत्कार नहीं जिससे उसने उपमा न ली हो। यह ठोक है कि हिन्दुस्तान को उसकी जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त हे मगर सच तो यह है कि वह हिन्दुस्तान का नहीं बल्कि सारी दुनिया का कवि है। हिन्दुस्तानियों को उसके काव्य से जो आनंद प्राप्त हो सकता है वही किसी दूसरे देश के आदमी को हासिल हो सकता है। उसके लिए दुनिया कविता की एक पिटारी थी। जिस चीज पर निगाह डाली है उसे अपनी कविता का आभूषण बना लिया है। वेद, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि विधायें जिन्हें कवि रूखा-सूखा समझते थे और जिनका कविता से कोई संबंध नहीं बतलाया जाता वह कालिदास की कविता के अहाते में आकर कुछ और ही रंग-रूप अख्तियार कर लेती है। पदार्थ जगत् को कविता के आभूषण से सजाने

वाला, ठूँठ पेड़ों और वीरान खंडहरों में वह मजा पैदा करने बाला जो हरे-भरे पेड़ों और सजे हुए महलों से न मिल सके, ऐसा समर्थ कवि दुनिया में दूसरा नहीं पैदा हुआ और जब तक कविता के मर्मज्ञ और सौंदर्य-रसिक बाकी रहेंगे तब तक कालिदास का नाम कायम रहेगा। वह संस्कृत कविता का पूरनम का चाँद है और जिस व्यक्ति में कविता की जितनी ही रुचि और सच्ची परख है वह कालिदास की कविता से उतना ही आनंद उठा सकता है।

कालिदास की कृतियाँ, जिनका अब तक पता चला है, संख्या में सोलह हैं मगर उनकी ख्याति और लोकप्रियता जिन पुस्तकों पर आधारित है वे सात से ज्यादा नहीं, और इन सातों में कोई एक पुस्तक भी उसकी अमरता के लिए काफी है। इन सात तारों के चार अंग चार काव्य हैं – 1. रघुवंश, 2. कुमारसंभव, 3. मेघदूत, 4. ऋतुसंहार। और बाकी तीन वे नाटक हैं जिन्होंने कलाविदों को आश्चर्य में डाल दिया है – 1.शकुन्तला, 2. विक्रमोर्वशी, 3. मालविकाग्निमित्र। सभ्य संसार में इन पुस्तकों का जो कीर्ति मिली है वह शायद ही किसी दूसरे कवि को नसीब हुई हो। यूरोप की अधिकांश भाषाओं में उनका अनुवाद हो जाना, उनकी लोकप्रियता का सशक्त प्रमाण है। हिन्दुस्तान की लगभग सब भाषाओं में भी उनके अनुवाद हो गए हैं। नाटकों की लोकप्रियता का हाल यह है कि वह यूरोप और

अमरीका के थियेटरों में खेले जा चुके हैं और कालिदास की रचनाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी रखना सभ्य कहलाने के लिए जरूरी हो गया है। आज हिन्दुस्तान के चित्रकार कालिदास के कैरेक्टरों और दृश्यों को खींचना अपनी कला का उत्कर्ष समझते हैं। राजा रवि वर्मा का चित्र 'शकुन्तला-पत्र लेखन' स्वयं सौंदर्य और प्रेम की एक दुनिया है, जहाँ प्रकृति ने वेदना के मधुर और मोहक साधन एकत्र कर दिए हैं। ऐसी ही कल्पनाओं और दृश्यों से कालिदास को कविता भरी हुई है। नाटकों में प्रथम दो का अनुवाद उर्दू भाषा में भी हो गया हैं। 'शकुन्तला' का अनुवाद स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद ने किया था और 'विक्रमोर्वशी' का कुछ साल पहले मौलवी मोहम्मद अज़ीज़ मिर्जा साहब ने। 'शकुन्तला' का अनुवाद मूल संस्कृत से किया गया है और इसलिए मूल का रस कुछ बाकी है। 'विक्रमोर्वशी' शायद अंग्रेजी से उर्दू में आई है इसलिए मूल का आनंद उसमे न पैदा हो सका। तब भी काफी गनीमत है। मगर चारों काव्यों में से एक का अनुवाद भी उर्दू में अब तक नहीं हुआ। इस कमी की शिकायत मुसलमान साहित्यकारों से नहीं, मगर हिन्दू सज्जनों के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है। कितने ही हिन्दू लोग हैं जिनमे कविता की रुचि है, जो गजलें और कसीदे लिखते हैं और गुल-ओ-बुलबुल के झगड़ों में सर खपाते हैं मगर इतना न हुआ कि संस्कृत कवियों की कविता से जाति और भाषा को

लाभ पहुँचाएँ। उर्दू शेरोसुख़न का चर्चा ज्यादातर कायस्थों और कश्मीरियों में है और ये दोनों सम्प्रदाय अब तक आमतौर पर संस्कृत के अध्ययन से अलग-थलग हैं। मगर अब चूंकि संस्कृत की ओर रुझान होने लगा है इससे उम्मीद की जाती है कि शायद कुछ दिनों में हम रघुवंश, मेघदूत और कुमारसंभव को उर्दू भाषा में पढ़ सकें। रहा 'ऋतुसंहार' उसका अनुवाद मिस्टर शाकिर की मदद से स्वर्गीय सुरूर साहब ने किया है और अधिकांश ऋतुओं की कविताएं 'जमाना' के पाठकों के सामने पेश हो चुकी हैं।

हम लिख चुके हैं कि 'ऋतुसंहार' कालिदास के चार सर्वश्रेष्ठ काव्यों में से एक है। इसमें कवि ने हिन्दुस्तान की छ: ऋतुओं के दृरय और उनके परिवर्तनों और उनसे पैदा होने वाली भावनाओं और विचारों को बहुत ही सुंदर ढंग से बयान किया है। चूंकि उर्दू-फारसी में तीन ही मौसम माने गए हैं इसलिए मुनासिब मालूम होता है कि इन छहों ऋतुओं को यहाँ स्पष्ट कर दिया जाएँ –

क्रमांक	ऋतु का नाम	हिन्दी महीने	अंग्रेजी महीने
1.	ग्रीष्म	जेठ-असाढ़	जून-जुलाई
2.	वर्षा	सावन-भादों	अगस्त-सितंबर

3.	शरद	कुआर-कातिक	अक्टूबर-नवंबर
4.	हेमन्त	अगहन-पूस	दिसंबर-जनवरी
5.	शिशिर	माघ-फागुन	फरवरी-मार्च
6.	बसंत	चैत-वैशाख	अप्रैल-मई

उर्दू-फारसी कवियों ने मौसमी भावनाओं को सिर्फ उसी हद तक अपने शेरों में दखल दिया है जहाँ तक कि बसंत और पतझड़ का संबंध है, यहाँ तक कि पतझड़ और बसंत भी केवल रूपक हैं। खुशी के दिनों और गम के दिनों के लिए। हाँ, काले बादलों को देखकर कभी कभी साकी की याद आ जाती है –

तुंद ओ पुरशोर सियह मस्त जे कोहसार आमद
साकिया मुज़दा के अब्र आमद ओ बिसियार आमद

हिन्दुस्तान में मौसमी भावनाएँ हमारे सामाजिक जीवन में दाखिल हो गई हैं। हमेशा से उनकी अभिव्यक्ति होती आई है। वर्षा ऋतु आई और घरों में झूले पड़ गए, सावन और मल्हार की तानें गूंजने लीं, लड़कियों ने हाथ-पाँव में मेहंदी रचाई, प्यार के दर्द भरे भाव ने दिलों को बेचैन करना शुरू किया, यहाँ तक कि गलियों और बाजारों में जहाँ-तहाँ इसकी आवाजें सुनाई देने

लगीं। संस्कृत कवियों ने बसंत को ऋतुराज या मौसमों का राजा माना है। पेडों में नई नई कोंपलें निकलीं, आम की बौर की महक से हवा सुगंधित हो गई, खलिहानों में सुनहरी बालों के ढेर लग गए, कोयल आम की डाली पर बैठकर कूकने लगी, प्रेमीजनों को रोने की सूझी, उत्सुकता ने दिलों को गुदगुदाया, प्रेमिकाएँ अपना रूठना भूल गईं, बसंत की सुहानी पुकार कानों में आई –

आयी बंसत बहार बलम घर न आये सखी

कालिदास ने ऋतुओं के इन्हीं दृश्यों को अपनी चमत्कारिक लेखनी से अंकित किया है और इस खूबी से अंकित किया है
किं हर एक मौसम का समा आँखों में फिर जाता है। खासतौर पर बसंत ऋतु का वर्णन ऐसा सरस, ऐसा यथार्थ और सुकुमार भावनाओं से ऐसा अलंकृत है कि उसकी तारीफ नहीं की जा सकती –

फूल खिलते हैं जो टेसू के बियाबानों में
जान पड़ जाती है उश्शाक के अरमानों में
आते हैं – पे आमों के इसी रुत में शजर
कोयल आती है इसी रुत में दरख्तों पे नजर
छेड़ती है लबे जू आके तराना अपना

सारे आलम को सुनाती है फसाना अपना
भोरे फूलों पे हैं सरमस्त मये जोशे बहार
झूमते हैं असरे बादे सबा में अशजार
चुटकियां लेती हैं रह रहके उमंगे दिल में
नशए शौक की उठती हैं तरंगें दिल में

कालिदास की अन्य कृतियों की तरह 'ऋतुसंहार' का अनुवाद भी योरप की अधिकांश भाषाओं में हो गया है। हिन्दी भाषा में लाला सीताराम साहब और राजकुमार बाबू देवकीनन्दन साहब ने उनका पद्यबद्ध अनुवाद किया है। कुछ समय हुआ बंगाल के प्रसिद्ध चित्रकार बाबू अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ऋतुसंहार' के मौसमी दृश्यों की तस्वीरें खींची थीं जो बहुत पसंद की गईं। इनके अलावा बंबई के प्रसिद्ध चित्रकार मिस्टर धुरंधर ने भी 'ऋतुसंहार' से संबद्ध छः तस्वीरें खींची हैं जो देखने योग्य हैं। योरोपियन कलामर्मज्ञ इस छोटे से कितु मार्मिक काव्य को बड़ी प्रशंसा की आँखों से देखते हैं। जाना-माना इतिहासकार एलफिन्सटन कहता है –

'भावनाओं को अंकित करने के साथ-साथ यह कवि उन तमाम स्थितियों का चित्र खींच देता है जो उन भावनाओं के प्रेरक हुए और दृश्यों की खूबियाँ और उनके आकर्षण ऐसे जादू-भरे शब्दों में बयान करता है कि वह

आदमी भी जो इन पौधों और जानवरों से अपरिचित हो हिन्दुस्तानी दृश्य का खाका अपने दिल में कायम कर सकता है।'

प्राच्यविदों का शिरोमणि मोनियर विलियम्स लिखता है –

'इस काव्य का एक-एक श्लोक किसी-न-किसी भारतीय दृश्य का एक संपूर्ण चित्र है।'

काव्य-मर्मज्ञों का विचार है कि 'ऋतुसंहार' कालिदास के यौवन-काल की कृति है और कई कारणों से इस विचार की पुष्टि होती है। यौवन-काल सौंदर्य और प्रेम और भोग-विलास का समय होता है। इस वक्त तक गम के कांटे पहलू में नहीं खटकते और दुनिया की कठोरताओं का अनुभव नहीं होता। नौजवान कवि की कविता निराशा और वेदना और शोक और विपत्ति के भावों से मुक्त होती है। कवि को मुहब्बत की दास्तान, मिलन की खुशियों और प्रेमिका की गुपचुप बातों से इतनी फुर्सत ही नहीं मिलती कि वह बेदना का राग गाए। जब दिल हँसता हो तो आँखों क्योंकर रोएं। 'ऋतुसंहार' शुरू से लेकर आखिर तक प्रेम के रस में डूबा हुआ है। अरमानों के दिन हैं, मुरादों की रातें। वह तेजी, वह जोश, वह बेतकल्लुफी, वह रंगीनी, वह ताजगी, वह चहल-पहल जो जवानी की खासियतें हैं इस कविता में शुरू से आखिर तक भरी हुई हैं। सुंदरियों की चर्चा से कवि का

जी नहीं भरता। कहीं उनके गलो के गजरों का बयान है, कहीं उनकी मेहंदी-रची हथेलियों का। कवि ने हर एक मौसम को सुंदरियों की आँखों से देखा है। हर एक कल्पना, हर एक भाव यहाँ तक कि रूपक और अन्वय सुंदरियों के रूप से सजे हुए हैं। यह भी नौजवान कवि की एक ख़ासियत है कि उसे हर जगह औरत ही सूझती है। नौजवान कवि के दिल पर कोई जादू इतना असर नहीं करता जितना कि रूप का जादू। सुंदर स्त्री ही उसकी भावनाओ को उभारती है, सुंदर स्त्री उसकी आशाओं का आरंभ और उसकी उमंगों की सीमा और उसके आकर्षणों का स्रोत होती है। कहने का आशय यह कि ऋतुसंहार एक जवान कविता है, जवानी की खुशियों से चमकती हुई, जवानी की मुहब्बत से महकती हुई और जवानी की उम्मीदों से भरी हुई।

हजरत 'सुरूर' के अलावा मौलवी अब्दुल हलीम साहब 'शरर' ने अपने रिसाले 'दिलगुदाज' में 'ऋतुसंहार' की तीन ऋतुओं का अनुवाद गद्य में किया है। जून, सन् 1914 के 'दिलगुदाज' में उन्होंने इस काव्य के बारे में इन शब्दों में अपना विचार व्यक्त किया है –

'हिन्दुस्तान के शेक्सपियर कालिदास ने ऋतुसंहार के नाम से छः कविताएँ छः ऋतुओं के संबंध में लिखी हैं जिनमे खास हिन्दुस्तान की ये ऋतुएँ इस खूबी और मजे के साथ दिखाई हैं कि पढ़ने से मौसमी कैफियत की तस्वीरें

आँखों में फिर जाती हैं... इन कविताओं में नई उपमाएँ, नई कल्पनाएँ और नई बंदिशें हैं जो इस लिटरेचर के लिए, जिसका जन्म हिन्दुस्तान में हुआ, अंग्रेजी और फारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से ज्यादा उपयुक्त और प्रभावशाली हैं।'

मूल-काव्य में कालिदास की रंगीन-बयानी कहीं-कहीं हद से आगें बढ़ गई है। फल जब ज्यादा मीठा हो जाता है तो उसमे कीड़े पड़ जाते हैं। मगर अनुवादक ने इन स्थलों को, जैसा कि उसका नैतिक कर्त्तव्य था, नजर से ओझल कर दिया है। काश उर्दू के कवि मौलाना शरर की तरह समझते कि इन कविताओं की नई उपमाएँ, नई कल्पनाएँ, और नई बंदिशें उर्दू लिटरेचर के लिए अंग्रेजी और फारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से अधिक उपयुक्त हैं तो आज उर्दू शायरी को इतने ताने न मिलते और उसे इतना बुरा-भला न कहा जाता। मगर मौलाना शरर ने इस काव्य का अनुवाद गद्य ही में लिखने पर संतोष किया, हालांकि यह जाहिर है कि कवि की कल्पनाएँ कविता में ही मजा देती हैं। गद्य की काया में आकर उनकी वही हालत हो जाती है जो मजेदार शराब की रूखे-सूखे वैरागियों के गिरोह में या किसी सुंदरी की नग्नता के परिधान में। बहरहाल कालिदास के विचारों को उर्दू पद्य में रूपांतरित करने का काम जवानी में ही सिधार जाने वाले सुरूर साहब के जिम्मे रहा और इसको उन्होंने जिस शानदार कामयाबी के साथ

पूरा किया है उसकी तमाम उर्दू पब्लिक को कद्र करनी चाहिए। दरअसल शायर ने अनुवाद में मूल का रस पैदा कर दिया है। सरलता इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है। संस्कृत में पेचीदा और जटिल भावों को पद्य में रूपांतरित करते समय सरलता का ध्यान रखना और उसमे कामयाब हो जाना कवि के कौशल और काव्य-शक्ति का प्रमाण है।

थे बरंगे दीदये उश्शाक जो चश्मे पुरआब
उड़ रही है खाक उनमें सूरते मौजे सराब
सत्हे गर्दू को समझ कर चश्मये आबे रवां
तक रहे हैं दीदये हसरत से होकर नीमजां

कितना सच्चा और नेचुरल खयाल है और कितनी खूबसूरती से कविता में बाँधा गया है –

धूप से हैं ऐसे घबराये हुए मारे सियाह
बाजुये ताऊस के साये में लेते हं पनाह

मोर सांप का दुश्मन है मगर सख्त गर्मी ने उनके होश-हवास इस तरह उड़ा दिए हैं कि न सांप को डर रहा और न मोर को शिकार करने की ताब। उर्दू में ऐसे विचार देखने को नहीं मिलते और अनुवादक ने प्रशंसनीय सामर्थ्य से उन्हें पद्यबद्ध किया है –

धूप की शिद्दत से यूं आतश बजां ताऊस हैं
बाजुए ज़र्री नहीं हैं शोल-ए-फानूस हैं

कैसा अछूता और अनूठा खयाल हैं और जितने संक्षेप में इस भाव को व्यक्त किया गया है वह सोने में सुहागा है ¦

ठुण्ड कुछ सूखे हुए आते हैं सहरा में नज़र
चोंच खोले जिसपे दम लेतीं हैं चिडियां बैठकर

कैसी तस्वीर खींच दी है। इसी का नाम शायरी है। शायर की निगाह किस कदर पैनी है। जंगली झरबेरियाँ और करोंदे के पेड़ भी उससे नहीं बचे जिनको तरफ उर्दू शायर कभी भूलकर भी आँख नहीं उठाता –

अजब अंदाज से बेलों को हिलाती है नसीम
और करौदे के दरख्तों को नचाती है नसीम
यूं हर एक फूल पर टेसू की बरसती है बहार
सुर्ख जैसे किसी तोते की नुकीली मिनकार
फूल शाखों पे हैं खोले हुए आगोश निशात
भौरे कुंजों में हैं सरमस्त मये जोशे निशात

इन उदाहरणों से पाठकों के सामने स्पष्ट हो गया होगा कि अनुवाद में कितने संक्षेप से काम लिया गया है और प्रवाह जो किसी मौलिक कविता में

पाया जाता है यहाँ शुरू से आखिर तक मौजूद है। इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए कि कवि को किस हद तक अनुवाद में सफलता मिली है, उचित तो यह था कि संस्कृत के श्लोक और उनके अनुवाद आमने-सामने लिखे जाते मगर उर्दू में संस्कृत के समझने वाले बहुत कम हैं और इस बाल की खाल निकालने से कुछ हासिल नहीं। ग्रीष्म ऋतु की कविता को अनुवादक ने कुछ छोटा कर दिया है क्योंकि इसमें अधिकतर ऐसे जानवरों का जिक्र था जिनके नाम से भी उर्दू पाठक परिचित न होंगे। कालिदास की काव्य-सामर्थ्य का एक प्रमाण यह भी है कि वह एक ही विचार को बार-बार अलग-अलग ढंग से व्यक्त करता है और विचार की ताजगी में फर्क नहीं आता। उर्दू जैसी दरिद्र भाषा में शब्दों की यह बहुतायत कहाँ! ऐसे विचार चूंकि खूबसूरती से कविता में नहीं आ सकते थे इसलिए शायद पुनरावृत्ति के भय से अनुवादक ने नजर से ओझल कर दिया है और हमारे खयाल में यह विवशता उनकी नहीं बल्कि उर्दू भाषा की है।

['कालिदास की शायरी' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अगस्त 1914]

पैके अब्र

'मेघदूत' कालिदास के खंड-काव्यों में एक विशेष स्थान रखता है। कालिदास ते प्रेम के भावों का खूब वर्णन किया है और यह कविता इस खूबी से संजायी गई है कि इसी बुनियाद पर कुछ आलोचकों का विचार है कि यह कवि के यौवन काल की कृति है। इन पंक्तियों के लेखक ने हजरत शाकिर मेरठी के 'अक्सीरे सुखन' की भूमिका में उर्दू जबान के हिन्दू शायरों से प्रार्थना की थी कि वे कालिदास की कविताओं को उर्दू का जामा पहिनायें और मुझे बहुत खुशी है कि मेरी यही प्रेरणा अरण्य-रोदन सिद्ध नहीं हुई। किसी के हाथों का जस होता है किसी के बातों का जस होता है। इन पंक्तियों के लेखक को बातों ही में जस मिल गया। हजरत आशिक उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं और संस्कृत के कवियों के भी प्रशंसक हैं। उन्हें खुद ही यह चिंता होगी कि संस्कृत कविता की विशेषताओं से उर्दू दुनिया को परिचित करायें। मगर उन्होंने मेरी प्रेरणा को इसका आधार कहा है। इसके लिए मैं अपने को बधाई देता हूँ। वह प्रेरणा किसी अच्छी साइत में की गई थी क्योंकि 'पैके अब्र' ही तक उसका असर खत्म नहीं होता। मुंशी

इकबाल बहादुर वर्मा साहब सेहर ने 'शकुन्तला' को हजरत नसीम लखनवी के तर्ज पर नज्म किया है जो जल्दी ही छपने वाली है। सच बात यह है कि असर मेरी इस तुच्छ विनती में न था बल्कि यह उस राष्ट्रीयता को भावना का असर है जो हमको अपने पुरखों के कला-कौशल का आदर करना सिखलाती है।

कालिदास के नाम से उर्दू दुनिया अब अपरिचित नहीं। उसके काव्य-गुणों और पाडित्य से भी लोग थोडा-बहुत परिचित हो गये हैं। मतलब यह कि उसकी गिनती ससार के प्रथम श्रेणी के कवियों में है। 'मेघदूत' की कथा भी साधारणतः पाठक जानते हैं। अनुवादक ने अपने अनुवाद में विस्तार से उसका वर्णन किया है।

यह कालिदास की अत्यंत लोकप्रिय प्रेम की कविता है। एक विरही प्रेमी ने मेघ को अपना दूत बनाकर उसे प्रेम का संदेश दिया है। बरसात में जब बादलों के झुंड के झुंड तेजी से दौड़ते हुए एक तरफ से दूसरी तरफ चले जाते हैं तो क्या यह खयाल नहीं पैदा होता कि यह कहाँ जा रहे हैं। इस प्रेमी ने मेघ को दूत बनाने में एक बारीकी और सोची होगी। मिट्टी-पानी के दूत को दरबान की कृपा की अपेक्षा है और दरबान बेरुखी करे तो फिर झूला डालने के सिवाय कोई तदबीर नहीं। मेघदूत को किसी मदद की

जरूरत नहीं। वह ऊपर की दुनिया पर बैठा हुआ दूत का काम खूब कर सकता है। कालिदास को दृश्य-चित्रण में विशेष रुचि थी। इस संदेश में दृश्यों के प्रेम की भावनाओं का बहुत रंगीन संयोग दिखाई देता है। गोया उसने हरे-भरे मैदानों में हिरन छोड़ दिये हैं। इस काव्य की असामान्य विशेषता का अंदाजा इस बात से हो सकता है कि यूरोप की अधिकांश भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया है। हिन्दी भाषा में भी इसके कई पद्य और गद्य के अनुवाद मौजूद हैं। उर्दू में 'जमाना' में कई साल हुए मुंशी उमाशंकर 'फना' ने इसे संक्षेप में बयान किया था। इसे उर्दू शायरी का जामा पहली ही बार पहनाया गया। संस्कृत जैसी ललित और अर्थ-गंभीर भाषा का उर्दू में मतलब अदा करना बहुत मुश्किल है और यह दिक्कत और भी बढ़ जाती है जब काव्य में मूल का आनंद देने का प्रयत्न किया जाएँ। इस खयाल को दृष्टि में रखकर अगर 'पैके अब्र' को देखें तो हजरत आशिक की यह कोशिश यकीनन काबिलेदाद नजर आती है। अभी तक 'मेघदूत' का भूगोल बड़े-बड़े विद्वानों के लिए एक रहस्य बना हुआ है। कोई रामगिरि का नीलगिरि बताता है कोई चित्रकूट को। हजरत आशिक ने इस मसले पर भी रोशनी डालने को कोशिश की है।

हजरत आशिक ने अनुवाद में यह ढंग रक्खा है कि हर एक श्लोक का अनुवाद एक-एक बन्द में हो जाये। बन्द तीन-तीन शेरों के हैं। इस पद्धति में

अक्सर उन्हें दिक्कतें पेश आई हैं और हमारे खयाल में यह बहुत बेहतर होता कि काव्य के बंधन ने लागू करके दृष्टि अर्थ की अभिव्यक्ति पर रक्खी जाती। इस बंधन के कारण कहीं तो एक पूरे श्लोक का आशय एक बन्द में व्यक्त न हो सकने के कारण हजरत आशिक को कुछ छोड़ देना पड़ा। इसके विपरीत कहीं-कहीं श्लोक का आशय दो ही शेरों में अदा हो जाने के कारण बन्द पूरा करने के लिए अपनी तरफ से एक शेर और ज्यादा करना पड़ा। 'सरस्वती' के योग्य संपादक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए अनुवाद के दोष बतलाये हैं और ये दोष अधिकतर इसी अपने पर लागू किये गये बंधन के कारण पैदा हो गये हैं।

'मेघदूत' शुरू से आखिर तक प्रेम की कविता है, एक विरही प्रेमी की मर्म वेदना की कहानी है, मगर इतिहास की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं। ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन करने से हिन्दुस्तान के उस पुराने जमाने के समाज पर रोशनी पड़ती है जिसके संबंध में इतिहास लुप्त है। किसी देश में भोग-विलास के सामान उन्मत सभ्यता का पता देते हैं। यह एक दुःखद वास्तविकता है कि ज्ञान-विज्ञान और बुद्धि के विकास के साथ-साथ भोग-विलास के उपकरणों में भी उन्नति होती जाती है।

तरजुमे की खूबी को उजागर करने के लिए जरूरी है कि पाठकों के सामन उसके कुछ टुकड़े पेश किये जायँ।

चित्रकूट का जिक्र करते हुए शायर कहता है –

इस जगह से आगे चलकर आयेगा फिर चित्रकूट
जो सर आँखों पर बिठायेगा वफूरे शौक से।
जल रही हैं धूप की ताबिश से इसकी चोटियां
खूब बारिश कीजिए तो कल्ब में ठंडक पड़े।

नर्बदा नदी का जिक्र .सुनिए –

राह में उज्जैन के पहले मिलेगी नर्बदा
जीनत अफजाये लबे साहिल बिंध्याचल पहाड़।
साफ रंगत धार पतली जैसे हंसों की कतार
इक नज़र से देखते ही आप उसे जायेंगे ताड़।
महवशों की माँग के मानिंद पतली धार है
आपकी सोजे जुदाई ने किया है हालेजार।

शिप्रा नदी का जिक्र यूँ किया है –

मस्त होकर बोलती हैं सारसें हंगामे सुब्ह
काबिले नज़ारा है दरियाये सिप्रा की बहार।

मस्त-कुन बूए कमल फैली हुई है चार सू
इत्र-आगीं फिरती है बादे नसीमे खुशगवार।

गंभीरा नदी का जिक्र सुनिए –

जेबे तन पोशाक नीली रंगते आबे रवां
बेद की शाखें लबे साहिल हैं या बेबाक हाथ।
आपकी सोजे जुदाई से बरहना हो गई
हट गया है छोड़ कर उसका लबे साहिल भी साथ।
कीजिए सैराब उसे करके निगाहे इल्तिफात
चाहने वाले से इतनी बेरुखी ऐ मेघनाथ।

प्रेमी अपनी प्रेमिका की विरह-वेदना का चित्र यों खींचता है –

दिन कटे कितने जुदाई के यह करने को शुमार
रोजमर्रा ताकचों में फूल रखती होगी या
और कितने दिन रहे बाकी विसाले यार में
उंगलियों पर गिन रही होगी बसद आहो बुका।
रोती होगी लज़ते अहदे गुजिशता करके याद
जामे फुरकत में यही है औरतों का मगला।
घास के बिस्तर पे होगी एक करवट से पड़ी

सदमये सोजे जुदाई से बसदू हाले खराब।

या हुजूमे यास से होगा रुखे रौशन उदास

आखिरी तारीख का बेनूर जैसे माहताब।

प्रेमिका का नख-शिख कितना सुंदर है –

मिलती है तेरी नजाकत मालकगिनी में अगर

चाँद में मिलती है तेरे रूये रौशन की चमक।

चश्मे आहू में अगर मिलती हैं तेरी चितवनें

मौजे बहरे आब में है तेरे अबरू की लचक।

मिलती है जुल्फे मुअंबर गर परे ताऊस में

एक जा मिलती नहीं तेरे सरापा की झलक।

इन उद्धरणों से पाठकों को अनुवाद की खूबी का कुछ अंदाजा हो गया होगा।

उपमा में कालिदास बेजोड़ हैं। कुछ उपमायें देखिए –

जिस तरह बदली में पजमुर्दा कमल के फूल हों,

सदमये फुरकत से पजमुर्दा है मेरी जाने जां।

नन्हीं-नन्हीं बूंदे क्या दिलचस्प आती हैं नज़र,

जिस तरह तागे में ही गूंधा हुआ दुर्रे खुश आब।

जुम्बिशे अबरूये पुरखम शक़्ल रक्से शाखे गुल,
बेले के फूलों पे भौरों की कतारें हैं पलक।

इतना काफी है। पूरा मजा उठाने के लिए पाठकों को पूरी किताब पढ़नी चाहिए।

मत ज्यादा नहीं। सिर्फ छ: आने है। कागज-किताबत-छपाई अत्यंत मोहक। छ: सुंदर तस्वीरें हैं जिससे किताब की शोभा और बढ़ गई है। पृष्ठ संख्या चालीस। उर्दू में यह एक नई चीज है। इसकी कद्र करना हमारा फर्ज है। हजरत आशिक घर के कोई लखपती नहीं हैं। उन्होंने इस किताब को छापने में बहुत ज्यादा जेरबारी उठाई है, अगर अभी तक पब्लिक ने जो क़द्रदानी की है वह बहुत हौसला तोड़ने वाली है। यही रुकावटें हैं, जिनसे इल्मी खिदमत करने वालों के हौसले पस्त हो जाते हैं। दाद दीजिए मगर उनकी मेहनत का सिला सिर्फ जबान तक सीमित न रखिए, कोई हर्ज न समझिये तो भगवान के नाम पर पूंजी के नुकसान से तो बचाइये ताकि उसे दुबारा आपकी खिदमत करने का हौसला हो। उर्दू अखबारों ने भी इस किताब की तरफ ध्यान नहीं दिया है। अक्सर लोगों ने तो इस पर कलम भी नहीं उठाया और जिन महाशयों ने कुछ ध्यान दिया भी तो वह बहुत सरसरी। खासतौर पर मुस्लिम अखबारों ने तो खबर ही नहीं ली। हमारे

उर्दू जबान पर मरने वाले वतनी भाई हिन्दुओं पर उर्दू की तरफ से बेरुखी की शिकायत किया करते हैं। वह कभी-कभी उर्दू जबान में भाषा या संस्कृत के खयालात के न होने पर अफसोस करते देखे जाते हैं मगर जब कोई हिन्दू मनचला लिखने वाला उनकी इन प्रेरणाओं से उमंग में आकर कोई किताब प्रकाशित कर देता है तो उनकी तरफ ऐसी उदासीनता और बेरुखी बरती जाती है कि फिर उसे कभी कलम उठाने का साहस नहीं होता। मुस्लिम भाइयों को शायद यह मालूम नहीं है कि उर्दू लिखने वाला हिन्दू लेखक की स्थिति बहुत स्पृहणीय नहीं है, कोई उसे अपनी हिन्दी भाषा की बुराई चाहने वाला समझना है, कोई उस अपनी उर्दू जबान के हरमसरा में अनाधिकार प्रवेश का दोषी। ऐसी नागवार हालत में रह कर साहित्य-सेवा करनेवाले की अगर इतनी भी कद्र न हो कि वह आर्थिक हानि से बचा रहे तो इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है कि लिटरेचर के विस्तार और विकास को लेकर यह सब शोर-गुल बेकार है। यह जाहिर है कि संस्कृत से एक संस्कृत जानने वाला हिन्दू जितनी खूबी से अनुवाद कर सकता है, गैर संस्कृत दां मुसलमान महज अंग्रेजी तरजुमों के आधार पर हरगिज नहीं कर सकता। और मुसलमान में संस्कृत जानने वाले हैं ही कितने। यह एक और दलील है जिसकी कीमत उर्दू लिटरेचर के चाहने वालों की निगाह में खासतौर पर होनी चाहिए। हाँ, अगर यह खयाल

हैं कि उर्दू जबान को संस्कृत से अलग-थलग रहना चाहिए और इस अलगाव से उनका कोई नुकसान नहीं, तो मजबूरी है।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अप्रैल 1917]

बिहारी

संस्कृत कविता के आचार्यों ने कविता को नौ रसों में बाँटा है। रस का मतलब हैं, कविता का रंग। सौंदर्य और प्रेम, वीरता, क्रोध, हास्य, भक्ति वगैरह। सूरदास सौंदर्य और भक्ति रस के कवि थे। बिहारी सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं। उनकी रंग उर्दू की गजलों के रंग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हिन्दी के सब कवियों में बिहारी ही को यह विशेषता प्राप्त है। यह पता नहीं चलता कि बिहारी ने फारसी भी पढ़ी थी या नहीं। इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है लेकिन उनकी कविता के रंग पर फारस गज़लों का रंग बहुत चोखा नज़र आता है। संभव है यह उनकी स्वाभाविक प्रवृति हो। सौंदर्य और प्रेम के सिवाय उन्होंने किसी दूसरे रंग में कविता नहीं की और कभी की भी तो वह नहीं के बराबर है। मगर इसके बावजूद कि उनका क्षेत्र बहुत सीमित है वह भावों की जिस ऊँचाई और गहराई तक पहुँच गये हैं वह इस रंग में किसी दूसरे हिन्दी कवि को नसीब नहीं। वह पिटी-पिटाई कल्पनाओं को कविता में नहीं बाँधते। उनकी सुथरी तबीयत ऐसे विषयों से भागती है जिनमे अब कोई नयापन नहीं रहा। उनमें ग़ालिब की-सी मौलिकता का

रुझान है। ग़ालिब की तरह उन्होंने भी प्रेम की ऊँची कसौटी अपने सामने रक्खी है और भावों को गंभीरता के स्तर से नहीं गिरने दिया। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें चंचलता नहीं है। सौंदर्य और प्रेम की वाटिका में आकर कोरा मुल्ला और रूखा-सूखा उपदेशक बनना मुश्किल है मगर बिहारी के यहाँ ऐसी संयमहीनता के उदाहरण बहुत कम हैं। ग़ालिब की तरह वह भी बहुत ही कम लिखते थे। उनकी यादगार, जिंदगी भर की कमाई, कुल 700 दोहे हैं मगर अनुमान होता है कि यह उनकी कुल कविता नहीं बल्कि उसका चुना हुआ कुछ अंश है। जिस कवि ने जीवन भर लिखा हो वह सिर्फ 700 दोहे अपनी यादगार छोड़े इसे बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। जरूर अन्य कवियों की तरह उन्होंने भी बहुत कुछ लिखा होगा मगर बाद को उच्चकोटि के संयम और आत्मनिग्रह से काम लेकर उन्होंने ठीकरों में से हीरे छाँट लिये और वह हीरे आज उनके नाम को चमका रहे हैं। अगर उनकी सब कविता मौजूद होती तो यह लाल गुदडी में छिप जाते या नजर आते तो सिर्फ पारखियों को। दस-पाँच हजार शेरों या दोहों में पाँच-सात सौ दोहों का अच्छा होना कोई असाधारण बात नहीं। लगभग सभी कवियों की कविता में यह गुण होता है। जिस शायर ने सारी जिंदगी बकवास ही की और सौ दौ सौ भी जानदार फड़कते हुए अछूते शेर नहीं निकाले उसे शायर कहना ही फिजूल हैं। इस हालत में बिहारी में कोई

विशेषता न रहती मगर उनके चुनाव ने विस्तार को कम करके उन्हें ऊँचाई के शिखर पर पहुँचा दिया। यह हीरे की माला सतसई के नाम से प्रसिद्ध है यानी सात सौ दोहों का संग्रह। हालांकि तादाद में सात सौ दोहे कुछ ज्यादा नहीं, इस छोटे से संग्रह में कवि ने सौंदर्य और प्रेम का सागर भर दिया है। निराशा और कामना और उत्कंठा, वियोग और मिलन और उसका दाह गरज कोई भाव आँख से ओझल नहीं हुआ। उस पर बयान का सुथरापन और अलंकारों का चमत्कार इन दोहों को और भी उछाल देता है। अलंकार स्वयं कविता का उत्कर्ष हैं। कोई रूखा-सूखा विषय भी अलंकारों का जामा पहनकर संवर जाता है। जो जनरल सौ सिपाहियों का काम दस सिपाहियों से पूरा करे वह बेशक अपने फन का उस्ताद है। अच्छे से अच्छा, अछूता, अनोखा विषय बहुत थोड़े से शब्दों में बात कहने के आभूषण से सजा हुआ न हो तो बेमजा हो जाता है। कुछ आलोचकों ने तो इस गुण को इतना महत्त्व दिया है कि उसे कविता का पर्याय कह दिया है। उनके विचार में कविता अलंकार के सिवा और कुछ नहीं। संस्कृत के पुराने आचार्य अलंकार में बेजोड़ हैं। उन्होंने सारे उपनिषद् और पिंगल सूत्रों में लिखे हैं। सूत्र वह छोटा-सा कुल्हड है जिसमे दरिया बन्द होता है। आज भी दुनिया के विद्वान इन सूत्रों को देखते हैं और आश्चर्य से दांतों तले दबाते हैं। तीन-चार शब्दों का एक टुकड़ा है और उसमे इतना अर्थ भरा हुआ है

जो ढेरों शब्दों में भी मुश्किल से अदा हो सकता। कुछ सूत्रों की टीका और भाष्य में बाद के लोगों ने पोथे के पोथे रंग डाले हैं। उर्दू में ग़ालिब और नसीम ने कसाव के साथ बात कहने में कमाल दिखाया है। हिन्दी में यह सेहरा बिहारी के सर है।

कवि के स्थान का पता उसकी लोकप्रियता से चलता है। इस दृष्टि से तुलसी का स्थान पहला है। मगर बिहारी उनसे बहुत पीछे नहीं। कमोबेश तीस कवियों ने सतसई की टीका गद्य और पद्य में लिखी है। पिछले बीस सालों के अंदर इसकी तीन टीकाएँ निकल चुकी हैं। इनमें एक गद्य में है और दो पद्य में। कवियों ने उन पर कते लिखे हैं। वासोख्त, तरजीअ, मुखम्मस सब कुछ है। बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी के वर्तमान युग के एक सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले साहित्यकार हुए हैं। उन्होंने गद्य और पद्य में कितनी ही अमर कृतियाँ छोड़ी हैं और आधुनिक हिन्दी नाटक के तो वह भगवान हैं। उन्होंने सतसई पर कुंडलियाँ चिपकाने का संकल्प किया मगर सत्तर-अस्सी दोहे से ज्यादा न जा सके, रचना-शक्ति ने जवाब दे दिया। बिहारी ने दोहे क्या लिखे हैं कवियों के लिए लोहे के चने हैं। जब तक कोई इसी स्तर का कवि सारी उम्र इन दोहों में जान न खपाये, सफल नहीं हो सकता। हिन्दी में बिहारी ही की विशेषता है कि उनकी कविता का संस्कृत में भी अनुवाद हुआ। यह तो उस लोकप्रियता का हाल है जो बिहारी को

कवियों की मंडली में प्राप्त है, जनसाधारण में भी वह कम लोकप्रिय नहीं हैं। हालांकि यहाँ उनका स्थान तुलसी और सूर के बाद है। उनके कितने ही दोहे, कहावत बन गये हैं और कितने हो लोगों की जबान पर चढ़े हुए हैं। बिहारी से उर्दू भी अपरिचित नहीं है। यह भी उन्हीं का दोहा है –

अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार।।

क्या इस दोहे की टीका करने की जरूरत है? उर्दू का साहित्यकार जब भाषा की कविता की प्रशंसा जोरों से करता है तो वह इस दोहे को पेश करता है और कोई शक नहीं कि कवि ने इसमें जितना अर्थ और भाव भर दिया है वह एक पूरी गजल में भी अदा न हो सकता और अदा हो भी जाये तो यह लुत्फ कहाँ। कितने थोड़े शब्दों में कितने कसाव के साथ बात कही गई है। शब्दों का कैसा अनूठा चयन। अमिय कहते हैं अमृत को। उसका रंग काला माना गया है। उसके पीने से मुर्दा जिंदा हो जाता है। हलाहल कहते हैं जहर को। उसका रंग सफेद माना गया है। वह प्राणघातक है। मद कहते हैं शराब को। उसका रंग लाल माना गया है, उसके पीने से आदमी झुकझुक पड़ता है। यानी प्रेमिका की आँखों में अमृत भी है, विष भी और शराब भी। सुरखी भी, सफेदी भी और सियाही भी। उसकी चितवन जिलाती है, कत्ल करती है और नशा पैदा कर देती है। झुक-झुक पड़ना

कैसी मनोहर कल्पना है। नशे में भी इंसान की यही हालत होती है। उसके पैर लड़खड़ाते हैं और वह गिरते-गिरते संभल जाता है।

मुसलमान काव्यमर्मज्ञों ने भी सतसई का बहुत आदर किया। उस जमाने के मुसलमान लोग हिन्दी में शायरी करना अपनी जिल्लत न समझते थे। अगर उर्दू में नसीम और तुफ्ता थे तो हिन्दी में भी कितने ही मुसलमान कवि मौजूद थे। आलमगीर औरंगजेब के तीसरे बेटे आज़मशाह हिन्दी कविता के मर्मज्ञ थे। कविता की रुचि रखते थे। उन्हीं के कहने से सतसई का वर्तमान चयन कार्यान्वित हुआ। हालांकि और लोगों ने भी इस काम को किया मगर यह चयन सबसे अच्छा है। यह काव्य-नैपुण्य के विचार से किया गया है। बिहारी के सभी दोहे अलंकृत हैं। ऐसा कोई नहीं जिसमे कोई न कोई काव्य नैपुण्य न रक्खा गया हो। आजमशाह ने दोहों की यह पाला गूंधकर अपनी काव्यमर्मज्ञता का बहुत अच्छा प्रमाण दिया है। मुसलमान रईसों और कवियों ने सतसई की खूब दाद दी है। उस वक्त बावजूद राजनीतिक झगड़ों के क़द्रदानी की स्प्रिट गायब न थी। शेरोसुख़न के मामले में जातीय विद्वेष को एक किनारे रख दिया जाता था। सतसई के तीस टीकाकारों में पाँच नाम मुसलमानों के हैं –

1. जुलफिकार खाँ – बहादुरशाह के बाद जहाँदार शाह के जमाने में अमीरुलउमरा के पद पर थे। राजनीतिक कामों में पूरे अधिकार प्राप्त थे। जहाँदार शाह तो भोग-विलास में डूबे हुए थे, राज्य के सब काम जुलफिकार खाँ देखते थे। शहजादा फर्रुखसियर ने जब बंगाल से आकर जहाँदार शाह पर धावा किया और कई लड़ाइयों के बाद दिल्ली पर कब्जा कर लिया, जुलफिकार खाँ ने विश्वासघात किया, जहाँदार शाह को गिरफ्तार करवा दिया। मगर फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठने के बाद जुलफिकार को भी कत्ल करवा दिया, वह हिन्दी कविता के प्रशंसक थे। इन्हों की फरमाइश से कवियों ने सतसई की एक बहुत अच्छी टीका तैयार की जो आज तक मौजूद है। संभवत: वे खुद भी कवि थे और इससे तो इंकार हो नहीं हो सकता कि वह कविता के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे।

2. अनवर चन्दिका – नवाब अनवार खाँ के दरबार के कावयों ने सतसई पर यह टीका लिखी। रचना काल सन् 1828 ई.।

3. रस चन्दिका – ईसा खाँ उन्नीसवीं सदी में अच्छे हिन्दी कवि हुए हैं। नरवरगढ़ के राजा छत्रसिंह के संकेत पर उन्होंने यह टीका पद्य में तैयार की। बिहारी के दोहों का क्रम उन्होंने अकारादि क्रम से दिया है। रचनाकाल सन् 1866 ई.।

4. यूसुफ़ खाँ की टीका – यूसुफ़ खाँ का विस्तृत विवरण ज्ञात नहीं है, मगर उनकी टीका मार्के की है। रचनाकाल अनुमानत: सन् 1860 ई. है।

5. पठान सुल्तान की टीका – रियासत भोपाल के जिले राजगढ़ के नवाब सुल्तान पठान ने सन् 1817 में यह टीका पद्य में लिखी। हिन्दी के अच्छे कवि थे। यह संभवत : उनके दरबार के कवियों की लिखी हुई नहीं बल्कि खुद उन्हीं को लिखी हुई है। यह टीका अब अप्राप्य है।

लेकिन कितने खेद का विषय है कि इस ख्याति और लोकप्रियता और कला की निपुणता के बावजूद बिहारी की जिंदगी पर एक बहुत अंधेरा पर्दा पड़ा हुआ है। न उनके समकालीन कवियों ने उनकी कोई चर्चा की और न उन्होंने खुद अपने बारे में कुछ लिखा। उनके समकालीनों की कमी न थी। कमोबेश साठ कवि उनके समकालीन थे। उन सबकी कवितायें मिलती हैं मगर बिहारी के बारे में किसी ने कुछ नहीं लिखा। उनके निरी हालात पूरी तरह केवल उनके तीन दोहों पर निर्भर हैं और वह भी साफतौर पर समझ में नहीं आते। हिन्दी के इतिहासकार बहुत दिनों से जांच-पड़ताल कर रहे हैं और अब तक इस अनुसंधान का निष्कर्ष यह है कि बिहारी अठारहवीं शताब्दी के मध्य पैदा हुए। सतसई समाप्त करने की तारीख बिहारी ने सन् 1817 ई. दी है। मुमकिन है उसके बाद कुछ दिन और जिंदा रहे हों।

अनुमान से मालूम होता है कि उन्होंने बड़ी उम्र पाई। ग्वालियर के पास एक मौजे में पैदा हुए। लड़कपन बुंदेलखंड में गुजरा। मथुरा में उनकी शादी हुई थी। वहीं उम्र का ज्यादा बड़ा हिस्सा गुजारा। उनकी जबान ब्रज भाषा है मगर उसमे बुंदेलखंडी शब्द बहुत आये हैं, जिससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि उनका ब्रज और बुंदेलखंड दोनों ही से अवश्य संबंध था। जाति के चौबे ब्राह्मण थे। कुछ आलोचकों ने उन्हें भाट बताया है मगर इस विचार का समर्थन नहीं होता। अनुमानतः जिस जमाने में सतसई खत्म हुई है, उनकी उम्र साठ से कुछ ही कम थी मगर इतना जमाना उन्होंने किस काम में खर्च किया इसका कुछ पता नहीं। संभव है दोहे लिखे हों मगर वह जमाने के हाथों बर्बाद हो गये हों। बिहारी खुशहाल न थे। और इस जमाने के रिवाज के मुताबिक राजाओं और रईसों के दरबार में जीविका के लिए हाजिर होना जरूरी था। मगर सतसई के पहले उनके किसी की सेवा में उपस्थित होने का पता नहीं चलता। उम्र का बहुत बड़ा हिस्सा अज्ञात रूप से काटने के बाद ये जयपुर पहुँचे। वहाँ उस वक्त सवाई राजा जयसिंह गद्दी पर थे। दरबार के लोगों से महाराज की सेवा में अपना सलाम अर्ज कराने की दरख्वास्त की। महाराज उन दिनों एक कमसिन छोकरी के प्रेम के जाल में बेतरह फंसे हुए थे। राज्य का काम-काज छोड़ बैठे थे। रनिवास में बैठे प्रेमिका की रूप-सुधा का पान किया करते। सैर व शिकार से नफरत

थी। दरबारी महीनों उनकी सूरत न देख पाते। उन्होंने बिहारी से इस प्रसंग में अपनी असमर्थता प्रकट की। जब महाराज बाहर निकलते ही नहीं तो सिफारिश कौन करे और किससे करे। मगर बिहारी निराश न हुए। एक रोज उन्हें एक मालिन फूलों की एक टोकरी लिये महल में जाती दिखाई पड़ी। उन्होंने सोचा कि ये फूल महाराज को सेज पर बिछाने के लिये जात होंगे। उन्होंने फौरन निम्नांकित दोहा लिखा और उसे मालिन की टोकरी में डाल दिया –

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहीं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल।।

अर्थात् अभी न रस है न गंध है न फूल खिल पाया है। अभी वह एक बिनखिली कली है। अभी ही से इस तरह उलझ गये तो आगे क्या हालत होगी।

यह कागज का पुर्जा महाराज के हाथ लगा, दोहा पढ़ा, आँख खुल गई। दरबारियों को तलब किया। लोग बड़े खुश हुए, चलो किसी तरह महाराज बरामद तो हुए। महाराज ने दरबार में वह दोहा पढ़ा और कहा, जिसने यह दोहा लिखा हो उसे फौरन हाजिर करों। बिहारी ने आगे बढ़कर सलाम अर्ज किया। महाराज बहुत खुश हुए। बिहारी का बहुत स्वागत-सत्कार किया

और कहा, मुझे अपनी कविता रोज सुनाया करो। बिहारी ने फरमाइश कुबूल की और रोज कुछ दोहे लिखकर महाराज को सुनाने लगे। महाराज के यहाँ यह पुर्जे नत्थी किये जाने लगे। कुछ दिनों बाद बिहारी को अपनी जन्मभमि की याद आई। महाराज से छुट्टी माँगी। महाराज ने दोहों को गिनने का हुक्म दिया। सात सौ से कुछ ज्यादा निकले। महाराज ने सात सौ अशर्फियाँ इनाम के तौर पर देकर बिहारी को रुखसत किया। आज की हालतों का खयाल कीजिये तो यह रकम कम न थी। इसके लगभग बीस हजार रुपये होते हैं और उस जमाने में एक रुपये की कीमत पाँच रुपये से कम न होगी। मगर वह जमाना इतनी सस्ती क़द्रदानी का न था। आजकल तो मामूली जलसों में हमारे कवि की प्रतिभा चमक उठती है और जंट साहब बहादुर नौशेरवां से मिला दिये जाते हैं। कहीं साहब कलक्टर बहादुर रुस्तम और इसफदियार से बढ़ळा दिये जाते हैं मगर इसका बहुमूल्य पुरस्कार इसके सिवा और कुछ नहीं कि जब हमारे कवि महोदय उन साहब की कोठी पर हाजिर हों तो कमरे में से एक गुर्राती हुई आवाज सुनाई दे, 'कुर्सी लाओ' और अगर किसी रईस के दस्तरख़ान पर मीठे लुक्से चखने की इज्ज़त हासिल हो गई तब तो कवि जी की कल्पना आसमान के सितारों की खबर लाती है। शुक्र है कि इसी बहाने से हमारी कविता रोज-ब-रोज भटई के दोष से मुक्त होती जाती है। मगर बिहारी के जमाने में कवियों को

उनके नैपुण्य के अनुसार इनाम-इकराम और जागीरें देने का आम रिवाज था। रईस अपनी क़द्रदानी में एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की कोशिश करते थे। भूषण को महाराज शिवाजी ने एक कवित्त के पुरस्कार-स्वरूप बीस हजार रुपये और पच्चीस हाथी दिये थे और अगर किंवदंतियों पर विश्वास किया जाये तो एक ही कवित्त के पुरस्कार-स्वरूप इसी देशभक्त राजा ने इस भाग्यशाली कवि को अठारह लाख रुपये दिये। वह इस कवित्त को सुनकर इतना खुश हुआ कि भूषण से उसे बार-बार पढ़ने की फरमाइश की। भूषण ने इसे अठारह बार पढ़ा मगर आखिरकार उन्नीसवीं बार उनके धीरज ने जबाब दे दिया। शिवाजी ने अठारह बार पढ़ने के लिए अठारह लाख रुपये दिये और अफसोस किया कि कवि ने इससे ज्यादा धीरज से काम क्यों न लिया। पन्ना के महाराज छत्रसाल इन भूषण को कुछ इनाम देन के बाद उनकी पालकी को अपने कंधे पर उठाकर कई कदम ले गये। इन क़द्रदानियों के मुकाबले में बिहारी को जो इनाम मिला वह इतना उत्साहवर्धक नहीं कहा जा सकता। ये मिसालें उस वक्त ताजा थीं। बिहारी ने उनके चर्चे सुने थे। वह जयपुर से भग्न हृदय लौटे। शायद यही कारण हो कि सतसई में सवाई जयसिंह की स्तुति में एक दोहा भी नहीं है। एक दोहा सिर्फ उनके शीशमहल की प्रशंसा में हैं। बल्कि दो दोहों में उन्होंने इशारे से जयसिंह की नाक़द्री की शिकायत भी की है हालांकि पाक निगाहें उनमें

तारीफ ही देखती हैं। इस इनाम को बात अगर छोड़ भी दें तो बिहारी को वह आवभगत जयपुर में नहीं हुई जिसकी इतने कद्रदाँ दरबार में उन्होंने उम्मीद को थी। भूषण ने राजा छत्रसाल के भक्तिपूर्ण कवि-सत्कार को शिवाजी की उदारता से श्रेष्ठतर समझा था। कवि के मन में केवल धन-संपदा की हवस नहीं होती, उसमे प्रशंसा पाने की इच्छा भी होती है। यदि काव्यमर्मज्ञ को प्रशंसा के साथ उसका थोडा-सा व्यावहारिक सत्कार भी हो जाये तो वह प्रसन्न हो जाता है। मगर प्रशंसा के बिना कारूं का खजाना भी उसे खुश नहीं कर सकता। राजा छत्रसाल अभी जीवित थे। बिहारी जयपुर से निराश होकर इसी आदमियों के पारखी राजा के दरबार में पहुँचे और सतसई उनकी सेवा में उपस्थित करके योग्य प्रशंसा चाही। छत्रसाल खुद भी अच्छे कवि थे। दिल में उमंग थी। उनका दरबार सिद्धहस्त कवियों का केंद्र बना हुआ था। इन कवियों ने सतसई को गौर से देखा, परखा, तोला और बिहारी की कला के प्रशंसक हो गये। हालांकि इसी दरबार में एक कवि ने द्वेषवश बिहारी को बुरा-भला भी कहा मगर उसकी कुछ नहीं चली। राजा साहब ने बिहारी को बुरा-भला भी कहा मगर उसकी कुछ नहीं चली। राजा साहब ने बिहारी को पाँच गाँव की जागीर दी। इस दरबार के स्वागत सत्कार से बिहारी बहुत प्रसन्न हुए मगर वे तो यहाँ अपने काव्य की प्रशंसा पाने के उद्देश्य से आये थे, जागीर पाने के लिए नहीं। जागीर

धन्यवाद के साथ लौटा दी। महाराज जयसिंह को भी इस घटना की खबर मिली। उनके त्याग पर वह बहुत प्रसन्न हुए, फिर उन्हें दरबार में बुलाया और पिछली भूलों के लिए माफी चाहकर दो अच्छी आमदनी वाले मौजे दिये। बिहारी ने उनको शुक्रिये के साथ कुबूल कर लिया। वह अब तक उनके उत्तराधिकारियों के अधिकार में हैं।

बिहारी का अब बुढ़ापा आ गया था। साठ से ऊपर हो गये थे। ज्यादा सैर व सफर की ताकत न थी। मथुरा लौट आये। यहाँ इन दिनों जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह भी आये हुए थे। उन्होंने बहुत दिनों से बिहारी की तारीफ सुन रक्खी थी। उनसे मिलने के इच्छुक थे। खुद भी काव्यमर्मज्ञ थे, कविता पर एक मार्के की किताब भी लिखी थी जो आज तक कवियों में प्रामाणिक समझी जाती है। बिहारी को उनसे भेंट करने की कम उत्कंठा न होगी। महाराज ने उनके काव्य की प्रशंसा की, कहा – थारी कविता में सूलो लग्यों यानी तुम्हारी कविता में कीडे पड़ गये। बिहारी ने इस द्वयर्थक प्रशंसा को न समझा। घर चले आये, उदास थे। उनकी लड़की समझदार थी। उदासी का कारण पूछा। बिहारी ने राजा जसवंतसिंह की वह पहेली उससे बयान की। लड़की उसका मतलब समझ गई, बोली महाराज का आशय यह है कि आपकी कविता में जान पड़ गई है। बिहारी को भी यही व्याख्या उचित जान पड़ी। महाराज जसवंतसिंह से जब दूसरे दिन जिक्र

आया तो वह बहुत खुश हुए और बोले, हाँ मेरा यही आशय था। बिहारी के बारे में इससे ज्यादा और कुछ नहीं मालूम है, वह कब मरे और कहाँ मरे। हाँ उनके एक बेटे थे जिनका नाम कृष्ण था। वह भी कवि हुए हैं।

बिहारी की कविता के कुछ नमूने जरूरी हैं हालांकि उर्दू लिबास पहनकर उनकी शक़्ल बहुत कुछ बदल जाती है। ग़ालिब के दीवान की तरह बिहारी सतसई के अर्थों के संबंध में टीकाकारों में अक्सर मतभेद है। उनके दोह बहुत जटिल, कठिन और पेचीदा होते हैं। वह मोती हैं जो डूबने से हाथ आते हैं।

मानहुं विधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबें काज,
दृग पग पोंछन को किए, भूषन पायंदाज।

यहाँ बिहारी ने नाजुक-खयाली का कमाल दिखाया है – यानी प्रकृति-रूपी कारीगर ने प्रेमिका के कोमल तन पर आभूषणों का पायंदाज़ बना दिया है ताकि निगाह के पाँव से उस पर गर्द न आ जाये। 'पाअंदाज' उर्दू शब्द हैं, कवि ने उसका प्रयोग किया है। बिहारी अक्सर उर्दू, फारसी और अरबी शब्द लाते हैं और बड़ी खूबी से लाते हैं। मतलब यह है कि प्रेमिका का बदन इतना नाजुक और सुथरा है कि निगाहों से भी मैला हो जाता है, इसलिए जरूरी है कि जेवरों पर पैर साफ करके निगाह उसके रूप के साफ

फर्श पर कदम रक्खे। रूप की क्या स्वच्छता है जो दृष्टि पड़ने से मैली पड़ जाती है। 'पाये निगाह' ग़ालिब ने भी इस्तेमाल किया है। जेवर प्रेमिका के रूप को चमकाने के लिए नहीं बल्कि निगाहों के पैर की गर्द पोंछने के लिए।

एक उर्दू शायर ने माशूक की नजाकत की इस रूप में कल्पना की है –

क्या नजाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गये
मैंने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।

कपूरमणि को उर्दू में कहरुबा कहते हैं अर्थात् प्रेमिका के गले में मोतियों की माला उसके शरीर के सोने-जैसे रंग में मिलकर कुछ पीलापन लिए हुए कहरुबा-सी हो जाती है। उसकी सहेली को धोखा होता है और वह घास के तिनके से उस माला को छूती है क्योंकि कहरुबा में घास को खींचने का गुण होता है। वह सोचती है कि यह तो मोतियों की माला थी, कहरुबा क्योंकर हो गई। इस संदेह को दूर करने के लिए वह उसके खरियाई गुण की परीक्षा लेती है। अमीर लखनवी का एक शेर देखिये-

मुनकिरे यकरंगिये माशूक व आशिक थे जो लोग
देख लें क्या रंगे काहो कहरुबा मिलता नहीं
कहे ज बचन बियोगिनी बिरह बिकल अकुलाइ।
किये न कां अंसुवा-सहित, सुआ तिबोल सुनाइ!।

इस दोहे में कवि ने कल्पना की उडान को चोटी पर पहुँचा दिया है। उर्दू में शायद ही किसी शायर ने इस मजमून को अदा किया है। यानी प्रेमिका वियोग के दुख से बेचैन होकर अकेले में अपने दर्दभरे दिल से जो बातें करती है उसे पिंजड़े में बैठा हुआ तोता सुन लेता है और उसे वही दर्दनाक शब्द दुहराते सुनकर लोगों की आँखों में आँसू भर आते हैं। माशूक ने पर्दा डालने की कितनी कोशिश की मगर आखिर भेद खुल गया। इसमें कैसी सुकुमार कवि-कल्पना है और इस तोते के दुहराने में भी यह असर है कि सुनने वाले दिल को हाथों से थाम लेते हैं और रोने लगते हैं। इससे उसके दर्द का अंदाजा हो सकता है। फारसी का एक मशहूर शेर है –

सब्ज खत्ते बखते सब्ज मरा कर्द असीर
दाम हमरंग जमीं बूद गिरफ्तार शुदेम

सायब ने इस शेर के बदले अपना सारा दीवान देना चाहा था। बिहारी के इस दोहे में यही कोमल वास्तविकता और अपेक्षाकृत अधिक नर्मी है।

तच्यो आंच अब बिरह को, रह्यो प्रेम-रस भींजि।
नैननु के मगु जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि।।

इसी खयाल को फारसी शायर ने यूं अदा किया है –

चे मी पुरसी जे हाले मा दिले गमदीदा अत चूं शुद

दिलम शुद खूं व खूं शुद आब व आब अज़ चश्म बेरूं शुद

इस दोहे और फारसी शेर में इतना सादृश्य है कि उसे टक्कर कहना चाहिए, क्योंकि दोनों कवि ऊँचे दर्जे के हैं और चोरी का संदेह किसी पर नहीं हो सकता।

बैठि रही अति संघन बन, पैठि सदन तन मांह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छांहौ चाहति छांह।।

मतलब यह है कि जेठ की जलती हुई दुपहरी से घबराकर छांह भी छांह ढूँढ़ती फिरती है। इसलिए वह जंगल में और मकानों के अंदर छिपती फिरती है। ऋतुओं पर भी बिहारी ने लिखा है। हेमंत यानी पूस का यों जिक्र करते हैं –

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरान,
घरहिं जंवाई लौं घट्यो खरो पूस दिनमान।

यानी जिस तरह घर जमाई की इज्ज़त ससुराल में कुछ नहीं होती, उसके आने-जाने का कोई ख्याल करता मालूम नहीं होता कि वह कब आता है और कब जाता है, उसी तरह पूस में दिन के आने-जाने की कोई खबर नहीं होती।

बरसात का जिक्र यों करता है –

हठ न हठीली करि सके यहि पावस ऋतु पाइ।
आन गांठ घुटि जाति ज्यों मान गांठ छुटि जाइ।।

यानी वर्षा ऋतु में रूठी हुई प्रेमिका भी हठ नहीं कर सकती। बरसात में रस्सी की गांठ मजबूत हो जाती है मगर हठ की गांठ ढीली पड़ जाती हे।

दूसरे बड़े कवियों की तरह बिहारी ने भी नेचर का और मानव प्रकृति का बहुत गहरा अध्ययन किया था। विशेष रूप से सौंदर्य और प्रेम की भावनाओं का जैसा सच्चा और सम्यक चित्र उन्होंने खींचा है वह किसी दूसरे हिन्दी कवि के बस के बाहर है। मगर इस बागीचे में इतने कांटे हैं कि किसी कवि का दामन कांटा लगे बगैर नहीं रह सकता। जब ग़ालिब जैसा सावधान व्यक्ति भी इन कांटों में उलझने से न बचा तो दूसरों का क्या जिक्र।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अप्रैल 1917]

केशव

काव्य-मर्मज्ञों ने केशव को हिन्दी का तीसरा कवि माना है लेकिन केशव में वह उड़ान नहीं जो बिहारी की अपनी विशेषता है। तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण आदि कवियों ने विशेष शैलियों में अपनी सर्वोत्तम योग्यता लगाई। तुलसी भक्ति की तरफ झुके, सूरदास प्रेम की तरफ, बिहारी ने प्रेम के रहस्यों में गोता लगाया और भूषण बहादुरी के मैदान में झुके लेकिन केशव ने विशेष रूप से अपना कोई ढंग नहीं अख्तियार किया। वह सौंदर्य और अध्यात्म और भक्ति, सभी रंगों की तरफ लपके और यही कारण है कि किसी रंग में चोटी पर न पहुँच सके। केशव में काव्य-कौशल कम न था और संभव है कि किसी एक रंग के पाबन्द रहकर वह दूसरे तुलसीदास बन सकते। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि वह आखिरी दम तक अपने को समझ न सके, अपने स्वभाव की थाह न पा सके और यह दृष्टि-दोष कुछ उन्हीं तक सीमित नहीं है। हमारे लेखकों और कलाकारों का बहुत बड़ा हिस्सा इस अज्ञान का शिकार पाया जाता है। अपने स्वाभाविक रंग को पहचानना आसान काम नहीं है। तो भी कविता के रंग की दृष्टि से केशव

की रुचि सौंदर्य और प्रेम की ओर ज्यादा झुकी हुई दिखाई देती है। एक मौके पर अपने बुढ़ापे का रोना रोते हुए वह कहते हैं कि अब सुंदरियाँ उन्हें प्रेम की आँखों से नहीं बल्कि आदर की दृष्टि से देखती हैं और उन्हें बाबा कहकर पुकारती हैं। मजे की बात यह है कि उनकी ख्याति प्रेम-विषयक काव्य पर नहीं बल्कि पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखने पर आधारित है। 'रामचन्दिका' जो उनकी सबसे ज्यादा जानी-मानी कृति है शायद हिन्दी भाषा में तुलसीदास की रामायण के बाद सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तक हैं।

केशव तुलसीदास के समकालीन थे। उनका जन्म संवत् प्रामाणिक रूप से पता नहीं लेकिन अनुमान से सन् 1552 के लगभग ठहरता है और मृत्यु संभवत: सन् 1612 की है। सूरदास के देहांत के समय केशव की अवस्था बारह साल थी। तुलसीदास का देहांत सन् 1625 में हुआ। इस हिसाब से केशव की मृत्यु बारह-तेरह साल पहले हुई। उनकी जन्मभूमि ओरछा थी जो अब भी बुंदेलखंड की एक प्रसिद्ध रियासत है और उस जमाने में तो सारा बुंदेलखंड ओरछा के अधीन था। अकबरी दरबार में ओरछा के राजा की खास इज़्ज़त थी। यह अकबर का काल था और ओरछा में राजा रामसिंह गद्दी पर थे। रामसिंह अकबर के दरबार में पहली कतार में जगह पाते थे और ज्यादातर आगरे में ही रहते थे। रियासत का प्रबंध इन्द्रजीत

के योग्य हाथों में था। केशव इस राज्य के नमक खाने वालों में थे। उन्होंने अपनी कविता में जगह-जगह इन्द्रजीत की कृपा का गुणगान किया है। ओरछा बेतवा नदी के किनारे स्थित है। यह जमुना की एक सहयोगिनी नदी है जो हमीरपुर में जमुना से आकर मिल जाती है। अधिकतर पहाड़ी इलाकों से गुजरने के कारण इस नदी का पानी बहुत स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद है और जहाँ कहीं वह घाटियों में होकर बहती है वहाँ के दृश्य देखने योग्य हैं। केशव ने जगह-जगड बेतवा नदी की प्रशंसा की है।

इन्द्रजीत एक रसिक स्वभाव का राजा था। उसके प्रेम की पात्रियों में रायप्रवीन नाम की एक वेश्या थी। उसके सौंदर्य की दूर-दूर तक चर्चा थी। वह कविता भी करती थी। अकबर ने भी उसकी तारीफ सुनी। देखने का शौक पैदा हुआ। इन्द्रजीत को हुक्म हुआ कि उसे हाजिर करो। इन्द्रजीत दुविधा में पड़ा। आदेश का उल्लंघन करने का साहस न होता था। उस वक्त रायप्रवीन ने दरबार में जाकर अपना एक कवित्त पढ़ा जिसका आशय यह है कि आप राजनीति से परिचित हैं, मेरे लिए कोई ऐसी राह निकालिए कि आपकी आन भी बनी रहे और मेरे सतीत्व में भी धब्बा न लगे –

जामे रहे प्रभु को प्रभुता अरु
मोर पतिब्रत भंग न होई।

इस कवित्त ने इन्द्रजीत की हिम्मत मजबूत कर दी। उसने रायप्रवीन को शाही दरबार में न भेजा। अकबर इस पर इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने इन्द्रजीत पर आज्ञा का उल्लंघन करने के अभियोग में एक करोड़ रुपया जुर्माना किया। मालूम नहीं यह किंवदंती कहाँ तक ठीक है। अकबर की कुल आमदनी उस वक्त बीस करोड़ सालाना से ज्यादा न थी। एक करोड़ की रकम एक ऐसे जुर्म के लिए कल्पनातीत सजा कही जा सकती है। बहरहाल जुर्माना हुआ और इन्द्रजीत को किसी ऐसे वाणी-कुशल आदमी की जरूरत हुई जो अकबर से यह जुर्माना माफ करवा दे।

इस काम के लिए केशव को चुना गया और वह आगरा पहुँचे। यहाँ राजा बीरबल अकबर के खास दरबारियों में थे जो उसके मिजाज को समझते थे। खुद भी सिद्धहस्त कवि थे और कवियों का सम्मान भी करते थे। केशव ने उनका दामन पकड़ा और उनकी स्तुति में एक कवित्त पढ़ा। बीरबल इससे इतना प्रसन्न हुए कि अकबर से सिफारिश करके वह जुर्माना ही नहीं माफ करा दिया बल्कि छ: लाख की हुंडियां जो उनकी जेब में थीं निकालकर केशव को दे दीं। अगर यह किंवदंती सच है तो यह उस युग के उदार साहित्य-प्रेम का एक अनोखा उदाहरण है। कैसे दानी लोग थे जो एक-एक कवित्त पर लाखों लुटा देते थे। हम यह नहीं कहते कि यह दान उचित था या ऐसी बड़ी-बड़ी रकमें ज्यादा अच्छे कामों में खर्च न की जा

सकती थीं। लेकिन इससे कौन इंकार कर सकता है कि वह बड़े जिगरे के लोग थे। अपव्यय के लिए बदनाम होना चाहते थे लेकिन कंजूसी की बदनामी गवारा न थी। केशव यहाँ से सफल लौटे तो ओरछा में उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ और वह राजदरबारियों में गिने जाने लगे। उधर रायप्रवीन ने भी अकबर के पास एक दोहा लिखकर भेजा जिससे उसकी गहरी सूझ-बूझ का प्रमाण मिलता है –

बिनती रायप्रवीन की सुनिए साह सुजान
जूठी पातर भखत हैं बारी बायस स्वान

यानी जूठी पत्तन बारी, कुत्तें वगैरह खाते हैं। मेरी यह अर्ज कुबूल हो...। इस दोहे का जो असर अकबर पर हुआ होगा उसका अनुमान किया जा सकता है। उसने फिर रायप्रवीन का नाम नहीं लिया।

केशवदास ने अपनी स्मृति-स्वरूप चार पुस्तकें छोड़ी हैं। इनमें दो को तो जमाने ने भुला दिया लेकिन दो अब भो जानी जाती हैं – कविप्रिया और रामचन्दिका। कविप्रिया में कवि ने अपनी जिंदगी के हालात और अपने उदार काव्य-मर्मज्ञ राजा के संबंध में लिखा है। इसके अलावा इसमें काव्य के अलंकारादि, काव्य की विभिन्न शैलियाँ, उसके गुण-दोष और प्राकृतिक दृश्यों पर भी अपनी लेखनी का चमत्कार दिखलाया है। कवि ने इस कृति

पर अपनी सारी काव्य-शक्ति खर्च कर दी है और कई मौकों पर इसका बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि ऐसी पुस्तक लोकप्रिय नहीं हो सकतीं, लेकिन कवियों के समाज में उसे आज तक विशेष सम्मान प्राप्त है। नये कवियों के लिए तो उसका अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। सच तो यह है कि इस किताब ने केशव की गिनती उस्तादों में करा दी है। लेखक बहुत बार अपनी पुस्तक का स्थान उसमे लगे हुए अपने परिश्रम के अनुसार निश्चित करता है और चूंकि ऐसी पांडित्यपूर्ण पुस्तकों में कवि अधिकतर दूसरे कवियों को ही संबोधित करता है इसलिए उसे कदम कदम पर संभलने की जरूरत होती है कि कहीं उसका उस्तादी का दावा उपहासास्पद न बन जाएँ। कवि बड़ी गंभीर और पैनी दृष्टि से उसके दाबे की जांच पड़ताल करते हैं और उसके गुणों को चाहे एक बार आँख की ओट कर भी दें लेकिन दोषों को हरगिज नहीं छोड़ते। वह देखते हैं कि जिन सिद्धांतों की यहाँ स्थापना की गई है उनका पालन भी हुआ है या नहीं। अगर कवि इस कसौटी पर ठीक न उतरा तो गर्दन मार देने के काबिल करार दिया जाता है। सब दरबारों में रिश्वत चलती है लेकिन कवियों के दरबार में रिश्वत का गुजर नहीं। यह अदालत कभी रहम करने की गलती नहीं करती। इस दरबार ने कविप्रिया को परखा और तोला और केशवदास

को भाषा के कवियों की उस मंडली में तीसरी जगह दे दी जिसमे पहला स्थान सूर का और दूसरा तुलसी का है।

लेकिन जैसा हम कह चुके हैं 'कविप्रिया' की ख्याति विशेष लोगों तक ही सीमित है। साधारण लोगों में उन्हें जो लोकप्रियता प्राप्त है वह उनकी अमरकृति 'रामचन्दिका' का प्रसाद है। इसमें रामचन्द्र जी की कथा लिखी गई है मगर केशव ने राम को अवतार मानकर और खुद उनका सच्चा भक्त बनकर अपने को बिल्कुल बेजबान नहीं कर दिया है। उन्होंने तुलसीदास के मुकाबले में ज्यादा आजादी से काम लिया है और जहाँ कहाँ रामचन्द्र या किसी दूसरे केरेक्टर में उन्हें कोई दोष दिखाई पड़ा है तो उन्होंने उसे गुण बनाकर दिखाने की कोशिश नहीं की बल्कि स्पष्ट शब्दों में उस पर आपत्ति की है। तुलसीदास ने रावण के साथ अन्याय किया है और उसे एक मनस्वी, प्रतिष्ठित और स्वाभिमानी राजा के पद से गिराकर घृणा का पात्र बना दिया है, हालांकि उसे इस तरह से अपमानित करने के बाद भी वह रावण का कोई ऐसा आचरण न दिखा सके जो इस घृणा की पुष्टि करता। रावण ने अगर कोई पाप किया तो यह कि उसने रामचन्द्र को मनुष्येतर प्राणी समझकर उनके सामने सिर नहीं झुकाया। विभीषण रावण का छोटा भाई था। संभव है वह भगवान से डरने वाला और नेम-धरम का पक्का रहा हो, संभव है उसे रावण का राज्य-संचालन और उसका आचरण न भाता

हो लेकिन यह इसके लिए काफी कारण नहीं है कि वह अपने भाई के दुश्मन से जा मिले और घर का भेदी बनकर लंका ढाये। उसका राह कार्य राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यंत घृणित है। तुलसीदास ने उसे आस्तीन के सांप के बदले भक्त बनाकर दिखाना चाहा है लेकिन बावजूद वह सब रंग चढ़ाने के जैसा कि एक कवि करता है, वह उसे सिर्फ बगुला भगत बनाने में सफल हुए हैं। हिन्दुस्तान के लिए जयचन्द ने जो किया, राजपूताने के लिए समरसिंह ने जो किया, दारा के लिए सरहंगों ने जो किया वही विभीषण ने रावण के साथ किया। रामचन्द्र के हाथों ऐसे शैतान को वही दुर्गत होनी चाहिए थी जो सिकन्दर के हाथों सरहंगों की हुई थी लेकिन रामचन्द्र ने उसे राजगद्दी और मुकुट देकर जैसे देशद्रोह और परिवार-हत्या को बढ़ावा दिया है। जिस कथा को सारी जाति धार्मिक विश्वास की दृष्टि से देखती हो उसमे ऐसे कमीने नीच आचरण को दंड न देना एक अत्यंत खेदजनक दोष है। हिन्दुस्तान का इतिहास देशद्रोह और विश्वासघात से भरा हुआ है लेकिन क्या अजब है विभीषण को उचित दंड देना इन गुमराहियों में से कुछ को दूर कर सकता। आज अगर इंगलिस्तान को पार्लियामेंट का कोई मेम्बर न्याय के आधार पर किसी ऐसी बात का समर्थन करता है जिसमे इंगलिस्तान की नुकसान पहुँचने का डर हो तो उस पर चारों तरफ से घृणा की बौछार पड़ने लगती है। यह देश-प्रेम का युग है, जब वैयक्तिक और

पारिवारिक स्वार्थ को देश पर बलिदान कर दिया जाता है। आश्चर्य तो यह है कि संस्कृत कवियों ने भी विभीषण की कुछ खबर न ली और यह सेहरा केशवदास के लिए छोड़ दिया। केशव एक राजा के दरबारी थे, शाही दरबारों के अदब-कायदे से परिचित, देशप्रेम का महत्त्व समझने वाले, अतः उन्होंने रामचन्द्र के बड़े बेटे लव को जबान से विभीषण को खूब खरी-खरी सुनाई है। जब रामचन्द्र अपना दल सजाकर लव के मुकाबले में चले तो विभीषण भी उनके साथ था। लव ने उसे देखकर खूब आड़े हाथों लिया – "अत्याचारी! परिवार को कलंकित करने वाला। अगर तुझे रावण का आचरण पसंद न था तो जिस समय रावण रामचन्द्र जी की पत्नी को हर लाया था उसी समय तू रावण को छोड़कर क्यों राम के पास नहीं चला आया। तुझे धिक्कार है! तू जहर क्यों नहीं पी लेता! जाकर चुल्लू भर पानी में डूब क्यों नहीं मरता! तुझे अब भी शरम नहीं आती कि तू हथियार बांधकर लड़ने निकला है! पापी, तुझे अपनी भावज को ब्याहते शर्म न आयी जिसे तूने कितनी ही बार माँ कहकर पुकारा होगा।"

संस्कृत में पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखने की दो पद्धतियाँ हैं। एक में तो कवि की दृष्टि अपनी कथा पर रहती है, वह कथा को प्रधान समझता हे और अलंकारों को गौण। दूसरे रंग में कवि की दृष्टि अलंकारों आदि पर रहती है, कथा को वह केवल अपने काव्य-कौशल और रचना-चातुर्य का

एक साधन बना लेता है। पहली पद्धति वाल्मीकि और व्यास की है और दूसरी पद्धति कालिदास और भवभूति की। तुलसीदास ने पहली पद्धति अपनाई, केशव ने दूसरी पद्धति को पसंद किया और अपने काव्य चातुर्य की दृष्टि से उनका यह चुनाव शायद अच्छा रहा क्योंकि उनमें वह कविजनोचित कोमलता और वह गहरी संवेदनशीलता न थी जिसने तुलसीदास की कविता को सदाबहार फूल बना रक्खा है। इस कमी को पूरा करने के लिए काव्यशिल्प और अलंकार की आवश्यकता थी। यही कारण है कि केशवदास को कविता काफी कठिन है लेकिन उसके कठिन होने का एक कारण यह और हो सकता है कि उस समय तक हिन्दी भाषा प्रौढ़ नहीं हुई थी। विद्वानों की मंडली में संस्कृत की चर्चा थी, बिल्कुल उसी तरह जैसे सौदा के जमाने में फारसी की। अतः तुलसीदास और केशव दोनों भाषा में कविता करते हुए झेंपते थे और इस डर से कि कहीं उनका भाषा-प्रेम संस्कृत का अल्प-ज्ञान न समझ लिया जाये वे समय-समय पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन आवश्यक समझते थे। उन्हें अपने पांडित्य का प्रमाण देने के लिए दुरूह शब्द का प्रयोग उचित जान पड़ता था। तुलसीदास चूंकि वैरागी थे उन्हें किसी की प्रशंसा या निंदा की परवाह न थी लेकिन केशव एक राजा के दरबारी थे। बड़े-बड़े पंडितों से हमेशा उनकी मुठभेड रहती थी इसलिए उनका दुरूह शब्दों का प्रेम स्वाभाविक था।

केशव धार्मिक मामलों में लकीर के फकीर न थे, अंधविश्वासों को मुक्ति का साधन न समझते थे। नदी में नहाने और मूर्ति-पूजा को वे मूर्खों की रस्म समझते थे। वह एकेश्वरवाद के अनुयायी थे और केवल एक परमात्मा की पूजा करने के लिए कहते थे। देवताओं को उन्होंने कृत्रिम और आडंबरपूर्ण कहा है। लेकिन इसके साथ ही जनसाधारण के लिए एकेश्वरवाद या चरित्र-शुद्धि या आत्मविवेक की आवश्यकता नहीं समझी। उनके लिए केवल परमात्मा के नाम का स्मरण काफी बतलाया है। स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य को मुख्य धर्म बतलाया है जो प्राचीन हिन्दू समाज का एक विशेष अंग है और यद्यपि अब जमाने ने सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में एक उथल-पुथल मचा दी है और स्त्री का व्यक्तित्व अपने पति में खोया हुआ न रहकर अलग एक सत्ता बन रहा है, स्त्रियों के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक अधिकार पे हो रहे हैं, तो भी वह पुरानी व्यवस्था भी अपने अच्छे पहलुओं से खाली न थी और अभी जबकि नई व्यवस्था – की दशा में है वह पुराना सिद्धांत शताब्दियों तक प्रचलित रहा। उसमे अब भी कुछ ऐसे गुण हैं जिनसे बड़े से बड़ा, कट्टर से कट्टर सफरेजिस्ट भी इंकार नहीं कर सकता। इसलिए हम इस मामले में केशव को दोषी नहीं समझते।

इसमें कोई संदेह नहीं कि केशवदास भाषा की पहली पंक्ति के बैठने वालों में हैं। उनके स्वभाव में उपदेश से अधिक साधना का रंग है। वह ग़ालिब या

मीर न थे। वह वास और अमीर थे। उनकी कविता में आडंबर और खींचतान ज्यादा है, कोमलता और संवेदनशीलता कम। तो भी उसकी कविता मिठास से खाली नहीं है। कहीं-कहीं इस काम उन्होंने चमत्कार कर दिखाया है।

पद्य बद्ध आख्यायिकायें लगभग सभी भाषाओं में एक ही छंद में लिखी जाती है। तुलसी कृत रामायण, सिकन्दरनामा, शाहनामा, मौलाना रूम की मसनवी , पैराडाइज लोस्ट, इलियड आदि प्रसिद्ध आख्यायिकायें इसी ढंग की हैं। लेकिन केशवदास ने रामचन्द्रिका में सैकडों छंदों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं इस तेजी से कि आख्यायिका के प्रवाह में फर्क नहीं आता। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह विभिन्नता पुनरावृत्ति की निषेधक होने के कारण बहुत सुंदर हो गयी है। लेकिन यह कुछ ज्यादती है। दुनिया की बड़ी-बड़ी मसनवियाँ एक ही छंद में लिखी गई हैं। कहीं-कहीं कवियों ने मजा बदलने के लिए भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया | तुलसीदास की रामायण इसकी अनूठी मिसाल है। शायद केशव ने एक ही छंद की मसनवी या पद्य बद्ध आख्यायिका लिखकर इस रंग में तुलसी से टक्कर लेना अपने लिए अहितकर समझा। इससे विभिन्नता का आनंद नहीं आता, कथा के प्रवाह में अलबत्ता रुकावट होती है।

हमने विभीषण की गद्दारी का जिक्र ऊपर किया है। इसके मुकाबले में केशव अंगद को वफादारी और सदाचारिता को खूब दिखाया है। अंगद बालि का बेटा था। बालि को रामचन्द्र ने वध किया था और उसका राज-पाट बालि के भाई सुग्रीव का दिया था। इसलिए अंगद का अपने बाप के हत्यारे से द्वेष रखना एक स्वाभाविक बात थी। लेकिन जब वह रावण के दरबार में गया है और उसने राम के इस कृत्य का संकेत देकर अंगद को फोड़ना चाहा है तो अंगद ने रावण को खूब करारे जवाब दिये हैं। कवि ने उसकी सदाचारिता दिखलाने के उत्साह में पद के सम्मान की रक्षा का भी ध्यान नहीं रक्खा। अंगद के हृदय में द्वेष था और जरूर था। आखिर में उसने उसको व्यक्त भी किया है लेकिन जिससे एक बार एकता का संबंध स्थापित कर लिया उससे दुश्मन के भड़कावे में आकर विमुख हो जाना मर्दानगी के खिलाफ था।

अब हम पाठकों के मनोरंजन के लिए केशवदास की कविता के नमूने पेश करते हैं –

सब जाति कटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहं एक घटी
निघटी रुचि मीचु घटीहु घटी जग जोव जतीन की छूटि तटी

कवि ने पंचवटी का परिचय दिया है। कहता है यहाँ दुख और कष्ट की चादर तार-तार हो जाती है और दिल दगा व फरेब से मुक्त हो जाता है। उसके मोहक आकर्षणों से यतियों का ध्यान भी भंग हो जाता है।

कहि केशव याचक के अरि चंपक शोक अशोक किये हरि कै।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते तीछण जानि तजे डरि कै।।
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आये रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोध कहौ करुणामय हे करुणा करुणा करि कै।।

रावण सीता को हर ले गया है और राम के वियोग के उद्वेग में जंगल के पेड़ों से सीता का पता पूछते फिरते हैं। वह करुणा के वृक्ष को संबोधित करके कहते हैं – चंपा भौंरे को अपने पास नहीं आने देती इसलिए उसमे दर्द नहीं है, अशोक ने शोक को भुला दिया है इसलिए उसमे भी दर्द नहीं। केवड़ा, केतकी और गुलाब कंटीले हैं और दिल के दर्द का हाल नहीं जानते इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ, कुछ सीता की खबर बताओं, खामोश क्यों खड़े हो।

दीरघ दरीन बसैं केसोदास केसरी ज्यौं
केसरी कौं देखि बन-करी ज्यौं कंपत हैं।
बासर की संपति उलूक ज्यौं न चितवत,

चकवा ज्यौं चंद चितै चौगुनो चंपत हैं।

केका सुनि व्याल ज्यौं बिलात जात घनश्याम,

घनन की घोरनि जवासो ज्यौं तपत हैं।

भौंर ज्यौं भंवत बन, जोगी ज्यौं जपत रैनि,

साकत ज्यौं राम नाम तेरोई जपत हैं।

हनुमान लंका में सीताजी को देखने गये हैं और उन्हें अशोकवाटिका में देखकर उनसे रामचन्द्र के वियोग की पीड़ा का यों वर्णन करते हैं – जैसे घने जंगल में रोर रहता है उसी तरह रामचन्द्र रहते हैं यानी जमीन पर सोते-बैठते हैं। आराम की जरा भी इच्छा नहीं। जैसे उल्लू दिन की रोशनी के नेमतों की ओर आँख उठाकर नहीं देखता उसी तरह रामचन्द्र किसी चीज की तरफ नहीं देखते। जैसे चकोर चाँद का देखकर अधीर हो जाता है उसी तरह चाँद को देखकर रामचन्द्र के दिल की बेचैनी भी बढ़ जाती है। मोर की आवाज सुनकर जैसे सांप छिप जाता है उसी तरह रामचन्द्र छिप जाते हैं। वर्षा से जैसे मदार का पेड़ जल जाता है उसी रामचन्द्र घुलते हैं। भौंरे की तरह इधर-उधर घूमा करते हैं, जोगी की तरह रात को जागते हैं और तेरे ही नाम की रट लगाते हैं।

दंतावलि कुंद समान गनो।

चंद्रानन कुंतल चौंर घनो।।

भौहैं घनु खंजन नैन मनो।

राजीवनि ज्यों पद पानि भनो।।

हारावलि नौरज हिय-पट में।

हैं लीन पयोधर अंबर में।।

पाटीर जोहाइहि अंग धरे।

हँसी गति केशव चित्त हरे।।

कवि ने शरद ऋतु की एक कल्पना की है। इस ऋतु में कुंद खिलता है। ये गोया उस सुंदरी के दांत हैं। चाँद उसका कांतिमान मुखड़ा है। इस ऋतु में चाँद बहुत प्रकाश वाला होता है। राजा लोग इन्हीं दिनों पूजा करके दरबार को सजाते हैं। दरबार के चंवर इस सुंदरी के बाल हैं। उनके कमान उसकी भौहैं हैं। खंजन पक्षी इसी ऋतु में आता है। वह इस सुंदरी की आँख है। (कवियों ने आँख की उपमा खंजन से दी है।) इस मौसम में कमल खिलते हैं। वह इस सुंदरी के पाँव हैं। स्वाति की बूंद से मोती बन जाता है, ऐसी कवि प्रसिद्धि है। यह गोया इस सुंदरी के हार हैं। इस मौसम में बादल आसमान में मिल जाता है कि जैसे सुंदरी ने अपना दमकता हुआ वक्ष कपड़े में छिपा लिया है। इन दिनों चाँदनी खूब निखरती है। यह गोया इस सुंदरी के लिए चंदन का लेप है। इस ऋतु में हंस आते हैं। ये गोया इस

सुंदरी की मस्ताना चाल हैं। इन गुणों वाली सुंदरी अर्थात् शरद ऋतु दिलों को बस में कर लेती है।

[उर्दू मासिक पत्रिका, 'जमाना', जुलाई 1917]

नोबल पुरस्कार-प्राप्तकर्ता जॉन गाल्सवर्दी

जॉन गाल्सवर्दी का जन्म ता. 4 अगस्त, सन् 1860 में हुआ था। इनके पिता एक नामी वकील थे और उनकी इच्छा थी कि गाल्सवर्दी भी उनकी तरह नामी वकील बने। गाल्सवर्दी का बचपन बड़े सुख से व्यतीत हुआ और अनुकूल परिस्थिति के कारण स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा का उन्हें भली-भांति लाभ प्राप्त हुआ था। सन् 1889 में गाल्सवर्दी ने वकालत की परीक्षा पास की और आगामी वर्ष ही उन्हें वकालत के काम में जुट जाना चाहिए था। पर ऐसा न करके उन्होंने अगले दो वर्ष जगत्-भर का प्रवास करने में व्यतीत किये। इस प्रवासकाल में ही उन्हें जोसेफ कॉनराड से मैत्री का अवसर मिला। आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में कॉनराड एक खास स्थान रखता है। सामुद्रिक सैर की हौंस रखने वाले, समुद से अनेक योजन दूर रहने वाले इस पोलिश महापुरुष ने अपनी मातृभूमि को छोड़कर जहाज पर खलासी का-सा साधारण काम करना स्वीकार किया था। अंग्रेजी और

फ्रेंच, दोनों भाषाओं का उसे भली-भांति ज्ञान था, परंतु दोनों में से किस भाषा में लिखना आरंभ करना चाहिए, यह उसकी समझ में ही न आता था। एक दिन रुपये को फेंककर निश्चय किया और अंग्रेजी भाषा के सौभाग्य से अंग्रेजी में लिखना निश्चित किया। अंग्रेजी के लेखक-समुदाय में कॉनराड एक श्रेष्ठ लेखक माना जाता है और जे. सी. स्क्वायर सरीखे चतुर्मुखी साहित्य-समीक्षक ने भी उसके विषय में कहा है, कि "कालांतर में वर्तमान सभी प्रसिद्ध लेखक जब विस्मृत से हो आयेंगे, तब भी कॉनराड की कृतियाँ लोगों को आज की-सी नवीन प्रतीत होगी।" कॉनराड और गाल्सवर्दी में साहित्यिक साधर्म्य लेशमात्र भी नहीं है, पर उनकी व्यक्तिगत मैत्री इतनी गाढ़ी थी, कि सन् 1924 में कॉनराड की मृत्यु-पर्यन्त वह अखंड रही।

गाल्सवर्दी ने अपना साहित्य कार्य बहुत विलंब से अर्थात् जीवन के 29 वें वर्ष से आरंभ किया। उसके व्यावहारिक जीवन को सहचरी न ही उसके साहित्यिक जीवन में स्फूर्ति का काम किया। ऐसा कहा जाता है कि साहित्यिकों को सहसा सांसारिक सुख का लाभ नहीं होता। गाल्सवर्दी इसके लिए अपवाद था। गाल्सवर्दी को पत्नी बड़ी सुशीला थी और उसकी बुद्धि, समीक्षण शक्ति पर उसे बड़ा गर्व था। 'फॉरसाइट सागा' (Forsyte Saga) का समर्पण इस प्रेमी दंपती के प्रेम का प्रत्यक्ष प्रतीक है।

अपनी प्रारम्भिक कृतियाँ गाल्सवर्दी ने John Sinjohn नाम स लिखी थी। इस समय वे सब अप्राप्य हैं और किसी को उनका स्मरण भी नहीं रह गया। प्रथित-यश होने पर गाल्सवर्दी ने स्वतः उनका प्रचार रोककर 'मेरे पहले पाप' शीर्षक से उनका उल्लेख किया है। अपनी साहित्यिक कीर्ति को अकलंकित रखने की यह जवाबदारी क्या कम स्पृहणीय है?

सन् 1895 से 1905 ई० के दस वर्षो के काल में गाल्सवर्दी ने एक कहानी-संग्रह, चार बड़ी कहानियाँ और दो तीन उपन्यास प्रकाशित करवाये। उनमें Island Pharisees नामक उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। इसमें काव्यमय वातावरण , व्याजोकिति, कार्य-कारणभाव की मीमांसा और मनोभावों को विश्लेषण आदि गाल्सवर्दी के उत्तरकालीन विशेषता के चिह्न देखने को मिलते हैं, पर गाल्सवर्दी का सच्चा और कलामय कीर्ति-स्तंभ तो सन् 1906 में ही प्रस्थापित हुआ। इस वर्ष उसका प्रथम नाटक The Silver Box और उसकी कीर्ति को दिगंतव्यापिनी बनाने वाला उपन्यास Forsyte Saga का प्रथम खंड Man of Property प्रकट हुआ। ये दोनों कृतियाँ आज 26 वर्षों के पश्चात् देखने पर भी , ज्यों की त्यों तेजोमयी प्रतीत होती हैं। बाद में गाल्सवर्दी ने 'सिल्वर बॉक्स' से भी अच्छे नाटक तो अवश्य लिखे , पर समीक्षकों का खयाल है, कि Man of Property से अधिक सुंदर उपन्यास नहीं लिखा गया। इस उपन्यास में पात्रों के जीवन-वृत्तांत को आगे बढ़ाकर,

उस समय के आंग्ल जीवन का इतिहास ही लिख डाला है – यह कहना चाहिए। इस उपन्यास के दूसरे खंड को Forsyte Saga तथा Modern Comedy नाम दिया गया है।

इन चालीस वर्षों में होने वाली इंग्लैंड की अनेक उथल-पुथलों, आचार-विचारों की अनेक क्रांतियों आदि का सूत्रबद्ध प्रतिबिम्ब, चलचित्रों की तरह इन उपन्यासों में दृष्टि पड़ जाता है। नाटककार के रूप में गाल्सवर्दी चाहे कितना ही प्रसिद्ध क्यों न ह जाएँ, पर उसकी कीर्ति को Forsyte Saga ने ही बढ़ाया है। उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त भी गाल्सवर्दी ने पाँच-छ: उपन्यास लिखे हैं और उसमे Dark Flower तथा Saint's Progress विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गाल्सवर्दी की कहानियों का बृहत् संग्रह भी प्रकाशित हुआ है, जिसमे उसकी सभी कहानियों का संग्रह हो गया है। उसका नाम है – Caravan । कविता और प्रबंध लेखक क रूप में गाल्सवर्दी की प्रसिद्धि नहीं है, पर इस क्षेत्र में भी उसने अपनी कलम को थोडा बहुत चलाया है।

नाटक और उपन्यास जैसे साहित्य के दोनों अंगों पर सुंदर से सुंदर लिखने वाला सव्यसाची लेखक मुश्किल से हो आपको मिलेगा, पर गाल्सवर्दी न दोनों पर बड़ा ही उत्तम रूप में लिखा है। उसका सा संभाषण लेखन पटु दूसरा नहीं हैं। आधुनिक अंग्रेजों नाटककारों में नोएल कॉवर्ड्स हो एक ऐसा

नाटककार हैं, जो संभाषण लिखने में गाल्सवर्दी का मुकाबला कर सके। गाल्सवर्दी की भाषा प्रवाह में बड़ा संयम और तोल होता है। उसने अभी तक उपन्यास और कहानियों के अलावा 25 नाटक भी लिखे हैं।

उसको अभी अभी गतवर्ष (सन् 1932) का नोबल पुरस्कार मिला था। उसके साहित्य का इतना अधिक प्रचार है कि उस पर इस छोटे से परिचय में लिखना असंभव हैं। खेद हे कि अभी-अभी जनवरी (31 जनवरी, 1933) में ही वह महापुरुष स्वर्गवासी हो गया।

[साप्ताहिक 'जागरण', 3 अप्रैल 1933]

पुराना जमाना : नया जमाना

पुराने जमाने में सभ्यता का अर्थ आत्मा की सभ्यता और आचार की सभ्यता होता था। वर्तमान युग में सभ्यता का अर्थ है स्वार्थ और आडंबर। उसका नैतिक पक्ष छूट गया। उसकी सूरत बदल कर अब वह हो गई है जिसे हमारे पुराने लोग असभ्यता कहते। शारीरिक बनाव-संवार और टीमटाम पुराने तर्ज की निगाहों में कभी अच्छी न समझी जाती थी। भोग-विलास के सामान इकट्ठा करना कभी पुरानी सभ्यता का लक्ष्य नहीं रहा। पुराने लोग सजावट और बनावट को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उस समय सभ्य कहलाने के लिए यह जरूरी नहीं था कि आपका बैंक में इतना हिस्सा हो, आपके बाल एलबर्ट फैशन के कटे हुए हों, आपकी दाढ़ी इटालियन या फ्रेंच हो, आपका कोट शिकारी हो या टेनिस हो, कैम्ब्रिज हो या चीनी या जापानी हो, आपके जूते डर्बी या पंप हों। आपकी शेरवानी या सलीमशाही जूते पर उनकी निगाह न जाती थी। वे उसे शान कहें, प्रदर्शन कहें, शेखी कहें लेकिन सभ्यता हर्गिज न कहते, सभ्यता के नाम को बट्टा न लगाते। सभ्यता से उनका अभिप्राय नैतिक, आध्यात्मिक, हार्दिक था। उस

समय वह व्यक्ति सभ्य था जिसका आचार पवित्र हो, जो धैर्यवान हो, गंभीर हो, हँसमुख हो, विनयशील हो। बड़े-बड़े राजा-महाराजा संन्यासियों को देखकर आदरपूर्वक खड़े हो जाते थे। उनका सम्मान करते थे और केवल औपचारिक या प्रदर्शनपूर्ण सम्मान नहीं, हृदय से उनकी चारित्रिक शुद्धता और आध्यात्मिकता को सिर झुकाते थे, उनसे अपनी भेंट होने को जीवन का एक बड़ा प्रसाद समझते थे। इसका असर उनके मन पर होना जरूरी था। सिद्धार्थ, अशोक शिलादित्य, जनक की उपासना, वैराग्य, तपस्या इन्हीं सत्संगों का परिणाम थी। उन लोगों की आजादी को देखिये कि वे अपने सिद्धांतों के सामने सिंहासन और मुकुट की परवाह न करते थे। और एक यह स्वार्थपरता का युग है कि राजा-महाराजा पाँवों में जंजीर होते हुए भी बादशाही के नाम पर मरते हैं। मिस्र, ईरान और यूरोप के पुराने इतिहासों में जनक और अशोक के उदाहरण मिलते हैं लेकिन आज अगर कोई अपना राज्य छोड़कर एकांतवास करने लगे तो लोग यह समझेंगे कि उसका दिमाग खराब हो गया है।

पुरानी सभ्यता सर्वजन-सुलभ, प्रजातांत्रिक थी। उसकी जो कसौटी धन और ऐश्वर्य की आँखों में थी वही कसौटी साधारण और नीच लोगों की आँखों में भी थी। गरीबी और अमीरी के बीच उस समय कोई दीवार न थी। वह सभ्यता गरीबों को अपमानित न करती थी, उसको मुँह न चिढ़ाती थी,

उसका मजाक न रचती थी। ज्ञान और उपासना का, गंभीरता और सहिष्णुता का सम्मान राजा भी करता था और किसान भी करता था। उनके दार्शनिक विचार अलग-अलग हों लेकिन सभ्यता की कसौटी एक थी। पर आधुनिक सभ्यता ने विशेष और साधारण में, छोटे और बड़े में, धनवान और निर्धन में एक दीवार खड़ी कर दी है। किसी बिसाती की दूकान पर जाइये, किसी दवाफरोश या सौदागर की दूकान को देखिए और आपको मालूम हो जायेगा कि वर्तमान सभ्यता कितनी सीमित और सविशेष है। आपके साबुन, बिस्कुट, लवेंडर की शीशियाँ, कुंतल कौमुदी, दस्ताने, कमरबन्द, टाई, कालर, बैग, ट्रंक और भगवान जाने विलास की और कौन कौन-सी सामग्रियाँ दुकानों में सजी नजर आयेंगी पेटेंट दवायें चुनी हुई हैं, लेकिन आपके कितने देशवासी उनसे लाभान्वित होते आपका आधुनिक शिक्षा से वंचित भाई आपको इस ठाट से देखता है और यह समझता है कि यह आदमी हममें से नहीं हैं, हम उनके नहीं हैं। फिर आप चाहे कितनी बुलद आवाज से राष्ट्रीयता का हांक लगायें वह आपकी ओर ध्यान नहीं देता। वह आपको पराया समझ लेता है। आपके सर्कस और थियेटर में वह सहज सौंदर्य कहाँ हैं जो पुराने जमाने के मेला और तमाशों में होता था? आपके काव्य में वह आकर्षण कहा है जो पुराने जमाने के भजनों में होता था जिन्हें सुनकर अमीर और गरीब, राजा और रंक सबके

सब सिर धुनने लगते थे? आधुनिक प्रणाली ने जनसाधारण को अपनी परिधि से बाहर कर दिया है। उसने अपनी दीवार आडंबर पर खड़ी की है। भौतिकता और स्वार्थपरता उसके आत्मा है। इसके बावजूद जनतांत्रिकता ही आधुनिक सभ्यता की सबसे प्रधान गुण कही जाती है।

वर्तमान सभ्यता का सबसे अच्छा पहलू राष्ट्रीयता की भावना का जन्म लेना है। उसे इस पर गर्व है और उचित गर्व है। लेकिन पुराने जमाने में भी राष्ट्रीयता की भावना बिल्कुल लुप्त न थी। यूनान और ईरान की लड़ाइयाँ, स्पेन और अरब की लड़ाइयाँ, हिन्द और अफगानिस्तान के झगड़े किसी न किसी हद तक राष्ट्रीयता के उदय और राष्ट्र-गौरव पर आधारित थे लेकिन आधुनिक सभ्यता ने इस भावना को एक संगठित, अनुशासित, एकताबद्ध और व्यवस्थित रूप दे दिया है। पुराने जमाने में इसका बोध विशेष अवसरों पर होता था। किसी अपमान का बदला, किसी ताने की चुभन या केवल वीरता का प्रदर्शन और विजयी बनने का उत्साह कुछ व्यक्तियों को एकता की डोर में बाँध देता था। एक उबाल था जो थोड़ी देर के लिए दिल को हिला देता था, एक तूफान था कि जो कुछ दे तक पानी की ठहरी हुई सतह में हलचल डाल देता था लेकिन उबाल के उतरते ही, तूफान का जोर खत्म होते ही अलग-अलग तत्त्व अपनी-अपनी स्वाभाविक स्थिति पर आ जाते थे और कुछ दिनों के बाद इन लड़ाइयों को याद भी खत्म हो जाती थी या

जिंदा रहती थी तो कवीश्वरों के कवित्तों में। बहुत बार धर्म के प्रचार के लिए जबान से खंजर की मदद ली जाती थी। पुरानी रवायतें आज तक नारए तकबीर व तकफीर से गूंज रही हैं मगर वे अस्थायी, क्षणिक उद्‌गार होते थे। उन्होंने सल्तनतें तबाह कर दीं, राष्ट्रों को गारत कर दिया, प्रलय के दृश्य खड़े कर दिये, संस्कृति के चिह्न मिटा दिये मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि वे वैयक्तिक और अस्थायी चीजें थीं। इसके विपरीत आधुनिक राष्ट्र एक स्थायी, टिकाऊ, सामूहिक और अनिवार्य भावना है। उसकी बुनियाद न व्यक्तिगत सत्ता पर है न धार्मिक प्रचार पर बल्कि निश्चित समुदायों की भलाई और सेवा, शांति और दृढ़ता पर। वह पारिवारिक, सांस्कृतिक या धार्मिक संबंधों से पृथक है। वह बाह्यतः भौगोलिक सीमा पर आधारित है और आंतरिक रूप से उद्देश्यों की एकता पर। वह शहद और दूध की नदी अपने कब्जे में रखना चाहती है और किसी दूसरे को उसका एक घूँट भी देना नहीं चाहती। वह खुद आराम से अपना पेट भरेगी चाहे दुनिया भूखों मरे, खुद हँसेंगी चाहे दुनिया खून के आँसू रोये। अगर उसे लाल कपड़े पहनने की धुन हो जाये और लाल रंग खून से निकलता हो तो उसे दूसरों का खून करने में भी झिझक न होगी। अगर इंसान के दिल का टुकड़ा उसके शरीर को ताकत पहुँचाने वाला हो तो निश्चय ही हजारों आदमी उसके खंजर के नीचे तड़पते नजर आयेंगे।

उसे अपना अस्तित्व संसार में आवश्यक मालूम होता है। बाकी दुनिया मिट जाये, उसे इसकी परवाह नहीं। स्वार्थपरता उसका धर्म, उसकी पुस्तक, उसका रास्ता सब कुछ है। सारी मानवीय भावनायें, सारे नैतिक प्रश्न इस हवस के पुतले के आगे सिर झुका देते हैं। यह कल और मशीन का युग है और राष्ट्र इस युग की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह देव-जैसी मशीन दिन-रात पागलों जैसी तेजी मगर सिपाहियों जैसी पाबंदी के साथ चलती रहती है। कोई इसके घेरे में आ जाएँ यह उसे देखते-देखते निगल जायेगी, उसे पीस डालेगी। वह किसी पर दया नहीं करती किसी के साथ रिआयत नहीं करती। वह एक भीमकाय रोलर है जिसमे व्यापार और प्रभुत्व की दो लाल-लाल आँखें घूर-घूरकर बेखबर लोगों को चेतावनी देती हैं कि खबरदार सामने न आना वर्ना पलक झपकते भर में मारे जाओगे। इस आधुनिक राष्ट्र ने संसार में एक रक्ताक्त जीवन-संघर्ष छेड़ दिया है। जिन मानव समुदायों ने अभी तक राष्ट्र का रूप नहीं ग्रहण किया वे उसके अत्याचारों का क्षेत्र हैं। वह अफ्रीका में जाती है और वहाँ के जंगलों और घाटियों को काले रंग के काफिरों से पाक कर देती है। वह एशिया में आती है और सभ्यता व रिक्षा का नारा बुलंद करती है। उसके नेक इरादों में शक नहीं। वह किसी को गुलामी का तौक नहीं पहनाती, मर्दों और औरतों को गुलाम नहीं बनाती, शहरों को जलाकर खाक नहीं करती मगर एक विचित्र-

सा संयोग है कि जो `अ-राष्ट्र` प्रदेश इस राष्ट्र के हाथों बंदी हुआ, उसका जीवन निराशा और अपमान की भेंट चढ़ जाता है।

प्राचीन युग को अंधकार युग कहा जाता है मगर उस अंधकार युग में सैनिक सेवा हर एक व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर थी। बादशाह किसी को जबर्दस्ती लडने पर मजबूर न कर सकता था। बहादुरी के मतवाले कर्त्तव्य या मित्रता या विशुद्ध लालच की पुकार सुनकर खड्ग-हस्त हो जाते थे लेकिन इस प्रकाशवान युग ने हर व्यक्ति को हत्या के लिए तत्पर बना दिया है। नारा व्यक्ति-स्वाधीनता का बुलंद किया जाता है लेकिन सच तो यह है कि राष्ट्र ने व्यक्ति को मिटा दिया, व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र या स्टेट में समाहित हो गया है। हम अब रियासत के गुलाम हैं। उसको अधिकार है चाहे हमको कत्ल व खून पर मजबूर करे चाहे झगड़े-फसाद पर। लंका में विभीषण ने अपने भाई रावण के खिलाफ रामचन्द्र की मदद को थी मगर विभीषण पूरी आजादी के साथ लंका में रहता था। रावण को कभी इतना साहस न हुआ कि वह विभीषण का एक बाल भी बांका कर सके। आज लड़ाई के जमाने में इस तरह का राजद्रोह कोर्टमार्शल का कारण बन जाता। विदुर कौरवों से वजीफा पाता था लेकिन एलानिया पांडवों का साथ देता था। तो भी कौरवों ने, यद्यपि वे कर्त्तव्य भावना से रहित कहे जाते हैं, इस निर्भीक स्पष्टता के लिए विदुर को मार डालने के योग्य नहीं समझा।

मगर आप कुछ भी कहें वह अंधेरा युग था, गुलामी और बदहाली से घायल और दुखीबी। और यह जमाना जब दुश्मन की खूबियों को स्वीकार करना भी कुफ्र है, जब राष्ट्रीय धर्म से जौ भर भी इधर-उधर होना अक्षम्य पाप है, प्रकाशवान, रौशन ! अगर रोशनी का मतलब बिजली या गैस की रोशनी है। लेकिन अगर रोशनी का मतलब आत्मिक स्वतंत्रता, बौद्धिक और सामाजिक शांति है तो वह अंधेरा युग इस रौशन जमाने से कहीं अधिक प्रकाशवान था। 'राष्ट्र' की शक्ति और प्रभुत्व पर ये सब पतिंगे न्योछावर हैं। और क्या यह व्यापार और कल-कारखानों की उन्नति, तरह-तरह के यंत्रों का आविष्कार, जिस पर नये युग को इतना गर्व है, विशुद्ध सौभाग्य है जब कि सिगरेट कौडियों के मोल बिकता है, बटन और टीन के खिलौने मारे-मारे फिरते हैं मगर दूध और घी, मकई और ज्वार का स्थायी अकाल पड़ा हुआ है, जबकि देहात उजड़ते जाते हैं और शहर की आबादियाँ बढ़ती जाती हैं, जबकि प्रकृति की दी हुई सम्पदा को लात मार कर लोग बनावटी नुमायशी ढकोसलों पर जान दे रहे हैं, जब कि आदम के बेशुमार बेटे बदबूदार और अंधेरी कोठरियों में जिंदगी बसर करने के लिए मजबूर हैं, जबकि लोग अपनी बिरादरी और पड़ोसियों की सीख न मानकर वासना के शिकार होते जाते हैं, जब कि बड़े-बड़े व्यावसायिक नगरों में सतीत्व आवारा और परीशान रोता फिरता है (लंदन में चालीस हजार से ज्यादा

वेश्याएँ हैं और कलकत्ते में सोलह हजार से ज्यादा) जब कि आजाद मेहनत की रोटी खाने वाले इंसान पूंजीपतियों के गुलाम होते जाते हैं, जब कि महजर पैसे वाले व्यापारियों के नफे के लिए खूनी लड़ाइयों में कूदने से भी लोग बाज नहीं आते, जब कि विद्या और कला और आध्यात्मिकता भी नफे-नुकसान के भंवर में फँसी हुई है, जब कि कुशल राजनीतिज्ञों का पाखंड और छल-कपट हंगामा बर्पा किये हुए है और न्याय और सच्चाई का शोर सिर्फ जुल्म के मारे हुओं की कमजोर पुकार को दबाने के लिए मचाया जाता है, नयी सभ्यता का कोई दीवाना भी इन मुसीबतों और गुलामी के दौर को ख़ालिस बरकत कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। इसमें शक नहीं कि देश के नेता इसके दोषों से परिचित हो गये हैं और इसके सुधार की कोशिशों की जा रही हैं लेकिन उस जहर को जो समाज-व्यवस्था में घुल गया है, निकालने की कोशिश नहीं की जाती, सिर्फ उसके ऊपरी प्रभावों, ऊपरी विकृतियों को छिपाने और मिटाने में लोग लगे हुए हैं। कोढ़ी जिस्म को रंगीन कपड़ों से ढँका जा रहा है।

नये जमाने ने मानवीय सद्गुणों का भी मनमाना विभाजन कर दिया है। पुराने जमाने में भी श्रेणियों और हैसियतों का विभाजन था मगर नैतिक सिद्धांतों में विशेष और साधारण, विजेता और विजित का कोई भेद न था। नम्रता और सहिष्णुता, शर्म और हया, सदाचार और मुरव्वत-इन गुणों का सब

आदर करते थे चाहे वह मुगल हों या तुर्क, ब्राह्मण हों या शूद्र। लेकिन आज हालत कुछ और है। ये निर्बलों के गुण हैं। नम्रता को आज निर्बलता की स्वीकृति समझा जाता है। लाज-शर्म नामरदाँ के गुण हैं। मीठा बोलना, सुंदर आचरण और आँख का लिहाज इस नई टकसाल के फेंके हुए सिक्के हैं। दया और प्रार्थना, संयम और नर्मी को कायरता और पस्तहिम्मती समझा जाता है। अब डीगें मारने और शेखी बघारने का जमाना है। गुस्सा, नफरत, घमंड, जबान का कडुआपन – ये मर्दाना खूबियाँ हैं। अगर किसी से इंकार करना है तो मुलायमियत से कहने की जरूरत नहीं, साफ और बेलाग कहिए। इसमें अक्खड़पन जितना ही ज्यादा हो उतना हो अच्छा। नाक पर मक्खी न बैठने पाये, तलवार हमेशा म्यान से बाहर रहे, जरा कोई बात तबीयत के खिलाफ हो, बस, जामे से बाहर हो जाइये। गुस्सा एक मर्दाना जौहर है। उसे रोकना बुजदिली की दलील है। आपको चाहे किसी खास बात में जरा भी दखल न हो मगर जबान से कहिए कि मैं इस फन का अरस्तू हूँ। मुरव्वत और इंसानियत और लिहाज को पास न फटकने दीजिए। ये गरीब और मजबूर लोगों के गुण हैं। आप अपने बर्ताव में दिलेराना साफगोई से काम लीजिए। आपको किसी की भावनाओं से कोई प्रयोजन नहीं, और शर्म का तो नाम लेना भी गुनाह है। यह हैं इस नये जमाने की खूबियाँ।

हम यह नहीं कहते कि वह पुरानी बातें सबकी सब तारीफ करने के काबिल हैं मगर वह कितना ही बुरा क्यों न हों और कितने ही ताने उसे क्यों न दिये जायँ, वह इस नई स्वार्थपरता, घमंड और आडंबर से कई गुना अच्छा है। मजा यह है कि बचपन ही से इन नैसर्गिक गुणों को मिटाने की कोशिश की जाती है। यह मर्दाना गुण लड़कों को उनके दूध के साथ पिलाये जाते हैं। नये जमाने का राग अलापने वाला कहेगा यह इकतरफा तस्वीर है। देखिए आज राष्ट्रीय मेल-जोल ने मानव संबंधों को कितना दृढ़ बना दिया है। एक अंग्रेज व्यापारी के साथ चीन में कोई बेइंसाफी होती है और सारे इंगलिस्तान में शोर मच जाता है। खून की कीमत और कानूनी जंग की दुहाई मचने लगती है। एक फ्रांसीसी अखबार का प्रवेश किसी राज्य में बन्द कर दिया जाता है और फ्रांसीसी दुनिया में उथल-पुथल मच जाती है। यह हमदर्दी , यह एकता कभी पहले भी थी? राजपूत मुसलमानों की मातहती में राजपूतों का रून करते थे, मुसलमान सिक्खों के कन्धे से कन्धा मिलाकर मुसलमानों का कत्ल करते थे। निस्संदेह यह नये युग का एक अच्छा पहलू है। इसके जोर पर हम दुनिया के हर कोने में चैन से रह सकते हैं, हर प्रदेश में व्यापार कर सकते हैं। मगर सच्चाई यह है कि यह एकता और सहमति इंसानियत की बनिस्बत राष्ट्रीय प्रभुत्व पर अधिक निर्भर है वर्ना क्या वजह है कि किसी दूर-दराज मुल्क में एक आदमी की तकलीफ या बेइज़्ज़ती कौम

के दिल को हिला देती है मगर अपने हो पडोसी और अपने दोस्तों की भूख और गरीबी पर जरा भी दिल नहीं पसीजता? क्या वजह है कि यूरोपियन पूँजीपति धन और ऐश्वर्य की शानदार नैया पर बैठा हुआ उन अनाथों की परवाह नहीं करता जो गरीबी और बदहाली के भंवर में पड़े हुए हैं? यही कि स्वार्थपरता, इंद्रिय परायणता राष्ट्र की आत्मा है।

वह विशुद्ध सांसारिकता है, सुंदर भावनाओं से रहित, जिसने दिलों को कठोर और संकीर्ण और भावना-शून्य बना दिया है। वह पैसों वालों का एक जत्था है जो नैतिक, भावनात्मक, आत्मिक वस्तुओं को व्यावसायिक लाभ और हानि की दृष्टि से देखता है, जिसके निकट वही नेकी आचरण करने योग्य है जो दौलत के ढेर में कुछ वृद्धि करे, वही भाव अच्छे हैं जो अपना प्रभुत्व बढ़ायें। वह आत्मा को भी तराजू के पलडों पर तौलता है। उसे जनतंत्र कहना गलती है। बराबरी और भाइचारे को उसने पैरों तले इस तरह रौंदा है कि अब उसकी शक़्ल भी पहचानी नहीं जाती। इसान की कीमत उसके नजदीक इतनी ही है कि वह एक रुपया कमाने का साधन है। वह कसाई की तरह इंसान के गोश्त और खाल का अंदाजा करके उसकी कीमत लगाता है। कहने का मतलब यह है कि पुराना जमाना अमीरों और सुल्तानों का जमाना था और नया जमाना बनियों और व्यापारियों का जमाना है। इसने दौलत के महल खड़े कर दिये, दौलत की तलाश में जल-

थल को छानता हुआ आसमानों के पार तक जा पहुँचा और अब सारी दुनिया उसका कार्यक्षेत्र है।

इस नये जमाने में एक ऐसा रोशन पहलू भी है जो उन काले दागों को किसी हद तक ढंक देता है और वह है 'बेजबानों की ताकत का ज़ाहिर होना।' हाल के योरोपीय महायुद्ध ने इस पहलू को और भी उजागर कर दिया है। स्वार्थपरता के तूफान ने बड़े-बड़े गरीटील पेड़ों को ही नहीं, सोये हुए और लुटे हुए हरे भरे मैदानों को भी जगा दिया है। अब एक फाकाकश मजदूर भी अपनी अहमियत समझने लगा हौ और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसंद नहीं करता। उसे अपने कर्तव्य चाहे न मालूम हों लेकिन अपने अधिकारों का पूरा ज्ञान है। वह जानता हैं कि इस सारे राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूँ। यह सारा राष्ट्रीय विकास और उन्नति मेरे ही हाथों का करिश्मा है। अब वह मूक संतोष और सिर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लेने में विश्वास नहीं रखता।

यह उन चीजों की मंदी का युग है और वह भी उन्हें हाथ नहीं लगाता। वह भी आराम, निश्चिंतता और खुशहाली की माँग करता है। वह भी अच्छे मकानों में रहना चाहता हैं, अच्छे खाने खाना चाहता है और मनोरंजन के लिए अवकाश की माँग करता है। और वह अपने दावों को ऐसे प्रभावशाली

ढंग से प्रकट करने लगा है कि अधिकारी वर्ग उससे नखरे नहीं कर सकता। वह पूंजी का दुश्मन है, व्यक्तिगत संपत्ति की जड खोदने वाला और व्यापारियों की जत्थेबंदी का हत्यारा। यह सच हैं कि बह भी अपने प्रभाव का क्षेत्र भौगोलिक सीमाओं के अंदर रखना चाहता है मगर अपनी अमलदारो में बराबरी और सच्चाई का समर्थक है। वह अपने राष्ट्र को एक अकेली सत्ता बनाना चाहता है। हर व्यक्ति के लिए एक जैसा अवसर, एक जैसी सुविधाओं, एक जैसे उन्नति के साधनों की माग कर्ता है। सबकी एकता उसका जेहाद का नारा है। वह ऊँच-नीच को मिटाकर सारी जमीन को समतल बनाने की कोशिश करता है। वह ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो धनोपार्जन के समस्त साधन अपने हाथ में रक्खे और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत और योग्यता के अनुसार बराबर बाँटे। वह जमींदारों को एक गंदी और बेकरार चीज समझता हैं और उसकी सम्पत्ति को उनके कब्जे से निकालकर जनता के कब्जे में रखना चाहता हैं। संक्षेप में, वह सारी संपत्तियों, कारखानों रेलों , जहाजों पर एक विशेष व्यवस्था के द्वारा जनता के अधिकार की माँग करता है और कौन कह सकता हे कि यह काम बेहद मुश्किल नहीं हैं। व्यक्तिगत अधिकार का विचार मनुष्य के स्वभाव का अंग हो गया है। वह उसकी सबसे सशक्त प्ररेक शक्ति है इसी पर उसके जिंदगी के सारे मंसूबे, सारे इरादे सारी इच्छायें कायम है।

'व्यक्ति' की सता मिटाना दुष्कर हैं। पूंजी और सम्पत्ति से खूब लड़ाइयाँ लड़नी पड़ेगी (कुछ दशा में जारी हैं) और यद्यपि रंग ढंग से मालूम होता है कि उसकी इस लड़ाई में हार हो गई लेकिन उसका असर जिंदा है और बढ़ता जाएँगा। पूँजी उसे अपने काबू में रखने के लिए कुछ और रिआयतें करेगी, कुछ बल खायगी, इधर कुछ उड़ायेगी, उससे लड़ाई करके अपनी हस्ती खतरे में न डालेगी।

जनता की यह हलचल और माँग चाह नाजुक कानों को कितनी ही नागवार मालूम हो लेकिन वह इस निस्तब्ध मौन की तुलना में कुछ अधिक जीवनदायक हैं जो पुराने युग को अपनी विशेषता थी और अभी तक कुछ एशियाई देशों में चल रही है, जो आग में जलकर, तलवार की चोटें खाकर भी उफ नहीं करती, सहना और तड़पना जिसकी विशेषता है। नये समय ते इस सबसे नाजूक पहलू ने यूरोप और अमरिका वगैरह देशों में शूद्रों का खात्मा कर दिया है!। अब वहाँ कोई ऐसा नहीं जिसके छूने से ब्राह्मणों का पवित्र अस्तित्व कलंकि हो जाये, ऐसा नहीं जो क्षत्रियों के अत्याचार की फरियाद करे, जो वैश्यों के स्वर्ण सिंहासन का ढोने वाला बने।

मगर यह खयाल करना कि जनतंत्र का यह नया पहलू अपनी भौगोलिक परिधि बाहर निकलकर निर्बलों और अनाथों की हिमायत करेगा या

पूँजीपति 'राष्ट्र' की बनिस्बत 'अ राष्ट्रों' के साथ ज्यादा इंसानियत और हमदर्दी का बर्ताव करेंगा, शायद गलत साबित हो। उस राज सिंहासन और स्वर्ण मुकुट से प्रेम नहीं लेकिन राजकीय अधिकार-भावना और राज्य-संचालन की वासना से वह भी मुक्त नहीं। बहुत संभव है कि 'अ-राष्ट्रों' पर इस जनतंत्र का अत्याचार पूँजीपतियों से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो। जब कुछ थोड़े से पूँजीपतियों की स्वार्थपरता दुनिया को उलट-पलटकर रख दे सकती है तो एक पूरे राष्ट्र की सम्मिलित स्वार्थपरता क्या कुछ न कर दिखायेगी। वह भी जत्थेबंदी की एक सूरत है, ज्यादा ठोस। वह अपने देश के व्यक्तिगत प्रभुत्व को मिटाकर उसके बदले जनता के प्रभुत्व का झंडा लहरायगी मगर यह स्पष्ट है कि उसका आधार भी स्वार्थपरता है और जब तक उसके पैरों से यह जंजीर दूर न होगी वह इस इंसानी भाईचारे की मंजिल से एक जौ भी और करीब न होगी , जो संस्कृति का लक्ष्य है।

लेकिन नये जमाने की इस खींचतान और आपसी होड, अहंकार और भौतिकता के संसारव्यापी अंधकार में आशा की एक किरण दिखाई दे रही है। वह प्रेसीडेंट विल्सन की प्रस्तावित लीग आफ नेशन्स या राष्ट्र संघ है। हम अपनी अनाथ और बेबस आँखों से उस किरण की ओर खड़े ताक रहे हैं। हमारे पैरों की कमजोरी हमें उस तरफ बढ़ने नहीं देती। हमारा दिल उम्मीद से भरा हुआ डै। यह किरण हमारी कठिन मंजिल के किसी

आश्रयस्थल का पता दे रही है या केवल मरीचिका है, आने वाली घडियाँ जल्दी ही इसका फैसला कर देंगी। लेकिन अगर वह मरीचिका ही हो तो क्या हमें शिकायत का कोई मौका है? यह उन राष्ट्रों का संघ होगा जिन्होंने जनतंत्र का स्थान प्राप्त किया है, जहाँ बहुत से लोग मुट्ठी भर लोगों के हाथों लुटते नहीं, जहाँ ब्राह्मण और शूद्र का विचार या भेद नहीं है। हम अभी राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक भी नहीं पहुँचे, जनतंत्र की तो बात ही करना व्यर्थ है। ऐसी हालत में अगर हम इस संघ में दाखिल किये जाने के काबिल न समझे जायँ तो हमें ताज्जुब या शिकायत न करनी चाहिए। जब इंगालिस्तान को इस संघ में आने क लिए अपना घेरा बहुत फैलाना पड़ा यहाँ तक कि अब उनकी स्त्री जाति को भी राजनीतिक अधिकार मिल गये, जब आस्ट्रिया और जर्मनी जैसे देश जिनकी राजनीतिक स्थिति हमसे कहीं अच्छी है इस संघ में केवल इसलिए प्रवेश पाने के योग्य नहीं समझे जाते कि वहाँ अभी तक व्यक्तिगत प्रभाव सिद्धांतों पर भारी पड़ता है और विशाल जनता थोड़े से लोगों के अधीन है तो हिन्दुस्तान किस मुँह से इस संघ में शरीक होने की माँग कर सकता हे जहाँ जनता एक बेजान और बेहिस ढेर से ज्यादा कुछ नहीं। इस बर्बादी का इल्जाम हम गवर्नमेंट के सिर नहीं रख सकते। गवर्नमेंट की कार्य-प्रणाली अब तक हमेशा जबर्दस्तों को हिमायत करती आयी है। जनता को इस जड़ता की स्थिति में रखने का

साग दोष शिक्षित और सम्पन्न लोगों पर है। हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और जमींदार ही सबसे ज्यादा हैं। हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखाई पड़ते हैं। मगर कितने शर्म और अफसोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। वे अपने हो स्वार्थ और प्रभुत्व की धुत में मस्त हैं। वह अधिकार और शासन को माँग करते हैं और धन और वैभव के इच्छुक हैं, जनता की भलाई के नहीं। कितने बड़े-बड़े ताल्लुकेदार, बड़े-बड़े जमींदार, पैसे वाले रईस लोग उन बेज़बान करोडों काश्तकारों के साथ हमदर्दी , इंसानियत और देशभाईपने का बर्ताव करते हैं जिन्हें संयोग या गवर्नमेंट की गलती या खुद जनता की बेजबानी ने उनकी तकदीर का मालिक बना दिया है। आप स्वराज्य की हांक लगाइये, सेल्फ गवर्नमेंट की माँग कीजिए, कौंसिलों को विस्तार देने की माँग कीजिए, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइये, जनता को इन चीजों से कोई मतलब नहीं है। वह आपकी माँगों में शरीक नहीं है बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह आज जोरदार आवाज में, शंख बजाकर आपकी इन माँगों का विरोध करेगी। कोई कारण नहीं है कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले में आपकी हुकूमत को ज्यादा पसंद करे। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची जमींदार के मुँह में दबी हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय

छलनी हो रहा है उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती।

इसकी क्या जमानत है कि आपके पंजे में आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जायेगी ? आपने अब तक इसका कोई सबूत नहीं दिया कि आप उनकी भलाई चाहने वाले हैं। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का , स्वार्थ का, लोभ का, कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले लेकर खूब फूलें और बगलें बजायें मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का ध्यान रखना भी जरूरी है। जाहिल रईसों या जमींदारों से हमें शिकायत नहीं। उनकी आँखें उस वक्त खुलेंगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथों में होंगी और वह बेबस निगाहों से इधर-उधर ताक रहे होंगे। शिकायत हमें उन लोगो से है जो पढ़े-लिखे हैं और जमींदार हैं, वकील हैं और जमींदार हैं। वह अपने दिल से पूछे कि वह प्रजा के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहे हैं? कभी-कभी अपने कृत्यों और कमियों के बारे में अपने दिल से पूछना जरूरी होता है। उनका दिल साफ कहेगा कि तुम इस तराजू पर तौले गये और ओछे निकले। जरा शहर के शांतिपूर्ण कोने से निकलकर वहाँ जाइये जहाँ जनता की आबादी है, जहाँ आपके नब्बे फीसदी देशवासी बसते हैं। उस तड़प का आपके दिल पर एक निहायत

रौशन असर पड़ेगा। आपकी आँखें खुल जायेंगी। अन्याय और अत्याचार के दृश्य आपका दिल हिला देंगे।

क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों को भलाई का आंदोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आपने सैकडों मदरसे और कालेज बनवाये, यूनिवर्सिटियाँ खोलीं और अनेक आंदोलन चलाये मगर किसके लिए? सिर्फ अपने लिए, सिर्फ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए। और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग में थी उसको देखते हुए आपका आचरण जरा भी आपत्तिजनक न था। मगर नये जमाने ने एक नया पन्ना पलटा है। आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं। जल्द या देर से, शायद जल्द ही, हम जनता को केवल मुखर हो नहीं अपने आ कारों की माँग करने वाले के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी किस्मतों की मालिक होगी। तब आपको अपनी बेइंसाफियाँ याद आयेंगी और आप हाथ मल कर रह जायेंगे। जनता की इस ठहरी हुई हालत से धोखे में न आइये। इन्कलाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीडित जनता में इतनी ताकत छिपी

हुई है? हार के पहले कौन जानता था कि जर्मनी का एकछत्र स्वैराचारी शासन जनता के ज्वालामुखी पर बैठा हुआ है। निकट भविष्य में हिन्दुस्तान के लाखों मजदूर और कारीगर फ्रांस से वापस आयेंगे, लाखों सिपाही लड़ाई के बाद अपने-अपने घर लौटेंगे। क्या आप समझते हैं कि उन पर उन आजाद देशों की आबोहवा का कुछ भी असर न रोगा? अगर कौम में इंसानियत और लाज-शरम नहीं है तो खुद अपनी भलाई का तकाजा है कि हम अभी से जनता के दिल को अपने बस में करने की कोशिश करें। इस बात में हमारे ताल्लुकेदार और जमींदार, चाहे वे अंधेरे अवध के हों या उजाले बंगाल के, सबसे ज्यादा दोषी हैं। उचित है कि वे तात्कालिक हानि की चिंता न करके किसानों की भलाई और सुधार की कोशिश क०, स्वेच्छा से उन अधिकारों से हाध खींच ले जो उन्हें किसानों पर प्राप्त हैं। उनसे बेगार लेना छोड़ दे, उनके साथ आदमियत का बर्ताव करें, इज़ाफा और बेदखली से परहेज करें, ताकि जनता के दिलों में उनकी इज़्ज़त और उनके प्रति श्रद्धा हो। हमारे कौंसिलरों और राजनीतिक नेताओं का कर्त्तव्य हैं [के से अपने प्रस्तावों की परिधि को फैलायें और जनता (यानी काश्तकारों) की हिमायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्य-प्रणाली बना लें। स्वराज्य की बेकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का वक्त अब नहीं क्योंकि आने वाला जमाना अब

जनता का हैं और वह लोग पछतायेंगे जो जमाने के कदम से कदम मिलाकर न चलेंगे।

['दौर ए-जदीदो कदीम' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', फरवरी 1919]

प्राचीन मिस्र जाति के धर्म-तत्त्व

प्राचीन मिस्र जाति के लोग बड़े धर्मनिष्ठ होते थे और उनके धर्म-सिद्धांत उनके जीवन के प्रत्येक काय में सम्मिलित रहते थे। वह मूर्ति-पूजक थे और जीवन-उपयोगी वस्तुओं को प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। जल, भूमि, अन्न, नील नदी, आकार, चंद्रमा, सूर्य, नक्षत्र और मृतात्माओं का आवाहन करते थे। लेकिन समस्त जाति सब देवताओं की अनुयायी न होती थी। भिन्नभिन्न प्रांतों के देवता भी पृथक होते थे और उन प्रांतों के लोग अपने ही देवताओं को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। यद्यपि मुख्य-मुख्य देवताओं के स्वरूप में अंतर था लेकिन वास्तव में वह सब एक ही थे। उदाहरणतः हेलियोपोलिस नगर में 'रा' नाम से सूर्य की पूजा होती थी लेकिन तिब नगर में उसी को 'आमन' के नाम से पूजते थे। इन दोनों स्थानों में सूर्य की प्रतिमा भिन्न-भिन्न थी।

वह लोग अपनी देवताओं को मनुष्य की भांति जीवधारी समझते थे, हाँ, बुद्धि, ज्ञान, बल और पराक्रम में उन्हें मनुष्यों से ऊँचा मानते थे। मनुष्यों की तरह उनमें भी इच्छाएं और भावनाएं मौजूद थीं। यह देवतागण

सपरिवार थे, उनके स्त्री, बालक और अन्य संबंधी भी थे। उनकी पत्नी और पुत्र भी देवताओं की तरह पूज्य माने जाते थे। बाज नगरों में देवताओं की जगह देवियों की ही पूजा होती थी। पर विद्वानों के मतानुसार मिस्र के उच्च श्रेणी के लोग एकेश्वरवादी थे।

मिस्र के देवताओं में सबसे प्रतिभाशाली सूर्य था। उसका स्वरूप और आभूषण बादशाहों के सदृश थे। उसके सिर पर आभा का मंडल और एक सांप बना होता था जो तेज की प्रखरता का सूचक था। लोगों की कल्पना थी कि वह वायुमंडल में एक यान पर बैठा हुआ है और कई मल्लाह उस यान को खींचते हैं। जब वह क्षितिज के ऊपर आता है तो उसके लोचनों की तेजस्वी शिखाएँ समस्त भूमिमंडल को आलोकित कर देती हैं और प्राणियों को बल और तेज प्रदान करती हैं। वह नित्य अपनी यान पर खड़ा होकर अपने शत्रुओं से लड़ता और उन्हें परास्त करता है। संध्या हो जाने पर वह पाताल में जाकर शयन करता है। सूर्य के प्रकाश का एक अलग देवता था जिसका नाम 'होरूस' था। वह प्रतिदिन प्रातःकाल एक सुंदर नवयुवक के रूप में प्रकट होकर आकाश-मंडल में विचरता है और अंधकार के देवता से जिसका नाम 'सित' है नित्य लड़ता रहता है।

आकाश के देवताओं के बाद मिस्री लोग अन्न और खेती के देवताओं और देवियों को मानते थे जिनका काम भूमि को उपजाऊ बनाना है।

यह लिखा जा चुका है। कि मिस्र के पृथक-पृथक स्थानों में भिन्न-भिन्न देवता मान्य समझे जाते थे। लेकिन कालांतर में जब मिस्र में एक सर्वदेशीय राज्य स्थापित हो गया तो यह पार्थक्य मिट गया। समस्त देवगण सार्वभौम हो गए।

इन सब देवताओं में 'आइसिज' और 'उजेरियस' सर्वप्रधान थे। यह ` 'उजेरियस' प्रकाश का देवता था और अपने भाई 'सित'` को, जो तिमिरदेव समझा जाता था, दुश्मन था। उसके विषय में यह किंवदन्ती थी कि वह प्रभात को आकाश-सागर से निकलकर दिन भर अपना प्रकाश फैलाता रहता है। रात को उसका भाई 'सित' द्वेषवश उसे मारकर टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। उसकी पत्नी 'आइसजि' उसके शव पर बैठकर विलाप करती है। 'सित' का डंका बजने लगता है और संसार में अंधकार छा जाता है। लेकिन 'उजेरियस' का पुत्र 'होरूस' क्षितिज से निकलकर अपने पिता की हत्या का बदला लेता है और 'सित' को मारकर फिर संसार में ज्योति फैलाता है। यह अभिनय नित्य होता रहता है।

मिस्र देश के बहुत से नगरों का दावा था कि 'उजेरियस' के शरीर के टुकड़े उनके मंदिरों में भूमिस्थ हैं। 'उजेरियस' का मातम मनाने के लिए वर्ष में एक दिन नियत कर दिया गया था। उस दिन समस्त देश में आर्तनाद सुनाई देता था और महिलाएँ 'उजेरियस' के बालों के शोक में अपने केश नोच डालती थीं।

'साई' नगर के पुजारी एक झील के तट पर उजेरियस के जीवन-मरण और पुनर्जीवन की घटनाओं को ताजिया बनाकर दिखाते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोडोटस ने ताजियों का यह दृश्य देखा था लेकिन उसे ताकीद कर दी गई थी कि वह इसका कहीं उल्लेख न करे।

मिस्री देवताओं की प्रतिमाएँ अपनी विचित्रता में भारतीय प्रतिमाओं से कम न थीं। किसी का धड़ मनुष्य का था तो सिर पशु का और किसी का धड़ पशु का था तो सिर मनुष्य का था। होरूस का सिर चिड़िया के सिर के सदृश है, आइसिज का गाय के सिर के सदृश। 'आनोबीस' नामक देवता का सिर गीदड का है और 'फताह' का सिर बैल के समान है।

मिस्र देश-निवासी बहुधा पशुओं को पवित्र समझते और उनकी पूजा करते थे। उसमे से सिंह, ग्राह, गाय, सियार, बिल्ली, मेढा और लवा आदि विशेष आदरणीय थे। इन पशुओं को मारना या किसी प्रकार का कष्ट देना वर्जित

था। रोम वालों ने जिस समय समस्त संसार पर आधिपत्य जमा लिया था उस समय एक रोम-निवासी ने एक बिल्ली को मार डाला था। जतना ने उससे बिल्ली के खून का बदला लेना चाहा। मिस्र के राजा ने, जो रोम का करद था, चाहा कि उसे लोगों के हाथ से बचा लें, लेकिन उसका कुछ व न चला। बिल्ली के घातक को लोगों ने मार डाला। प्रत्येक मंदिर में इन पशुओं में से एक न एक अवश्य ही पाला जाता था और भक्त-जन आकर उसकी पूजा करते थे। एक ईसाई पादरी ने इस प्रथा का इन शब्दों में मजाक उड़ाया है – 'जब कोई आदमी मंदिर में आता है तो पुजारी महाशय गंभीरता और गौरव के साथ कुछ गाते और परदा उठा देते हैं कि उसे देवता के दर्शन कराएँ। तब वह आदमी क्या देखता है कि एक बिल्ली या एक मगर या एक सांप या कोई है।दूसरा जानवर प्रकट होता है जो एक सुसज्जित फर्श पर बैठा या लेटा हुआ रहता हैं।'

तिब नगर के व्यापारियों ने एक घड़ियाल को हिलाकर उसके कानों में सने को बालियाँ और हाथों में कंगन पहनाए थे।

यूनान देश के एक यात्री ने, जो ईसा मसीह का समकालीन था, शद्वो नगर के घड़ियाल का दर्शन किया था, वह उसका यों वर्णन करता है –

‘पुजारी कुछ मीठी रोटियाँ, कुछ तली मछलियाँ और कुछ शहद लेकर मेरे साथ झील पर गया। घड़ियाल झील के किनारे लेटा हुआ था। दो आदमियों ने उसका मुँह पकड़कर खोला, एक आदमी ने पहले रोटियाँ उसे मुँह से डाल दीं, फिर मछलियाँ और कुछ शहद आदि भी डाले गये। तब घड़ियाल झील में कूद गया और दूसर किनारे पर जाकर लेट रहा। उसी समय एक और यात्री वह वस्तुएँ लाया। पुजारी उसे भी लेकर झील पर गया और घड़ियाल को वह चीजें फिर खिला दीं।’

मान्दस नगर के लोग एक बकरी की पूजा करते थे और हेलियोपोलिस नगर का देवता एक पक्षी था जिसे यूनान के लोग ‘फीनिक्स’` अर्थात् उसका कहते थे।

मिस्र वाले उसके विषय में बड़ी विचित्र कथाएँ बयान करते थे। उनका विश्वास था कि हर पाँच सौ वर्षों में एक बार उन पक्षियों में से एक ‘रा’ नगर के मंदिर में आता है। वह अपने साथ अपने बाप की लाश भी लाता है। उसको मुर में, जो एक प्रकार का सुगंधित गोंद है, लपेटकर वहाँ रख देता है। वह पहले मुर को अंडे के आकार का बनाता है, फिर उसमे छेद करके लाश को उसमे रखकर छेद को बन्द कर देता है। यह पक्षी कई शताब्दियों तक जीवित रहता हे और जब मरने के दिन निकट आते हैं तो वह

सुगन्धित लकड़ियों का एक छोटा-सा पिंजरा बनाकर उस पर चढ़ता है और भस्म हो जाता है। उसकी राख से एक जवान बाहर निकलकर उडने लगता है। अरबी और फारसी ग्रंथों में भी इन्हों कथाओं का समर्थन किया है।

मंफीस नगर में एक ऐसी गाय की पूजा करने की प्रथा थी, जिसका रंग काला, माथे पर उजला और त्रिकोण दाग और पूंछ पर घने बाल हों। उसे आपीस कहते थे। मिस्र के लोगों का कथन था कि ऐसी गाय आकाश में चमकने वाली विद्युत से पैदा होती है। जब ऐसी गाय कहीं मिल जाती थी तो पुजारी लोग उसके चिह्नों को भली-भाँति देखकर उसे आपीस का स्थान देते थे। किंतु इस पूज्यपद पर कोई गाय पच्चीस वर्षों से अधिक न रहने पाती थी। अगर कोई इस अवस्था को पहुँच जाती थी, तो पुजारीगण उसे एक पवित्र जल-स्रोत में मग्न कर देते थे और उसकी जगह कोई दूसरी गाय तलाश कर लाते थे। यदि आपीस पच्चीस वर्षों के पहले मर जाती थी तो उसकी लाश में मसाला लगाकर कब्र में गाड़ देते थे। जिस समय तिब नगर मिस्र देश का साम्राज्य-स्थान हो गया तो उस नगर का देवता 'आमने' अन्य सब देवताओं से श्रद्धेय माना जाने लगा। वह अनादि, अनंत और सर्वशक्तिमान समझा जाता था। वह संसार की सृष्टि करने वाला सब बापों

का बाप और सब माताओं की माता खयाल किया जाता था। लोग इन शब्दों में उसकी स्तुति करते थे –

‘तू जाग, ओ आकाश की दोनों सीमाओं के मालिक, ओ चमकने-दमकने वाले देव, तू आकाशों में भ्रमण करने वाला है, तेरे शत्रुओं का सर्वनाश हो। तू पापियों को निर्वासित कर देता है। तूने नास्तिकों की वीरता और पराक्रम को धूल में मिला दिया है। तू सबल है, नास्तिक निर्बल है, तू ऊँचा है और नास्तिक नीचा है, तू सशक्त और तेरा शत्रु अशक्त है। ओ जीवों के आधार, तू हमारे बादशाह को चिरंजीवी बना, उसको अन्न और जल से परिपूरित कर, उसके बालों के लिए सुगंधि प्रदान कर। संसार तेरे प्रकाश से ज्योतिर्मय है। तू वह है जिसके परों से बिजली पैदा होती है, तू वह सिंह जीव है जिसकी गरज शत्रुओं को भयभीत कर देती है, तू वह पुत्र है जो नित्य जन्म लेता है, तू वह वृद्ध है जो अमर है। तू उस स्थान का स्वामी है, जहाँ तक कोई नहीं पहुँच सकता।’

समस्त मिस्र-निवासियों का विश्वास था कि जब कोई प्राणी मर जाता है तो उसमे कोई अंश जीवित रहता है। इस अंश को वह आत्मा कहते थे। आत्मा का आकार शरीर के समान है और अंत:स्वरूप विचार के समान है। वह अदृश्य है, उसे स्पर्श करना असंभव है। उनका यह अनुमान था कि

मरते समय जीव मुँह से निकलता है। उनके मतानुसार यह जीवन अपने शरीर पर अवलंबित रहता है। अगर काया सुरक्षित न रखी जाएँ तो जीव इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मृतक की सबसे बड़ी सेवा और उसके जीव के साथ सबसे बड़ा उपकार यह है कि शव सड़ने-गलने से बचाया जाएँ। इसलिए मसाले लगाने की प्रथा पड़ गई थी। हिरोडोटस ने मसाले लगाने की प्रथा का सविस्तार वर्णन किया है। वह लिखता है कि मिस्र के प्रत्येक नगर में कुछ लोग ऐसे रहते हैं जो मसाले लगाने का व्यवसाय करते हैं। जब मृतक का वारिस शव को मसाला लगाने वाले के पास ले जाता है तो वह उसे लकड़ी के नमूने दिखाता है। यह नमूने तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। हर नमूने का मूल्य उसकी हैसियत के अनुसार होता है। जब मजूरी तय हो जाती है तो वारिस लाश को मसाला लगाने वाले को सौंपकर घर चला जाता है।

उत्तम श्रेणी का मसाला लगाने के लिए पहले लाश के सिर का भेजा निकालते थे, इस तरह कि कोई अर्क सिर में पहुँचाकर उसमे भेजे को हल करते थे, फिर एक आंकड़ा नाक के नथनों में डालकर भेजे को बाहर निकालते थे। तब लाश की पसली पीटकर आंतें बाहर निकाल लेते थे और शराब से धोकर अंतडी में सुगंधित औषधियाँ भर देते थे। इसके पश्चात् लाश को सत्तर दिन खारे नमक में रखते थे, फिर उसको धोते थे और गोंद

लगाए हुए कपड़े की पट्टियाँ उस पर लपेटते थे। मसाला लगा चुकने के बाद लाश वारिस को दे दी जाती थी। वह लाश के आकार का एक खाना बनवाकर लाश को उसमे रख देता था और वह दीवार के सहारे से खड़ा कर दिया जाता था।

मध्यम श्रेणी के मसाले की विधि यह थी कि एक प्रकार का गोंद नली द्वारा मुर्दे के पेट में पहुँचाते थे और पेट को फाडे और आंत को निकाले बिना ही छेद को बन्द कर देते थे, जिससे गोंद बाहर न निकल सके। फिर श्व को सत्तर दिन तक खारे नमक में रखते थे। तब नमक में से उसे निकालकर गोंद का पानी बाहर निकाल देते थे। उस पानी के साथ अंदर का मल भी निकल जाता था। खार में रहने के कारण मांस गल जाता था और लाश में हड्डी और चमड़े के सिवाय और कुछ बाकी न बचता था।

निकृष्ट श्रेणी के मसाले की विधि इससे भी सरल थी। लाश के अंदर गोंद पहुँचाकर उसे खारे नमक में रख देते थे। गरीब लोग प्राय: इसी तरह के मसाले लगवाते थे।

मिस्र के कब्रिस्तान में ऐसी लाशें बहुत-सी मिलती हैं और योरोप के लोग ऐसी हजारों लाशें खोद ले गए हैं। वहाँ के प्रसिद्ध अजाएँबघरों में मसाले लगी हुई लाशें मौजूद हैं।

प्राचीन मिस्र-निवासियों का विश्वास था कि जीव को भी प्राणियों की भाँति भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। गरीब लोग तो मसाले लगी लाशों को बालू में गाड देते थे लेकिन अमीरों में उसके लिए अलग मकान बनवाने की प्रथा थी। यह मकान एक विस्तृत गृह या कम-से-कम एक कमरे के बराबर होता था। आदिकाल के बादशाहों के समय में यह शव-शाला मीनार के सूरत की बनवाई जाती थी। मंफीस नगर के समीप एक शहर के बराबर भूमि शव-शालाओं से भरी हुई है। कोई-कोई मीनार पंक्तियों में बनाए गए हैं, जैसे गहमी में रहने के घर बने होते हैं। बहुत ऊँचे मीनारों में बादशाहों को और उनसे छोटे मीनारों में अमीरों को दफन करते थे क्योंकि मीनारों के बनाने में लागत बहुत पड़ती थी। कब्र के लिए रेत के नीचे या पत्थर में तहखाना और उसके सामने एक छोटा-सा नमाजखाना, जो बाहर की तरफ खुलता था, बनाते थे। नमाजखाने में प्रवेश करने पर पिछली दीवार में एक बड़ी शिला दिखाई देती थी। उसके नीचे एक छोटी मेज होती थी जिस पर पूजादि की सामग्री रखते थे। केवल यह नमाजखाना ही कब्र का वह भाग था जहाँ आदमी जा सकता था। शेष भाग मृतक के लिए ही होता था किसी को अंदर जाकर मृतात्मा की शांति में विष्न डालने का अधिकार न था। इसीलिए कब्र का दरवाजा न बनाते थे। नमाजखाने के पीछे एक दालान होता था। वहाँ मृतक की मूर्तियाँ रखी जाती थीं | कभी-कभी एक मुर्दे के

लिए बीस से अधिक मूर्तियां बनाई जाती थीं। इसका अभिप्राय यह था कि अगर मसालेदार शव नष्ट को जाएँ तो उसकी जगह मूर्ति रख दी जाएँ। नमाजखाने के एक कोने में एक कुंआ पत्थर की चुनाई से बनाया जाता था। कुएँ के नीचे तक एक छोटा-सा रास्ता बना होता था, वहाँ पत्थरों की कंदरा बनाई जाती थी। यह मृतक का शयनागार था। उसके मध्य में सफेद या काले पत्थर की वेदी पर पड़ा हुआ मुर्दा अनंत निद्रा में मग्न रहता था। उसके निकट बड़े-बड़े बर्तन पानी से भरकर और गेहूँ तथा मांस रख देते थे। इसके बाद उस रास्ते को बन्द करके कुएँ को पत्थरों से पाटकर बन्द कर देते थे। फिर कोई मनुष्य अंदर न जा सकता था। वह कुंए आज भी वैसे ही हैं जैसे चार-पाँच हजार वर्ष पहले थे। लाशें भी उसी सुरक्षित दशा में थीं। यहाँ तक कि बालों, दांतों और नखों में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। मृतक के घर वाले जब उसके लिए फिर खाने-पीने की चीजें पहुँचाना चाहते थे तो अंदर न जा सकने के कारण खाद्य पदार्थों को नमाजखाने में रख देते थे। कभी-कभी मुर आदि भी जलाते थे, ताकि उनकी सुगंध मृतक को नाक में पहुँच जाएँ।

कुछ काल के बाद लोगों का यह विचार हो गया कि मृतक के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता नहीं है, वरन् ईश्वर से विनय करनी चाहिए कि वह उन्हें क्षुधा की पीड़ा से बचाए। इसलिए नमाजखाने को शिला पर यह

प्रार्थना लिख देते थे – 'हम उजेरियस को सिजदा करते हैं और उससे विनय करते हैं कि वह उन तमाम चीजों को जिनका सेवन वह आप करता है – अर्थात् रोटी, मांस, दूध, शराब, वस्त्र सुगंधि – मृतक को भी प्रदान करे।'

कुछ समय के बाद मिस्र-निवासियों को यह विश्वास हो गया है कि जीवन को केवल भोज्य पदार्थों के चित्रों ही से संतोष हो जाता है। उनके लिए रोटी का चित्र बना देना काफी है। अतएव कालांतर में नमाजखाने की दीवारें चित्रांकित हो गई। लोग जिस चीज को मृतक तक पहुँचाना चाहते थे। उसका चित्र दीवारों पर अंकित कर देते थे। जो चित्र वहाँ बने हुए हैं, उसमे किसानों के चित्र भी हैं जो जमीन को जोत और बो रहे हैं। कोई खलिहान से अनाज उठा रहा है। दर्जी कपड़ा और मोची जूते सी रहे हैं। इसी भांति बढ़ई, राज, नाचने-गाने वाले और बाजीगरों की तस्वीरें भी हैं। इसके अतिरिक्त मृतक की भिन्नभिन्न जीवित अवस्थाएँ भी अंकित की गई हैं। कहीं-कहीं वह अपनी स्त्री के साथ बैठा हुआ भोजन कर रहा है, या जंगल में शिकार खेल रहा है, या झीलों के तट पर मछलियों का शिकार खेलने में व्यस्त है।

बहुत काल तक मिस्र वालों की यह धारणा थी कि जीव उसी कब्र में रहता है, जहाँ उसकी देह छोड़ दी जाती है। लेकिन कुछ समय के बाद उनका यह मत परिवर्तित हो गया और यह कल्पना की जाने लगी कि समस्त जीव भूमि के नीचे उस स्थान पर एकत्र होते हैं जहाँ सूर्य अस्त होता है। वहाँ उजरियस राज्य करता है। वह जीवों की कर्मानुसार परीक्षा करने के उपरांत उन्हें वहाँ निवास करने की आज्ञा देता है। लोगों का कथन था कि जब जीव शरीर से निकलत है तो एक नौका में बैठकर भूमि के नीचे जल-सागर में भ्रमण करता है। वहाँ उसे बड़े भयंकर दैत्य दिखाई देते हैं जो उसे भक्षण करना चाहते हैं लेकिन जीवों के रक्षक देवगण उनकी सहायता करते हैं और उसे न्यायालय तक पहुँचा देते हैं। वहाँ उजेरियस न्यायासन पर विराजमान होता है। उसके बयालीस सहायक मंत्री होते हैं जो इस बात का अनुसंधान करते हैं कि जीव ने बयालीस कुकर्मों में से किसी का आचरण तो नहीं किया है। जीवों को उनके कर्मानुसार ही दंड या फल मिलता है। पापी जीवों को कोड़े लगाए जाते हैं, वे सांप, बिच्छू आदि से कटवाए जाते हैं। पुण्यात्माएँ देवताओं का सहवास करती हुई गूलर के वृक्षों की छांह में आनंदपूर्वक अनंत काल तक विश्राम करती हैं। वह उजेरियस के साथ दस्तरखान पर बैठती और उन पदार्थों का भोजन करती हैं जो एक देवी उनके लिए बनाती है और उत्तम प्रकार के इत्र सुंघती हैं।

मिस्र वालों का यह अभीष्ट था कि जब जीव उजेरियस के न्याय-सिंहासन के सम्मुख खड़ा हो तो वह अपने को निरपराध सिद्ध कर सके। इसलिए एक छोटी-सी पुस्तक ताबूत के अंदर रख देते थे। उस पुस्तक में वह उत्तर लिखे जाते थे जो उजेरियस और उसके सहायकों को देने चाहिए। उदाहरणतः अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी चाहिए –

'मैंने कभी कपट-व्यवहार नहीं किया, किसी को धोखा नहीं दिया। मैंने किसी अनाथ विधवा को नहीं सताया, किसी विभाग में झूठ नहीं बोला। अपने कर्त्तव्य-पालन में कभी आलस्य नहीं किया। किसी ऐसी वस्तु को नहीं छुआ जिसे देवताओं ने निषिद्ध ठहराया हो, किसी की हत्या नहीं की, मन्दिरों की धनमूर्ति और देवताओं के भोग-प्रसाद की ओर से कभी गाफिल नहीं रहा, मृतकों को भोजन और जल पहुँचाता रहा, अनाज तौलने में कभी कमी नहीं की, किसी की जमीन बेईमानी से नहीं ली, तोल और भाव के बिना नहीं बेचा, देव-समर्पित पशुओं को नहीं मारा, पूज्य पक्षियों को जाल में नहीं पकड़ा, पवित्र मछलियों का शिकार नहीं किया, किसी नहर को नष्ट नहीं किया और न उसे काटा। मैं निर्दोष हूँ। बल्कि मैंने भूखों को भोजन दिया है, प्यासों को पानी दिया है, नंगों को कपड़े पहनाए हैं, यात्रियों को नौका से सहायता दी हैं, देवताओं की बेदी पर भेंट चढ़ाई है, और मुर्दा की

भोजनादि से सेवा की हैं। ऐ काजियो ! मुझे मुक्त करो और खुदा के सामने मेरी बुराई मत करो क्योंकि मेरा मुख और दोनों हाथ पवित्र हैं।'

यह उत्तर बहुधा कब्र की दीवारों पर, यहाँ तक कि मृतक के मुँह पर भी लिख दिए जाते थे।

['माधुरी', दिसंबर 1923]

मनुष्यता का अकाल

हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में इस वक्त मुसलमान कौम के बड़े लोगों ने बार-बार की उत्तेजना के बावजूद जो अच्छी रविश अख्तियार की है, और जिस सूझ-बूझ और दूरंदेशी का सबूत दिया है उस पर हिन्दुओं को शर्मिंदा होना चाहिए। अब तक उन्हें यह दावा था कि स्वराज्य के लिए हम जितनी कुर्बानियाँ कर सकते हैं, उतनी मुस्लिम संप्रदाय नहीं करता। वह हिन्दुस्तान में रहकर, हिन्दुस्तान का दाना पानी खाकर अरब और अजम के सपने देखा करता है। उसे स्वराज्य की उतनी फिक्र नहीं है जितनी पैन-इसलाम की। एक बार जब मौलाना शौकत अली ने किसी खिलाफत के जलसे में कहा था कि अगर मुसलमान को किसी कौमी काम के लिए एक रुपया देना मंजूर हो, तो वह चौदह आने खिलाफत को दे और दो आने कांग्रेस को, इस कौल को हिन्दू अखबारों ने बड़े निष्ठुर ढंग से बहुत ज्यादा महत्त्व दिया और उसने अपनी बात को प्रमाण के रूप में पेश किया।

इस कौल का तकाजा तो यह था कि हिन्दू महाशय अपने दिल में लज्जित होते कि एक मुसलमान को जो अपना सब कुछ भारतमाता की नजर कर

चुका हो, इस तरह दोनों में भेद करने की जरूरत पड़ी क्योंकि जाहिर है कि अगर हिन्दुओं ने खिलाफत के मसले को महात्मा गांधी की व्यापक दृष्टि से देखा होता तो मौलाना साहब को यह बात कहने का कोई मौका ही न था। मगर सच्चाई यह है कि हिन्दुओं ने कभी खिलाफत के महत्त्व को ही नहीं समझा और न समझने की कोशिश की, बल्कि उसको संदेह की दृष्टि से देखते रहे। मगर अब जिसे न्याय की दृष्टि मिली हुई हो, वह चाहे तो देख सकता है कि वही व्यक्ति हिन्दू-मुस्लिम एकता को, जा दूसरे शब्दों में स्वराज्य है, कितना महत्त्वपूर्ण समझता है और उसके लिए कितनी बड़ी कुर्बानियाँ करने के लिए तैयार है। हिन्दू कौम कभी अपनी राजनीतिक उदारता के लिए मशहूर नहीं रही और इस मौके पर तो उसने जितनी संकीर्णता का परिचय दिया है, उससे मजबूरन इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि इस कौम का राजनीतिक दीवाला हो गया वर्ना कोई वजह न थी कि सारी हिन्दू कौम सामूहिक रूप से कुछ थोड़े से उन्मादग्रस्त तथाकथित देशभक्तों की प्रेरणा से इस तरह पागल हो जाती। हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओं में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू-संगठन और शुद्धि की इतनी गर्मबाजारी न होती और इन हंगामों में काफी कमी हो जाती जो इस वैमनस्य के कारण दिखाई पड़ते हैं। मगर अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी समग्र रूप से इन

आंदोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमे शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रवखा। इतना ही नहीं, एक भी जिम्मेदार कांग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आंदोलनों के खिलाफ आवाज बुलंद करने का साहस नहीं किया। पंडित मोतीलाल नेहरू, पं जवाहरलाल नेहरू, लाला भगवानदास, लाला श्रीप्रकाश इन आदमियों में, जिनसे ज्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, मगर इन सभी लोगों ने एक रोज अपने विरोध और अपनी आशंका को व्यक्त करके दूसरे रोज उसका खंडन कर दिया और डंके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और संगठन के बारे में हमने जो खयाल जाहिर किया कि वह गलतफहमियों पर आधारित था। जब ऐसे-ऐसे लोग दबाव में आ जाएँ तो फिर इंसाफ की उम्मीद किससे की जाएँ। अगर मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली की तरह इन सज्ञनों ने भी अपनी कौम को इन आंदोलनों के हानिकर और सांघातिक परिणाम बतलाए होते और उसके खिलाफ बाकायदा व्यवस्थित ढंग से प्रयत्न करते तो यकीनन आज हिन्दू-मुस्लिम संबंध इतने खिंचे हुए न होते। मगर जो राजनैतिक दूरदर्शिता सदियों से खत्म हो चुकी हो उससे और क्या हो सकता है। एक स्त्री ने सारे योरोप को दांतों तले उंगली दबाने पर मजबूर कर दिया। हिन्दुओं में ऐसे व्यक्ति पैदा करने के लिए अभी सदियाँ लगेंगी। आज कौन-कौन हिन्दू है जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए

जी-जान से काम कर रहा हो, जो उसे हिन्दोस्तान को सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या समझता हो, जो स्वराज्य के लिए एकता की बुनियादी शर्त समझता हो! कौम का यह दर्द, यह टीस, यह तड़प आज हिन्दुओं में कहीं दिखाई नहीं देती।

दस-पाँच हजार मलकानों को शुद्ध करके लोग फूले नहीं समाते, मानों अपने लक्ष्य पर पहुँच गए, अब स्वराज्य हासिल हो गया | हमें याद नहीं आता कि आज तक किसी हिन्दू ने वैसे पवित्र, ऊँचे, दैवी प्रेरणा के भाव व्यक्त किए हों जो इस रामलखन की जोड़ी ने जेल से निकलते ही रो-रोकर भोगी हुई आँखों से निकलती हुई दर्द की एक आवाज की तरह व्यक्त किए हैं। यह है वह राष्ट्रीय भावना जो राष्ट्रों के बेड़े पार करती है, उनकी नैया किनारे लगती है। यह कौमी मेल-जोल और एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का चमत्कार है। हमारे पास वह शब्द नहीं है जो उस कृतज्ञता को ज्ञापित कर सके, जो हर एक देशभक्त हिन्दू के दिल में इन आदरणीय व्यक्तियों के लिए उबल रहा है।

हमको यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि इन दोनों संप्रदायों में कशमकश और संदेह और घृणा की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर अक्सर ज्यादतियाँ

हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौका हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त-से-सख्त जुल्म किए। हम यह भी मानते हैं कि मौजूदा हालात में अजान और कुर्बानी के मौकों पर मुसलमानों की तरफ से ज्यादतियां होती हैं और दंगों में भी अक्सर मुसलमानों ही का पलड़ा भारी रहता हैं। ज्यादातर मुसलमान अब भी 'मेरे दादा सुल्तान थे' नारे लगाता है और हिन्दुओं पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है। तबलीग के मामले में ज्यादती मुसलमानों ने की और हिन्दुओं की रोज-ब-रोज घटती हुई संख्या का कारण भी किसी हद तक वही है। मगर इन सारे कारणों और दलीलों और घटनाओं के नजर के सामने रखते हुए हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं को इससे कहीं ज्यादा राजनीतिक सहिष्णुता से काम लेने की जरूरत है। इतिहास से उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं। दुनिया के इतिहास में इसकी मिसालें न मिलती हों, ऐसी बात नहीं है और अगर न भी मिलती हों तो कोई वजह नहीं कि हम इसे तावीज की तरह अपने गले में लटकाए रहें। हिन्दुओं के त्योहारों और जुलूसों के मौके पर अक्सर मुसलमानों की तरफ से यह तकाजा होता है कि मस्जिदों के सामने नमाज के मौके पर बाजा और शादियाने न बजाये जायें। यह बहुत ही स्वाभाविक माँग है। शोर-

गुल से निश्चय ही उपासना में विध्न पड़ता है और अगर मुसलमान इस शोर-गुल को बन्द करने पर जोर देते हैं तो हिन्दुओं को चाहिए कि बह उनकी दिलजोई करें। यह तो हिन्दुओं का उनके आग्रह के बिना भी, भगवान के प्रति सम्मान की दृष्टि से ही कर्त्तव्य है, न कि जब कोई उन्हें उनका कर्त्तव्य याद दिलाए तो उससे लड़ने के लिए तैयार हो जाएँ। हिन्दू कहेंगे कि हमारे मंदिरों के सामने से मुसलमानों के जुलूस भी बाजे बजाते न निकलें। ऊपरी दृष्टि से तो यह बात बिल्कुल न्याय की मालूम होती है लेकिन व्यवहार में इसका यह परिणाम होना संभव है कि शहरों में बाजे कतई बन्द कर दिए जाएँ क्योंकि मंदिरों की संख्या इतनी अधिक है कि किन्हीं-किन्हीं शहरों में तो हर एक घर के बाद मंदिर दिखाई पड़ता है। फिर हिन्दुओं की संध्या-हवन तो एकांत में होती है लेकिन देवताओं की पूजा अक्सर घंटे और घड़ियाल के साथ हुआ करती है। तो जब वह उपासना के लिए स्वयं भी मौन आवश्यक नहीं समझते तो किस मुँह से मुसलमानों से इस चीज की माँग कर सकते हैं। तो भी हम यह कह देना उचित समझते हैं कि जब उपासना एक ही परमात्मा की है और केवल उसके बाह्य रूप में भेद है तो हिन्दू लोग क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे। अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त

की जरूरत नहीं। अच्छा काम करने वाले को सब अच्छा कहते हैं। दुनियावी मामलों में दबने से आबरू में बट्टा लगता है, दीन-धर्म के मामले में दबने से नहीं। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हम किसी के धर्म का आदर करें और वह हमारे धर्म का अपमान करे। थोड़ी देर के लिए यह भी सुन लें। अगर मुसलमानों का आम गैर-जिम्मेदार तबका हमारे बाजों को मस्जिदों के सामने बन्द होते देखकर तालियाँ बजाएगा और बड़ी शान के साथ कहेगा 'दब गए, दब गए' तो इतना सुन लेने में क्या बुराई है। निश्चय ही मुसलिम लीडरान इस हालत को ज्यादा अर्से तक कायम न रहने देंगे। यह किसी मजहब के लिए शान की बात नहीं है कि वह दूसरों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाए। गौकशी के मामले में हिन्दुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख्तियार किया है। हमको अधिकार हैं कि जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें, लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, खामखाह दूसरों से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खाई जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे? यह किसी खूं-खार मजहब के लिए भी शान की बात नहीं हो सकती कि वह सारी दुनिया से दुश्मनी करना सिखाए, न कि हिन्दू जैसे दार्शनिक, व्यापक और सुसंस्कृत के लिए जिसका सबसे पवित्र सिद्धांत हो 'अहिंसा परमो धर्मः' अगर हिन्दुओं को

अभी यह जानना बाकी है कि इंसान किसी हैवान से कहीं ज्यादा पवित्र प्राणी है, चाहे वह गोपाल की गाय हो या ईसा का गधा, तो उन्होंने अभी सभ्यता की वर्णमाला भी नहीं समझी। हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा उसका और कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन गोरक्षा का सारे हो-हल्ले के बावजूद हिन्दुओं ने गोरक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं किया जिससे उनके दावे का व्यावहारिक प्रमाण मिल सकता। रक्षणी सभाएँ कायम करके धार्मिक झगड़े पैदा करना भी गोरक्षा नहीं है। इस सूबे में अधिकांश जमींदार हिन्दू हैं। उन्होंने गोचर जमीन का कोई इंतजाम किया या जहाँ पहले से इंतजाम था वहाँ उसे खत्म नहीं कर दिया? जिस मुल्क में तंबाकू और चाय और नील और रबर की खेती के लिए काफी जमीन हो वहाँ मौजों में गोचार का न होना आर्थिक खींच-तान की दलील हो सकती है, गोरक्षा की दलील हरगिज नहीं हो सकती। जब हम देखते हैं कि बैलों के लिए चारा मयस्सर नहीं तो गायों के लिए (वह भी जब बुड्ढी, मरियल, कमजोर हो जाएँ) चारा इकट्ठा करते की दिक्कत का हाल किसी किसान से पूछिए। वह गायों को भूख से एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरने के बदले उन्हें कसाई के हवाले कर देना ज्यादा अच्छा समझता है।

रहा तबलीग का मसला। इसमें दो रायें नहीं हो सकती, क्योंकि हर मजहब को इसका काफी अख्तियार है बशर्ते कि उद्देश्य सच्चे अर्थों में धर्म का संस्कार और सिद्धांतों का प्रचार हो। जब उसमे कोई राजनीतिक उद्देश्य छिपा होता है तो वह फौरन एक सियासी मामले की सूरत अख्तियार कर लेता है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गई है जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं। जिस दिन यह आपस की होड दूसरे से आगे बढ़ जाने का खयाल धर्म से दूर हो जाएगा, उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे।

गरज कि जिन कारणों का ऊपर जिक्र हुआ उनमें एक भी ऐसा नहीं है जो हिन्दुओं के लिए 'हमारी जान खतरे में है' की हांक लगाने को उचित ठहरा सके। इस खास मौके पर हिन्दू संगठन की पुकार ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को जो ठेस पहुँचाई है, उसका बुरा असर अगर दूर भी होगा तो बहुत दिनों में होगा। हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होंगे और न होने चाहिए। दोनों की अलग-अलग सूरतें बनी रहनी चाहिए और बनी रहेंगी। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि उनके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो। आमतौर पर हमारे नेता वह सज्जन

होते हैं जो अपने संप्रदाय की मुसीबतों और शिकायतों का हमेशा बहुत सरगर्मी से रोना रोया करते हैं। वह अपने संप्रदाय के लोगों की दृष्टि में लोकप्रिय बनने के लिए उसकी भावनाओं को उकसाते रहते हैं और समझौते के मुकाबिले में, जो उनके उस विलाप को बन्द कर देगा, झगड़े को कायम रखना ज्यादा जरूरी समझते हैं। हिन्दुओं में इस वक्त सहिष्णु नेताओं का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गंभीरता से समस्याओं पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचाने वालों के हिस्से में आ जाती है जो अपनी ज़ोरदार आवाज से जनता की गंदी भावनाओं को उभाडकर उन पर अपना अधिकार जमा लिया करते हैं। वह कौम को दरगुजर करना नहीं सिखाता, लड़ना सिखाता है, उसका फायदा इसी में है। कोई आदमी ऐसी उल्टी बुद्धि का नहीं हो सकता कि उसे इस नाजुक मौके पर दोनों संप्रदायों की आपसी खींच-तान के नतीजे न दिखाई दें और अगर है तो हमें उसकी नीयत में संदेह है। इस संदेह की पुष्टि इस कारण से और भी होती है कि इस आंदोलन के शुरू करने वाले और कार्यकर्ता अधिकतर वह लोग हैं जो राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने से कावा काटते रहते हैं या उसमे हिस्सा लेते भी हैं तो आबरू बचाए हुए वर्ना हिन्दू संगठन के बनारस में आयोजित जलसे में जमींदारों और राजाओं की इतनी बड़ी संख्या न दिखाई देती। जिधर देखिए राजे-महाराजे

और सेठ-महाजन ही नजर आते थे। उनके पीछे चलने वालों में अधिकतर वह लोग थे जिनका पुश्तैनी पेशा गुलामी है, जिन्हें शुरू से यह शिकायत हे कि मुसलमान सरकारी नौकरियाँ हड़प कर जाते हैं और हमारा हाल पूछने वाला कोई नहीं है, जिनके लिए एक मुसलमान सब-इंसपेक्टर या कुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इंकलाब या तुर्की की फ़तह से ज्यादा बड़ी घटना है।

हमारे रईसों ने जन-आंदोलनों की तरफ़ अब तक जो रवैया अख्तियार किया उसने उन्हें एक नापने का आला बना दिया है जिससे हुक्काम के हथकंडों का साफ साफ पता चलता है। हिन्दू-मुस्लिम एकता हुक्काम की नजरों में कांटे की तरह खटकती थी, इसलिए जब धनी-मानी लोग किसी ऐसे आंदोलन का उत्साह से स्वागत करें जिससे एकता को नुकसान पहुँचने का यकीन हो तो जाहिर है कि उनका उसमे शरीक हाना उनके अपने मन की बात नहीं, बल्कि किसी की प्रेरणा से होमें वाली बात है। वन जिन लोगों ने सख्त कानून पास करने में गवर्नमेंट का साथ दिया वह हिन्दू संगठन के जलसे में इस जोर-शोर से हरगिज शरीक न होते। मगर यहाँ तो यकीन था कि हमारी कोशिशें ऊपर वालों की दुनिया में कब्र की निगाहों से देखी जा रही हैं। तो फिर क्यों न हाथों से पुण्य लूटें, कौम रहे या मिटे, इसकी क्या फिक्र। यह एक सच्ची बात है कि हुक्काम ने भी हिन्दू संगठन के

आंदोलन से हमदर्दी दिखलाई। इसलिए रईसों का उसमे जोर-शोर से बड़ी संख्या में शरीक होना जरूरी था। उनके योगदान पर खुशी जाहिर करना घटनाओं से अपनी नादानी जाहिर करना है।

इन धार्मिक आवेशों को भड़काने का इल्जाम सबसे ज्यादा कौंसिलों की माँग करने वालों की गर्दनों पर है। चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान। कांग्रेस ने लिबरल नेताओं का पर्दाफ़ाश कर दिया था। रईस और ताल्लेदार भी जनता की नजरों से गिर चुके थे। वह हजरात जिन्होंने देशभक्ति के अपने तमाम दावों के बावजूद वकालत या सरकारी नौकरी न छोड़ी थी, पब्लिक की निगाहों में अपनी प्रतिष्ठा खो बैठे थे। इस बहुसंख्यक जमात के लिए अपनी खोई हुई आबरू हासिल करने का, अपनी साख जमाने का, अपनी कौमपरस्ती का सबूत देने का, और ऐसे मौके पर जब कौंसिलों का चुनाव पास था, इससे बेहतर और कौन मौका हाथ आ सकता था? 'हिन्दू कौम खतरे में है' का नारा मारकर वह लोग हिन्दुओं के हितैषी बनना चाहते थे। मुसलिम जमात में भी उनकी तादाद कम न थी। धार्मिक पक्षपातों को भड़काना शुरू किया गया। राय साहब और खान साहब अपने गुप्त स्थानों से निकल पड़े और जनता की दोस्ती का दम भरने लगे। एक तरफ से आवाज आई, हिन्दुओं को खिलाफत के आंदोलन से सावधान रहना चाहिए क्योंकि यह उनकी हस्ती को मिटा देगा। दूसरी तरफ नारए-तकबीर

बुलंद हुआ, हिन्दू हम पर हावी होते जा रहे हैं, स्वराज्य से दूर रहना हमारा कर्त्तव्य है। कहीं किसी म्युनिसिपैलटी ने कानूनन गौकशी बन्द की। बावेला मच गया। शोर मचाने बालों की कमी न थी। जेल जाना था, तब शांतिपूर्वक अपने-अपने कोनों में दुबके बैठे थे। अब जेल का डर नहीं, इज़्ज़त बढ़ने की उम्मीद थी। फिर क्यों चुप रहें। सवाल-जवाब शुरू हुआ। रोज-ब-रोज लहजा सख्त होता गया। इधर 'लीडर' था तो उधर ढेरों उर्दू अखबार ऐंग्लो-इंडियन अफसरों के निर्देशानुसार मैदान में आ खड़े हुए। युद्ध की घोषणा हो गई। जो इस हंगामे को ठंडा कर सकते थे वह जेल में थे। उनकी जगह लिबरल हजरात ने ली। नतीजा जो कुछ हुआ, जाहिर है। वह कौम के दोस्त साबित हो गए। सरकार से भी वाहवाही मिली। फूट का बीज बोया गया, कांग्रेस की जड़ खोदने के लिए। उसकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलाने के लिए। उसे पब्लिक की नजरों में जलील करने के लिए। और चूंकि कांग्रेस का एक हिस्सा खुद ही लिबरल सज्जनों के से स्वार्थ वाला था, उसने भी इस चिनगारी को भड़काया कि कहीं हम अपना भरम न खो बैठें। कांग्रेस के लीडरों ने भी अपराधियों जैसे मौन से काम लिया। यह है उस खींचतान का भेद जो इस वक्त कौम का सबसे नाजुक मसला बना हुआ है। यह सारी आग लगाने की कोशिशें या तो महज कौंसिलों में वोट हासिल करने के लिए की गई या सरकार को खुश करने के लिए। बस! लेकिन इसका असर

लक्ष्य-सिद्धि के बाद बरसों तक कायम रहेगा। सितम यह है कि अब भी हिन्दू कौम के अलमबरदार एकता के महत्त्व को समझने में असमर्थ हैं। चुनांचे कौंसिलों में जाने वालों की कमी नहीं है, हिन्दू संगठन तो ताकत पहुँचाने वालों की कमी नहीं है, ऐतिहासिक विद्वेषों के मुर्दे उखाडने वालों की कमी नहीं है – कमी है तो एकता के लिए अपने को समर्पित कर देने वालों की, एकता के लिए मिट जाने वालों की। मुसलमानों में अली बिरादरान, मौलाना अबुलकलाम आजाद, डॉक्टर किचलू एकता के लिए अपने को समर्पित कर चुके हैं। हिन्दुओं में यह कतार खाली है। कितने शर्म की बात है कि जिस एकता को महात्मा गांधी ने स्वराज्य की पहली सीढ़ी करार दिया हो उसके लिए एक प्रभावशाली हिन्दू बुजुर्ग पूरी तरह तैयार नहीं हैं। अगर यही रफ्तार है तो स्वराज्य मिल चुका और अगर हलवाई की दुकान परदादे का फातिहा पढ़ा जाना मुमकिन हो तो हमें स्वराज्य के नाम पर फातिहा पढ़ लेना चाहिए।

[उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', फरवरी, 1924]

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके कहने की जरूरत नहीं. हम सभी जानते हैं और सभी स्वीकार करते हैं। पूज्य महात्मा गाँधी ने सूत्र रूप में कह दिया है कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य ही स्वराज्य है, और इस सत्य को व्यक्त करने के लिए इससे उत्तम शब्द नहीं मिल सकते। जैसा ही यह Himalayan (महान्) सत्य हैं, वैसा ही Himalayan (महान्) यह वाक्य है। अतएव हम सभी प्राणियों का, जिन्हें देश से कुछ अनुराग हैं, कर्त्तव्य है कि यथाशक्ति कोई ऐसा काम न कर न कोई ऐसी बात कहें, जिससे ऐक्य में बाधा पड़ने का भय हो। काश, हम इतने स्वार्थ-परायण, न होते तो आज यह प्रश्न इतना जटिल, इतना दुर्गम, इतना असाध्य न होता। किसी को अपने पत्र के ग्राहकों की संख्या बढ़ानी हैं, किसी को अपने लड़के लिए नौकरी तलाश करनी हैं, किसी को नाम ही की धुन हैं, कोई गौरांग प्रभुओं की नजरों में अपना रसूख जमाना चाहता है, कोई व्यावसायिक उन्नति के लिए यह होला निकालता है। सब स्वार्थ ही की माया। हम अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय उद्धार के इस महान् यज्ञ में विघ्न डाल रहे हैं। जो

नामधारी महान् पुरुष जरा-जरा सी बात पर, जरा-जरा से झगड़े पर अपनी जाति के प्रवर्तक बन जाते हैं, वह यदि शांत चित्त से विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि इस वैमनस्य का कितना इलजाम उनके सिर है। इससे तो कहीं अच्छा होता कि वह सज्जन थोड़ी देर के लिए जाति सेवा से मुँह फेर लेते, थोड़ी देर के लिए जाति को जहन्नुम में चले जाने देते, भूल जाते कि हमारी जाति का ह्रास हो रहा है। अगर कोई हिन्दू हिन्दुओं को समझता है तो वह जयचन्द और विभीषण कहा जाता है, कोई मुसलमान मुसलमानों को समझाता है तो काफिर और गद्दार कहा जाता है। चुन-चुनकर चोट करने वाली बातें कही जाती हैं और शाबाशी लूटी जाती है। महात्माजी ने इस विषय में अपने विचारों क जरूरत से ज्यादा तीक्ष्ण शब्दों में प्रकट किया तो बजाए इसके कि लोग उससे कुछ उपदेश ग्रहण करते, उन्हीं पर हमला करने लगे। यहाँ तक कि एक बूढ़े कवि महाशय ने, जो अनुप्रास का व्यवहार करने में बहुत सिद्धहस्त हैं, उनकी हजो भी कह डाल।। किसी ने सोचा कि महात्माजी ने कितना जलकर, कितने मानसिक कष्ट से व्यथित होकर यह अप्रिय सत्य कलम से निकाला है | महात्माजी हिन्दू हैं, और हिन्दुओं ही को समझाने का उन्हें अधिकार है। उसी भांति अली बिरादरान मुसलमान हैं और मुसलमानों को समझाने का उन्हीं को अधिकार है। पर आज एक तरफ महात्माजी पर बौछारें पड़ रही हैं, और दूसरी तरफ अली-

बंधुओं पर। अब वह शौकत अली नहीं रहे जो 'अंजुमन खुद्दाए काबा' के निर्माता थे। उक्त मौलाना ने बहुत ठीक कहा था कि इन झगड़ों से हम यह साबित कर रहे हैं कि हम गुलाम ही बने रहना चाहते हैं।

इस वैमनस्य के कारण धर्म की कितनी छीछालेदर हो रही है कि उसके खयाल ही से शर्म आती है। वह बुरी साइत थी, जब हिन्दुओं को शुद्धि की धुन सवार हुई। दस-पाँच हजार नौ-मुस्लिम संदिग्ध रूप से शुद्ध क्या हुए कि राष्ट्रीयता पर कुठाराघात, बल्कि वज्राघात हो गया। शुद्धि एक धार्मिक कार्य को अधार्मिक रीति से करने का अभिनय था। मुसलमान बराबर हिन्दुओं को शुद्ध करते चले आते हैं, उनकी तबलीग अविरल रूप से होती चली आती है, पर किसी को खबर भी नहीं होती कि कौन कब शुद्ध हो गया। हाँ, जब दसवें साल जनगणना होती है, तो ज्ञात होता है कि हमारे कितने आदमी काम आए। हिन्दुओं ने दस-पाँच हजार आदमियों को शुद्ध करने में तूफान बरपा कर दिया। केवल इसलिए कि यह काम करने का न यह तरीका था, न यह मौका। अब हमारे दोनों पक्षों के मनचले सज्जन अपने-अपने शिकार फँसाने में तल्लीन हैं, कोई भ्रष्ट मुसलमान किसी हिन्दू स्त्री के पीछे अपना धर्म-त्याग करने पर तैयार हो जाता है, तो उसका जुलूस निकलता है और उसका नाम सत्यव्रत रखा जाता है। हम दो-चार ऐसे महाशयों को जानते हैं जो मुसलमानों को शुद्ध करने के लिए स्त्री का

प्रलोभन देने में संकोच नहीं करते, और मुसलमान तो दाइए-इस्लाम का अनुसरण कर ही रहे हैं, विधवाओं पर खूब हाथ साफ किया जा रहा है और यह सब धार्मिक अनुराग से नहीं, बल्कि अपने प्रतिद्वंद्वी को नीचा दिखाने के लिए। और जैसा हमेशा से होता आता है इस मैदान में बाजी मुसलमानों के हाथ है। मुसलमानों में हिन्दुओं से कुछ अधिक गुंडापन होता है। इसका कारण तो बाबू भगवानदास जैसा तत्त्वान्वेषी ही निकाल सकता है, पर हमारा जहाँ तक खयाल है, हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा का आधिक्य और मुसलमानों में अविवाहित पुरुषों की कसरत ही गुंडापन के कमोबेश होने का मुख्य कारण है। जिस अवस्था में मुसलमान गुंडा होता है, उस अवस्था में हिन्दू तीन बच्चों का बाप हो जाता है, वह बेचारा क्या खाके गुंडापन करेगा? फिर हिन्दुस्तान के मुसलमान, विशेषकर वह जो गुंडे होते हैं, नौमुस्लिम हैं और नौमुस्लिम खानदानी मुसलमानों से कहीं ज्यादा उद्दंड हैं, उसी भाति जैसे कोई सनातनी हिन्दू आर्य समाज में प्रवेश करते ही एक नए जोश का अनुभव करने लगता है। अगर इसी तरह अपनी संख्या और अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए नोच-खसोट होती रही, तो फिर भारत का उद्धार हो चुका। मजा तो यह है कि शुद्धिबाजों के सिर में यह सौदा समाया हुआ है कि हम सारे हिन्दुस्तान के मुसलमानों-और मुसलमान ही नहीं, अन्य सभी धर्मावलम्बियों को भी शुद्ध कर लेंगे। इस

कुबुद्धि का निवारण भगवान् ही कर सकते हैं। इस द्वेष का परिणाम अगर मुसलमानों के लिए हानिकर है तो हिन्दुओं के लिए घातक हैं। हमारी संख्या अधिक है और स्वराज्य से लाभ भी हमारा ही अधिक होगा, और कुछ न सही तो राजनैतिक बुद्धि का तो आदेश मानना ही पड़ेगा। स्वराज्य का उद्देश्य है अपनी शिक्षा का, अपने धर्म का, अपनी सभ्यता का पुनरुज्जीवन और पुनःसंस्कार। इसके अतिरिक्त स्वराज्य और कुछ नहीं है मुसलमानों की सभ्यता की रक्षा करने के लिए मिस्र, टर्की, काबुल मौजूद हैं, हिन्दुओं की सभ्यता की रक्षा करने वाली कोई जाति नहीं। ऐसी दशा में यदि मुसलमान स्वराज्य-प्राप्ति में हिन्दुओं के सहायक हो रहे हैं तो यह भी हिन्दुओं के सौभाग्य की बात है, लेकिन हम उनके विश्वास की जरा भी कद्र न करके अभी से आने वाले स्वराज्य की बानगी दिखने पर आमादा हैं। अगर मुसलमानों की हमदर्दी हमारे हाथों से निकल जाती है तो यह किसका कसूर है? हमारी वर्तमान नीति ने कितनी ही विचारशील मुसलमानों को हमसे सशंक कर दिया और अब वे स्वराज्य के नाम से कांपते हैं। अगर अब भी कुछ मुसलमान सज्जन हमारा साथ दे रहे हैं तो यह महात्मा गांधी के विश्वास पर। सात करोड़ मुसलमान अपने को 23 करोड़ हिन्दुओं के हाथों में सौंप देते हैं, क्या यह छोटी बात है? वह हिन्दुओं के आधिक्य से भयभीत नहीं होते, इधर हम हैं कि मुसलमानों से चौंकते हैं

और यहाँ तक सोचने लगे हैं कि काबुल या टर्की हिन्दुस्तान पर हमला करेंगे तो मुसलमान उन लोगों के साथ तो जाएँगे। इस आत्मिक दुर्बलता की भी हद है! स्वराज के अंतर्गत मुसलमानों की स्थिति किसी चहेते बेटे या लाडली बेगम की न रहेगी। अंग्रेजों ने सदैव उन्हें हिन्दुओं पर तरजीह दी है। प्रत्येक अवसर पर अंग्रेजों ने मुसलमानों ही को आगे बढ़ाया है। क्या यह देखना कठिन है कि स्वराज्य-संग्राम में हिन्दुओं का साथ देकर मुसलमान आत्म-त्याग कर रहे हैं और हम अपनी दूरदर्शिता से उन्हें अपना शत्रु बनाए लेते हैं?

आइए देखें, इस वैमनस्य का कारण क्या है। गडे-मुरदे उखाड़ने की जरूरत नहीं। अगर एक तरफ औरंगजेब है तो दूसरी तरफ छत्रपति शिवाजी हैं। वर्तमान समस्याओं पर ही दृष्टि को सीमित रखना हमारे लिए उचित होगा। सरकारी नौकरियाँ, कौंसिलों की मेम्बरी, उर्दू-हिन्दी संगम, गोवध और धार्मिक अपमान, यही मुख्य कारण मालूम होते हैं। कौंसिलों की जो दशा है और उनके द्वारा देश का जो उपकार हो सकता है, वह हम आँखों देख रहे हैं। उसमे स्थान की कमीबेशी इतनी गुरु नहीं है कि उसके पीछे हम राष्ट्रीय उद्धार की संभावना को तुच्छ समझ लें। Game is not worth वाली कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। लिपि-संग्राम में हम देख रहे हैं कि स्वाभाविक दशाओं ने सरकारी पक्षपात को निर्मूल कर दिया। हिन्दी

दफ्तरी जबान न होने पर भी उत्तरोत्तर उन्नति कर रही है, उर्दू सरकारी आश्रय पाने पर भी गिरती चली जाती है। यहाँ तक कि अब हिन्दी से मोर्चा लेने के योग्य भी नहीं रही। गोवध के विषय में भी मुसलमानों का विरोध बहुत-कुछ ठंडा हो चला था, और अगर बीच में एक तीसरा दल ललकारने वाला न होता तो अब तक शांत हो गया होता। मुसलमानों ने ही साबित किया था कि टीपू सुलतान ने गोवध का निषेध कर दिया था। अकबर के राज्यकाल में गोवध का निषिद्ध होना भी एक मुसलमान विद्वान् की खोज थी। अमीर काबुल ने गोवध की मनाही कर ही दी है, वहाँ तो इतनी उदारता दिखलाई जा रही है और यहाँ हिन्दू लोग बोर्डों में अपनी बहुसंख्या के बल पर गोवध बन्द करने के लिए कानून व्यवस्थाएं करने लगे। एक मुसलमान ही ने 'अलबकर' नाम का पत्र निकाला था जिसका उद्देश्य हो गोरक्षा था। यहाँ तक कि मौलवियों ने गो-हत्या के विरुद्ध फतवे देने शुरू कर दिए थे। बहुत संभव था कि अगर हिन्दुओं ने महात्मा जी के दिखाए हुए मार्ग को छोड़ न दिया होता, तो थोड़े दिनों में गोकुशी अपनी मौत मर जाती। मौलाना शौकत अली ने साफ कह दिया था कि अगर अब भी मुसलमान गोवध कर रहे हैं तो इसलिए कि उन्हें इसकी प्रेरणा दी जा रही है और जब तक यह प्रेरणा मिलती रहेगी, गो-हत्या बन्द नहीं हो सकती। फिर हिन्दू ही गौ-रक्षा के लिए क्या प्रयत्न कर रहे है कि मुसलमान उनकी नेकनीयती के

कायल होते? मुसलमान समझते हैं कि हिन्दुओं ने केवल हमें नीचा दिखाने के लिए इस प्रश्न को उठा रखा है और ऐसी दशा में स्वभावतः: वे लोग अपने माने अधिकार का त्याग नहीं करना चाहते, और यही हाल रहा तो शायद गौ-हत्या कभी बन्द न होगी। अगर हम कोई काम शुद्ध हृदय से करें तो अनिवार्यतः उसका असर पड़ता हैं। जहाँ राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता से कोई काम किया गया, बहीं उस पर लोगों का संदेह हुआ। बहुत कम ऐसे हिन्दू है, विशेषकर उन लोगों में जो गौ-हत्या के सबसे बड़े विरोधी हैं, जिन्होंने कभी गाय पाली हो, या गौशाला में चंदा देते हों या कभी किसी गाय को एक रोटी या एक गट्ठा चारा खिलाया हो। ऐसे लोग जब गौ हत्या पर बावेला मचाते हैं तो क्यों मुसलमानों को संदेह हो? हमें इस विषय में भाव ही जगह बुद्धि से काम लेना चाहिए। गौ कितनी ही पवित्र हो, लेकिन मनुष्य की तुलना नहीं कर सकती। मुसलमान कितने ही गए-गुजरे हों फिर भी आदमी हैं। क्या अंधेर है कि हम अपने खाने के बरतनों में कुत्ते को ग्रास खिलाते हैं, लेकिन किसी मुसलमान को पानी पिलाना हो तो कुल्हड़ तलाश करते हैं। कुत्ते के मुख का स्पर्श मांजने से साफ हो जाता है, लेकिन मुसलमान के मुख का स्पर्श अमिट हैं | क्या ऐसी स्थिति में भी हम आशा कर सकते हैं कि कोई आत्माभिमानी मुसलमान हमसे भाईचारे का बरताव करेगा?

अब रहा धार्मिक अपमान। हमको शिकायत है कि मुसलमान हमारे धर्म की तौहीन करते हैं, मुसलमान यही आक्षेप हिन्दुओं पर लगाते हैं। किसी धर्म का अपमान करना, चाहे हिन्दू धर्म का या इस्लाम का, नीच और घृणित कार्य है। कोई समझदार आदमी किसी धर्म की निंदा न करेगा। इसमें कौन-सो शान घट जाती है, अगर हम बाजे बजाते हुए किसी बड़ी मस्जिद के सामने से गुजरें तो एक क्षण के लिए बाजा बन्द कर दें, अगर मुसलमान बाजे बजाते हुए मंदिरों के सामने से आते हैं तो जाने दो। आपकी सहृदयता उन्हें स्वयं लज्जित करके आपके धर्म का आदर करने को बाध्य करेगी।

इन सब कारणों में कोई भी ऐसा बलवान कारण नहीं है, जिसके लिए हम आपस में लड़ मरें। मगर यहाँ तो सभी छोटे-बड़े नेता बनना चाहते हैं। मतविरोध को भड़काना जातीय हीरो (Hero) बनने का सबसे सहज नुस्खा है, किंतु यह धर्म की रक्षा नहीं है। जैसा मौ. मुहम्मद अली ने कहा है, इस मामले में समाचार-पत्रों के संपादकों पर सबसे बड़ी जिम्मेदारी है। वह राष्ट्रीय सेना के नायक हैं, कौम को पार लगाना या डुबा देना दोनों की उनके हाथ में हैं। शांत विचार से काम लेने की कभी इतनी जरूरत न थी, जितनी कि आज है। उन्हें कलम से एक-एक शब्द निकालते हुए यह सोचना चाहिए कि इससे परस्पर विरोध तो न बढ़ेगा। आवेश, उद्गार, उफान से यों डरिए, जैसे सांप से। केवल बुद्धि, गंभीर बुद्धि से काम लीजिए।

छिद्रान्वेषण को स्पिरिट का त्याग देना हमारे विरोध को बहुत-कुछ मिटा देगा। हमारे एक प्रौढ़ विचार के मित्र, जो बराबर मुसलमानों के हमदर्द रहे, मौलाना मुहम्मद अली के मुख से वह ऐतिहासिक वाक्य सुनकर, जिसका महात्मा गांधी ने स्वयं समर्थन किया, मुसलमानों के कट्टर विरोधी हो गए। मौलाना के शब्दों का आशय क्या था, इसके पहले वह कितने अवसरों पर कैसे विचार प्रकट कर चुके थे, उनकी Spirit क्या थी, इसको जरा भी विचार न किया, बस लेना-लेना करके दौड़ पड़े कि मौलाना ने महात्मा का घोर अपमान किया। राष्ट्रीयता के लिए सहिष्णुता लाजमी चीज है। बात का बतंगड़ भी हो सकता है और बतुक्का भी। बतंगड़ न बनाइए। शुद्धि और संघटन और महावीर दल और बल की ख़ाल निकालने से समस्या दिनों-दिन जटिल होती जाएगी। यह राष्ट्र-निर्माण का मार्ग नहीं है। यह पतन का मार्ग है। जब द्वेष की आग दिलों में दहक रही हो तो प्रेम कहाँ से आए? यह हमारे इतिहास में वह नाजुक समय आ गया हैं, जब `जरा-सी गलती. जरा-सी चूक, जरा सा आँखों का झपक जाना हमें सदियों पीछे धकेल ले जाएगा। यह शांत, अविचलित रहने का समय है। Pan Islamism धोखे की टट्टी है, जो अंग्रेजों ने हिन्दुओं को भड़काने के लिए खड़ी की है। इसके सिवा उसका और कोई अस्तित्व नहीं है। इन चकमों में न आइए। बस, सौ बात की एक बात है कि सहृदयता की सहृदयता उत्पन्न कर सकती है!

हिन्दू तबलीग की आग को भड़काकर भी पेश नहीं पा सकते, क्योंकि हिन्दू औरतों को भगा ले जाने, जबरदस्ती निकाह पढ़ा लेने और ऐसे ही दूसरे हथकंडों में वे कुशल नहीं हैं! अभी बहुत दिन बाकी हैं, जब हमारा समाज-संघटन इन घटनाओं की संभावना का अंत कर देगा। ईश्वर न करे कि हमें अपने धर्म-प्रचार के लिए गुंडेपन की शरण लेनी पड़े। वह दिन 'आर्य-धर्म' के मातम का दिन होगा। मुसलमानों में भी बहुत कम जिम्मेदार आदमी ऐसे होंगे, जिन्होंने मौलाना हसन निजामी का तिरस्कार न किया हो। गुंडे बड़े काम की चीज हैं। इनका अपनी ही घर ढाने में दुरुपयोग न कीजिए, लेकिन अगर ऐसा अवसर आ पड़े कि हमारी महिलाओं की बेआबरूई हो रही हो तो उस वक्त प्राणपण से उनकी रक्षा करनी चाहिए। साहस भी सहृदयता का अंग है। कायर कभी सहृदय हो ही नहीं सकता। चोरों से रक्षा करने के लिए अपने घर को सुरक्षित रखने की जरूरत है। हमको विश्वास है कि मुसलमानों में ऐसे भाव के आदमी मौजूद हैं जिन्हें इन दुष्कृत्यों से उतनी ही घृणा हो सकती है, जितनी कि किसी हिन्दू को। ऐसे दुष्टाधातों से अपनी रक्षा के लिए हम जो करेंगे उसमे समझदार मुसलमान हमारा साथ देंगे। लड़ैतियों के अखाड़ों से हमारी रक्षा नहीं होगी। हमारी रक्षा होगी अपनी मनोवृत्तियों को स्वार्थ से हटाकर मर्यादा-रक्षा के प्रवृत्त करने से। हम धन के दास हो गए है। धन के आगे हमारी दृष्टि में बहू-बेटियों की लाज का भी

कोई मूल्य नहीं। इसी धरन लिप्सा ने हमें कायर भीरु, अकर्मण्य बना रखा है। जब तक हमारे चित्त की यह वृत्ति रहेगी, एक क्या, सौ महावीर दल भी हमें दुष्टों से नहीं बचा सकते।

[हिन्दी साप्ताहिक 'प्रताप', कानपुर कृष्णाष्टमी, सितंबर 1924]

कर्बला-2

मित्रवर श्रीयुत रामचन्द्र टंडन ने मेरे 'कर्बला' नामी ड्रामा की आलोचना करत ह यह शंका प्रकट को है कि वह नाटक में हिन्दू पात्र क्यों लाए गए। उनका कहना है – 'हिन्दू पात्रों के समावेश से न हिन्दुओं को प्रसन्नता होगी, न मुसलमानों को तुष्टि इसलिए हिन्दू पात्र न लाए जाते तो कोई हानि न होती।' यह ड्रामा ऐतिहासिक है और इतिहास से यह पता चलता है कि कर्बला के संग्राम में कुछ हिन्दू योद्धाओं ने भी हजरात हुसैन का पक्ष लेकर प्राणोत्सर्ग किए थे, अतः उन पात्रों का बहिष्कार करना किसी भांति युक्तिसंगत न होता। रही यह बात कि उनके समावेश से हिन्दू और मुसलमान, दो में से एक को भी प्रसन्नता न होगी, इसके लिए लेखक क्यों कुसूरवार ठहराया जाएँ? आज हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में वैमनस्य है, इसलिए संभव है कि ऐसे मिश्रित दृश्य रुचिकर न हों, लेकिन जरा गौर से देखिए, तो इन दृश्य में ऐसी कोई बात नहीं है, जिस पर किसी हिन्दू या मुसलमान को आपत्ति हो। हिन्दू जाति यदि अपने पुरुखाओं को किसी धर्म-संग्राम में आत्मोत्सर्ग करते हुए देखकर प्रसन्न न हो तो सिवाय इसके और क्या कहा जा सकता है कि हममें वीर पूजा की भावना भी नहीं

रही, जो किसी जाति के अध:पतन का अंतिम लक्षण है। जब तक हम अर्जुन, प्रताप, शिवाजी आदि वीरों की पूजा और उनकी कीर्ति पर गर्व करते हैं तब तक हमारे पुनरुद्धार की कुछ आशा हो सकती है। जिस दिन से हम इतने जातिगौरव-शून्य हो जाएँगे कि अपने पूर्वजों की अमरकीर्ति पर आपत्ति करने लगें, उस दिन हमारे लिए कोई आशा न रहेगी। हम तो उस चित्तवृत्ति को कल्पना करने में भी असमर्थ हैं जो हमारे अतीत गौरव की ओर इतनी उदासीन हो। हमारा तो अनुमान है कि हिन्दू इच्छा न रहने पर भी इस बात से प्रसन्न होंगे और उस पर गर्व करेंगे। हाँ, मुसलमानों की तुष्टि के विषय में हम निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकते। लेकिन चूँकि मुसलमान लेखकों ने यह अन्वेषण किया है और उन्हीं के आधार पर हमने हिन्दू पात्रों का समावेश किया है इसलिए इस विषय में शंका करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि मुसलमान संतुष्ट होंगे। याद मुसलमानों को एक महान् संकट में आर्यों से सहायता पाने पर खेद होता तो वह इसका उल्लेख ही क्यों करते। आजकल की समुन्नत जातियाँ भी संकट के अवसर पर दी गई सहायता का एहसान मानने में अपमान नहीं समझतीं। फिर कोई कारण नहीं कि मुसलमान क्यों आर्यों की प्राणपण से दी गई सहायता का अनादर करें। हाँ, यदि हिन्दू लोग आज उस एहसान के बल पर मुसलमानों के सामने शेखी बघारने लगें तो संभव है, मुसलमानों के मन में कृतज्ञता की

जगह द्वेष का भाव उत्पन्न हों जाएँ और वे उस घटना को भूल जाने की चेष्टा करन लगें।

समालोचक महोदय को दूसरी शंका यह हुई है कि यदि आर्यों का अरब में जाकर बसना मान लिया जाएँ तो यह क्योंकर हो सकता हैं कि महाभारत काल से हुसैन के समय तक वे लोग अपने धार्मिक आचार विचार को रक्षा कर सके , कैसे मंदिर बनवा सके, कैसे रियासत बना सके? अतएव उनकी वेष भूषा तथा भाषा भी अरबों ही से मिलनी चाहिए थी। अरब जैसी मूर्ति विध्वंसक जाति के बच में रहकर वे कैसे अपना जातीयता का पालन कर सके?

हमारे मित्र को मालूम होगा कि महाभारत काल में अरब या ईरान आर्यों के लिए कोई अपरिचित स्थान न थे। परस्पर गमनागमन होता रहता था। उस समय मुसलमान धर्म का जन्म न हुआ था और अरब जाति मूर्तिपूजा में रत थी। एक नहीं, अनेक देवता की पूजा होती थी। बहुत संभव है उनकी वेश-भूषा भी आर्यों से मिलती-जुलती रही हो। सिदियन, हूण, कुशन आदि जातियाँ उत्तर-पश्चिम से आकर आर्यों में सम्मिलित हो गईं। इससे प्रकट होता है कि उस समय उनमें और आर्यों में विशेष सादृश्य था। कम-से-कम यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत काल में प्रतिमा-पूजा का

प्रसार न हुआ था और इसका कई प्रमाण नही कि आर्यों और अरबों में उतनी विभिन्नता न थी जितनी इस समय है। हुसैन के समय तक मुसलमान धर्म का प्रादुर्भाव हुए पचास वर्ष से अधिक न हुए थे। उस वक्त ईरान भी पूर्णरीति से मुसलमान सेनाओं के सामने परास्त न हुआ था। जब हम लोग जानते हैं कि अश्वत्थामा के अरब निवासी वंशज मूर्ति पूजक थे तो मुसलमानों को उनसे ख्वामख्वाह लड़ने का क्या कारण हो सकता था? ऐसी दशा में यदि वे आर्य अपने आचरण का पालन कर सके तो कोई आश्चर्य को बात नहीं। उनका नामकरण हमने नहीं किया हमने उनके वही नाम लिख दिए हैं, जो हमें इतिहास में मिले। यह इस बात की एक और दलील है कि इतना जमाना गुजरने पर भी जे आर्य वीर अपनी वंश-परंपरा को भूले न थे। जब हम देखते हैं कि पारसी जाति शताब्दियों से भारतवर्ष में रहने पर भी अपने धर्म और आचरण को निभाती चली जाती है, तो आर्यों क विषय में ऐसी शंका करना सर्वथा निर्मूल है।

['माधुरी', जनवरी 1925]

इस्लामी सभ्यता

हिन्दू और मुसलमान दोनों 1000 वर्षों से हिन्दुस्तान में रहते चले आते हैं, लेकिन अभी तक एक दूसरे को समझ नहीं सके। हिन्दू के लिए मुसलमान एक रहस्य है मुसलमान के लिए हिन्दू एक मुअम्मा। न हिन्दू को इतनी फुरसत है कि इस्लाम के तत्त्वों की छानबीन करे, न मुसलमान को इतना अवकाश कि हिन्दू-धर्म-तत्त्वों के सागर में गोते लगाए। दोनों एक दूसरे में बेसिर-पैर की बातों की कल्पना करके माथा फुटौवल करने पर आमाद रहते हैं। हिन्दू समझता है कि दुनिया भर की बुराइयाँ मुसलमानों में भरी हुई हैं, इसमें न दया है, न धर्म, न सदाचार, न संयम। मुसलमान समझता है हिन्दू पत्थरों को पूजने वाला, गर्दन में धागे डालने वाला, माथा रंगने वाला और दाल-भात खाने वाला पशु है। दोनों एक-दूसरे के साये से बचते हैं। और दोनों दलों में जो बड़े से बड़े धर्माचार्य हैं वह इस भेदभाव में सबसे आगे हैं, मानों द्वेष और विरोध ही धर्म का प्रधान लक्षण है। हम इस समय हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य पर कुछ नहीं कहना चाहते। मौलाना शौकतअली के साथ हमारा भी यह विश्वास है कि यह दशा अस्थायी है और वह समय दूर

नहीं है जब हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी गलती पर पछतावेंगे, और अगर मनुष्यता और सज्जनता से प्रेरित होकर नहीं तो आत्मरक्षा के लिए संयुक्त होना आवश्यक समझेंगे, हम इस समय केवल यह देखना चाहते हैं कि हिन्दुओं की मुसलमानों की सभ्यता के विषय में जो धारणा है वह कहाँ तक न्याय है।

पुराने जमाने में किसी जाति की धर्म-परायणता और उपकार-वृत्ति ही उसकी सभ्यता की द्योतक थी। सेवा और त्याग ही सभ्यता का मुख्य अंग था, चीन, जापान, भारत, मिस्र किसी देश की प्राचीन सभ्यता को लीजिये आप उसे धर्म प्रधान पावेंगे। यद्यपि अब भी वही आदर्श सर्वोपरि है, पर उसमे परिस्थितियों ने थोडा-सा परिवर्तन कर दिया है, या यों कहिए कि उनका रूपांतर कर दिया है। फ्रांस की राज्य क्रांति ने सभ्यता का जो आदर्श स्थापित किया वह न्याय, भ्रातृभाव और समता, इन तीन स्तंभों पर आधारित है। जरा गौर से देखिए तो नवीन और प्राचीन आदर्शों में कोई विशेष अंतर नहीं रह जाता। लेकिन हम नई सभ्यता की जांच कर रहे हैं, इसलिए नए मापयंत्रों का व्यवहार करना ही उपयुक्त होगा।

सबसे पहले न्याय को लीजिए। जहाँ तक हम जानते हैं किसी धर्म ने न्याय को इतनी महानता नहीं दी जितनी इस्लाम ने। ईसाई धर्म में दया प्रधान है।

दया में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, सबल-निबल का भाव छिपा रहता है। जहाँ न्याय होगा वहाँ ये भेद हो ही नहीं सकते और वहाँ दया का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। कम से कम मनुष्यों के लिए नहीं। अन्य जीव-धारियों ही पर उसका व्यवहार हो सकता है। हिन्दू धर्म अहिंसा प्रधान हैं, और तह तक जाइए तो न्याय और अहिंसा दोनों ही वस्तु हैं। अहिंसा के बगैर न्याय की, और न्याय के बगैर अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। हम यह मानते हैं कि मुसलमानों ने बड़े-बड़े अन्याय किए हैं। धर्म के नाम पर न्याय को खूब पैरों से कुचला है, पर क्या हिन्दुओं ने अहिंसावादी होते हुए हिंसा के झंडे नहीं गाड़ दिए, यहाँ तक्र कि बौद्ध और जैन राजाओं ने अहिंसा को धर्म का मुख्य लक्षण मानते हुए धर्म के नाम पर खून की नदियाँ नहीं बहाईं? किसी धर्म की श्रेष्ठता व्यक्तियों के कृत्यों से न जाँचनी चाहिए, यह देखना चाहिए कि धर्म के आचार्य और संस्थापक ने क्या उपदेश किया है । हजरत मुहम्मद ने धर्मोपदेशकों को इसलाम को प्रचार करने के लिए देश-देशांतरों में भेजते हुए ये उपदेश दिया था – जब तुमसे लोग पूछे कि स्वर्ग की कुंजी क्या है तो कहना कि वह ईश्वर को भक्ति और सत्कार्य में है। आराफात के पहाड़ पर हजरत के मुख से जिस वचनामृत को वर्षा हुई थी वह अनंत काल तक इसलामी जीवन के लिए संजीवनी का काम करती रहेगी। और

उस उपदेश का सार क्या था? न्याय। उसके एक एक शब्द से न्याय की ध्वनि निकल रही है। आपने फरमाया –

“ऐ मोमिनो, मेरी बातें सुनो और उन्हें समझो। तुम्हें मालूम हो कि सब मुसलमान आपस में भाई-भाई हैं, तुम्हारा एक ही भ्रातृ-मंडल है। एक भाई की चीज दूसरे भाई पर कभी हलाल नहीं हो सकती, जब तक वह खुशी से न दे दी जाएँ। बेइंसाफी कभी मत करो। इससे हमेशा बचते रहो।”

इस अमर वाणी में इसलाम की आत्मा छिपी हुई है। इसलाम की बुनियाद न्याय पर रखी गई है, वहाँ राजा और रंक, अमीर और गरीब बादशाह और फकीर के लिए केवल एक न्याय है। किसी के साथ रियायत नहीं, किसी का पक्षपात नहीं।

ऐसा सैकड़ों रवायतें पेश की जा सकती हैं। जहाँ बेकसों ने बड़े-बड़े बलशाली अधिकारियों के मुकाबले में न्याय के बल से विजय पाई है। ऐसी मिसालों की भी कमी नहीं है जहाँ बादशाहों ने अपने राजकुमार, अपनी बेगम, यहाँ तक कि स्वयं अपने को, न्याय की वेदी पर होम कर दिया है। संसार की किसी सभ्य से सभ्य जाति की न्याय-नीति की इसलामी न्याय-नीति से तुलना कीजिए। आप इसलाम का पल्ला झुकता हुआ पाएंगे। अध:पतन होने पर सभी जातियों के आदर्श भ्रष्ट हो जाते हैं। इसमें हिन्दू

मुसलमान, ईसाई किसी की कैद नहीं। आज हम मुसलमानों को तअस्सुब से भर। हुआ पाते हैं। लेकिन जिन दिनों इसलाम का झंडा कटक से लेकर डैन्युष तक और तुर्किस्तान से लेकर स्पेन तक फहराता था, मुसलमान बादशाहों की धार्मिक उदारता इतिहास में अपना सानी नहीं रखती थी। बड़े से बड़े राज्यपदों पर गैर-मुसलिमों को नियुक्त करना तो साधारण बात थी, महाविद्यालयों के कुलपति तक ईसाई और यहूदी होते थे। इस पद के केवल योग्यता और विद्वत्ता की शर्त थी, धर्म से कोई संबंध न था। प्रत्येक विद्यालय के द्वार पर ये शब्द खुदे होते थे — पृथ्वी का आधार केवल चार वस्तुएँ हैं, बुद्धिमानों की विद्वत्ता, सज्जनों की ईश-प्रार्थना, वीरों का पराक्रम और शक्तिशाली की न्यायशीलता।

अब सभ्यता के दूसरे अंग को लीजिए। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस विषय में इसलाम ने सभी अन्य सभ्यताओं को बहुत पीछे छोड़ दिया है। वे सिद्धांत जिनका श्रेय अब कार्ल मार्क्स और रूसो को दिया जा रहा है, वास्तव में अरब के मरुस्थल में प्रसूत हुए थे, और उनका जन्मदाता अरब का उम्मा था जिसका नाम मुहम्मद है! मुहम्मद के सिवा संसार में और कौन धर्म-प्रणेता हुआ है जिसने खुदा के सिवा किसी मनुष्य के सामने सिर झुकाना गुनाह ठहराया ? मुहम्मद के बनाए हुए समाज में बादशाह का स्थान ही नहीं था। शासन का काम करने के लिए केवल एक

खलीफा की व्यवस्था कर दी गई थी जिसे जाति वे कुछ प्रतिष्ठित लोग चुन लें। इस नियम से उन्होंने अपने आपको भी मुस्तसना नहीं किया और हार्दिक इच्छा रहते हुए भी अपने चचेरे भाई और दामाद हजरत आली को खलीफा नहीं बनाया, हालांकि उनका दवाब इतना था कि केवल एक संकत से आली का निर्वाचन हो सकता था। और इस चुने हुए खलीफा के लिए कोई वजीफा, कोई वेतम कोई जागीर, कोई रियायत न थी। यह पद केवल सम्मान का था। अपनी जाविका के लिए खलीफा को भी दूसरों की भांति मेहनत मजदूरी करनी पड़ता था ऐसे महान पुरुष जो एक बड़े साम्राज्य का संचालन करते थे, जिनके सामने बड़े बड़े बादशाह अदब से सिर झुकाते थे, जिनके एक इशारे पर बादशाहतें बनती बिगड़ती थीं, जूते सी कर या कलमी किताबें नकल करके , लड़कों को पढ़ाकर अपनी जीविका अर्जन करते थे| हजरत मुहम्मद ने खुद कभी पेशवाई का दावा नहीं किया। खजाने में उनका हिस्सा भी वही था जो एक मामूली सिपाही का। उन्हें कभी-कभी मेहमानों के आ जाने के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, फाके करने पड़ जाते थे को चीजें बेच डालनी पड़ती थीं, पर क्या मजाल कि अपना हिस्सा बढ़ाने का ख्याल भी दिल में आए। और संप्रदायों में गुरु-प्रथा ने जितने अनर्थ किए हैं उनसे इतिहास काला हो गया है। ईसाई धर्म में पादरियों के सिवा और किसी को इंजील पढ़ने की

आजादी न थी। हिन्दू-समाज ने भी शूद्रों की रचना करके अपने सिर कलंक का टीका लगा लिया। पर इसलाम पर इसका धब्बा तक नहीं। गुलामी की प्रथा तो उस वक्त समस्त संसार में थी, लेकिन इसलाम ने गुलामों के साथ जितना अच्छा सलूक किया उस पर उसे गर्व हो सकता है। इसलाम कबूल करते हो गुलाम आजाद हो जाता था। यहाँ तक कि ऐसे गुलामों की कमी नहीं है जो अपने मालिक के बाद उसकी गद्दी पर बैठे और उसकी लड़की से विवाह किया। और किस समाज ने नीचों के साथ यह उदारता दिखाई है। कोमल वर्ग के साथ तो इसलाम ने जो सलूक किए हैं उनको देखते अन्य समाजों का व्यवहार पाशविक जान पड़ता है। किस समाज में स्त्रियों का जायदाद पर इतना हक माना गया है जितना इसलाम में? यों बुद्धि और धन की असमता हमेशा रही हैं और हमेशा रहेगी, लेकिन इसलाम ने समाज के किसी अंग के पैरों में बेड़ी नहीं डाली। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति उतनी मानसिक और सामाजिक उन्नति कर सकता है जितनी उसमे सामर्थ्य हो। उसके मार्ग में कोई कंटक, कोई बाधा नहीं। हमारे विचार में वही सभ्यता श्रेष्ठ होने का दावा कर सकती है जो व्यक्ति को अधिक से अधिक उठने का अवसर दे। इस लिहाज से भी इसलामी सभ्यता को कोई दूषित नहीं ठहरा सकता।

अब सभ्यता का तीसरा अंग लीजिए। इस विषय में भी इसलाम किसी अन्य जाति से पीछे नहीं है। हजरत ने फरमाया है-कोई मनुष्य उस वक्त तक मोमिन नहीं हो सकता जब तक वह अपने भाई-बंदों के लिए भी वही न चाहे जो वह अपने लिए चाहता है। एक दूसरी जगह आपने लिखा है-जो प्राणी दूसरों का उपकार नहीं करता, खुदा उससे खुश नहीं होता। उनका यह कौल सोने के अक्षरों में लिख जाने याग्य है – "ईश्वर की समस्त सृष्टि उसका परिवार है और वही प्राणी ईश्वर का भक्त है जो खुदा के बन्दों के साथ नेकी करता है।" किसी मोमिन में एक बार आपसे पूछा था – खुदा की बन्दगी कैसे को जाएँ? आपने जवाब दिया – अगर तुम्हें खुदा की बन्दगी करनी है तो पहले उसके बन्दों से मुहब्बत करो। इन शिक्षाओं से यह बात भली भांति विदित हो जाती है कि इसलाम के नियामक ने भ्रातृ भाव का महत्त्व अन्य जातियों से कम नहीं समझा।

यह तो सभ्यता के मूल तत्त्व हुए। उसके गौण अंगों में, राजनैतिक विधान, विद्याव्यसन, स्वाधीनता का प्रेम, कलाकौशल, भवन-निर्माण, वेष-भूषा सभी समाविष्ट हैं। सूद की पद्धति ने संसार में जितने अनर्थ किए हैं और कर रही है वह किसी से छिपे नहीं हैं। इसलाम वह अकेला धर्म है जिसने सूद को हराम ठहराया हो। यह दूसरी बात है कि व्यवसाय की दृष्टि से इस निषेध का खंडन किया जाएँ, पर सामाजिक दृष्टि से कोई इसका समर्थन किए

बगैर नहीं रह सकता। विद्यानुराग में तो शायद बहुत कम जातियाँ मुसलमानों की बराबरी का दावा कर सकती हैं। हिन्दुस्तान से आयुर्वेद, गणित और ज्योतिष, अध्यातम, यूनान से दर्शन और प्रजा-वाद, गरज़ जहाँ जो रत्न मिला, इसलाम ने दोनों हाथ फैलाकर अपनाया और उसे अपनी सभ्यता का अंग बना लिया। भवन-निर्माण करने में तो शायद संसार की कोई जाति मुसलमानों से टक्कर नहीं ले सकती। जहाँ जहाँ इसलामी तहजीब का झंडा लहराया, उनकी बनवाई हुई इमारतें, अब तक अपने निर्माताओं का यशोगान कर रही हैं। स्वाधीनता का ऐसा सच्चा अनुराग कदाचित् और कहीं देखने में न आएगा। आज कौन ऐसा सहृदय प्राणी है जो मुट्ठी भर रिफों को यूरोप की दो महान शक्तियों से युद्ध करते देखकर गर्व से फूल न उठे? दमिश्क में, शाम में, तुर्कों में, मिस्र में, जहाँ देखिए मुसलमान अपने को स्वाधीनता की वेदी पर बलिदान कर रहे हैं। अफगानिस्तान केवल स्वाधीनता पर मर मिटने के लिए तैयार होने के कारण आज स्वाधीन बना हुआ है। हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि इसलाम में जनता को आकर्षित करने की जितनी शक्ति है उतनी और किसी संस्था में नहीं है। जब नमाज पढ़ते समय एक मेहतर अपने को हहर के बड़े से बड़े रईस के साथ एक ही कतार में खड़ा पाता है तो क्या उसके हृदय में गर्व की तरंगे न उठने लगती होंगी। उसके विरुद्ध हिन्दू समाज ने

जिन लोगों को नीच बना दिया है उनको कुएँ की जगत पर भी नहीं चढने देता, उन्हें मंदिरों में घुसने नहीं देता। ये अपने में मिलाने के नहीं, अपने से अलग करने के लक्षण हैं। इसलामी धर्म और सभ्यता को संसार में जो सफलता मिलो है वह तलवार के जोर से नहीं, इसी भ्रातृभाव के कारण मिली है। आज भी अफ्रीका में ईसाइयों के मुकाबले में इसलाम का प्रचार अधिक हो रहा है, हालांकि ईसाइयों के पास सभी प्रकार के प्रलोभन हैं और यहाँ केवल अल्लाह का नाम है।

अंत में हम संगठन और तंजीम के प्रेमियों से यह निवेदन करना चाहते है कि इन आयोजनाओं से आप हम दोनों जातियों के बीच में एक लोहे को दीवार खटी कर रहे हैं। अगर आप बिना मुसलमानों से बिगाड़ किए हुए अपनी जाति में संगठन कर सकते हैं, विधवाओं का, अनाथों का, अछूतों का उद्धार कर सकते हैं तो शौक से कीजिए। तंजीम में भी कोई बुराई नहीं है अगर वह बिना हिन्दुओं से बिगाड़ किए हुए की जा सके। लेकिन अब तक हमें जो अनुभव हुआ है वह साफ बता रहा कि आंतरिक संगठन और अंदरूनी तंजीम केवल कल्पना का स्वर्ग है। आंतरिक संगठन तो नहीं होता, क्योंकि वह भक्ति, प्रेम और अनुराग की स्पिरिट में नहीं किया जाता। भीतर जो लाखों बुराइयाँ हैं वह ज्यों की त्यों बनी हुई हैं, उसमे अणुमात्र भी सुधार नहीं हो सका, और दोनों जातियों में वैमनस्य दिन दिन बढ़ता जाता

है। कम से कम इतना तो सिद्ध ही हो गया है कि जिस वेग से हिन्दू मुसलिम विरोध बढ़ रह है, उस वेग से हिन्दुओं का आंतरिक संगठन नहीं बढ़ रहा है, हमें तो दिन दिन इसमें शैथिल्य और उसमे स्फूर्ति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। नतीजा यही होगा कि न हम संगठित होंगे, न स्वराज्य-पथ पर ही अग्रसर होंगे। और हमारी दशा उत्तरोत्तर हीन होती चली जाएगी।

[साप्ताहिक 'प्रताप', दिसंबर, 925 के विशेषांक में प्रथम बार प्रकाशित]

गुरुकुल में तीन दिन

पिछले आषाढ़ में मुझे गुरुकुल कांगड़ी के दर्शनों का अवसर मिला। इच्छा तो बहुत दिनों से थी, मगर यह सोचकर कि उस वेद वेदांगों के केन्द्र में मुझ-जैसे धर्मशून्य व्यक्ति का कहाँ गुजर, कभी जाने को हिम्मत न पड़ी। सौभाग्य से साहित्य-परिषद् ने उन्हीं दिनों अपना वार्षिक उत्सव करने की ठानी और मुझे न्योता मिला। ऐसा अवसर पाकर भला कैसे चूकता। दिली मुराद पूरी हुई। रात को लखनऊ से चलकर प्रातःकाल हरिद्वार जा पहुँचा। वहाँ दो ब्रह्मचारी मेरी राह देख रहे थे। गुरुकुल की सिद्धांतवादिता का कुछ थोडा-सा परिचय मुझे स्टेशन पर ही मिला। एक तांगा करने की ठहरी। तांगे वाले ने शायद यह समझकर कि दो नए यात्री हैं, कनखल के आठ आने माँगे। इधर से छः आने कहा गया। तांगे वाले ने शायद कहा, आठ आने से कम न होंगे। ब्रह्मचारियों ने वाजिब किराया कह दिया था। तांगे वाले से ठांय-ठांय करना उनकी शान के खिलाफ था। आध मोल जाकर दूसरा तांगा उन्हीं दामों पर लाए। पहला तांगे वाला उन्हीं दामों पर चलने को तैयार था, अपना अपराध क्षमा कराता था, अपनी भूल स्वीकार करता था,

पर ब्रह्मचारियों को उस पर दया न आई। उसने यात्रियों को ठंगना चाहा था, इसका दंड उसे देना जरूरी था। और नीति की दृष्टि में दया का कोई मूल्य नहीं।

तांगा आध घंटे में कनखल आ पहुँचा। हम लोग उतरकर घाट पर पहुँचे। सामने को पहाड़ियाँ हरे-भरे आभूषण पहने खड़ी थीं। नीचे गंगा पहाड़ियों की गोद से निकलकर उछलती-कूदती चली जाती थी। यहाँ कई धाराएँ हैं, जो वर्षाकाल में मिलकर कांगड़ी के नीचे तक चली जाती हैं। मैंने समझा था किसी किश्ती पर नदी पार करनी पडेंगी, मगर किश्ती का कहीं पता न था। यहाँ पानी का तोड़ इतना तेज है, नीचे का पेटा इतना पथरीला कि थोड़ी दूर के बाद किश्ती आगे जा ही नहीं सकती। तमेडों पर बैठकर लोग आते-जाते हैं। यह एक प्रकार की घन्नई है, जिसमे मिट्टी के मटकों की जगह टीन के कनस्तर होते हैं। कई कनस्तरों को लंबे-लंबे रखकर रस्सी और बांसों से बांध देते हैं। तमेडा बीच में चौडा और दोनों सिरों पर पतला होता है। जिन्हें इस पर पहली बार बैठना पड़े उन्हें मन में कुछ संशय होने लगता है कि यह डोंगा पार लगेगा या बीच ही में डूबेगा। मगर थोड़ी ही दूर चलकर यह संशय दूर हो जाता है। यह डोंगी डूब नहीं सकती। पानी का बहाव कितना ही तेज हो, भंवर कितनी ही भयंकर हों, वायु कितनी ही प्रचण्ड हो, लहरें उछलकर उसके ऊपर ही क्यों न आ जाती हों, पर उसे परास्त नहीं

कर सकतीं। आदमी अगर उस पर जरा संभलकर बैठा रहे, तो चाहे अनंत तक पहुँच जाएँ, डूब नहीं सकता। इस तुच्छ-सी वस्तु को विराट और प्रचंड जल-प्रवाह का इतनी वीरता से सामना करते देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों कोई अकेली आत्मा प्राण-सागर की लहरों को ठुकराती, विघ्न-बाधाओं को कुचलती परम धाम की ओर चली जा रही हो।

अभी आध घंटा भी न गुजरने पाया था कि घटा छा गई और वर्षा होने लगी। सारे कपड़े भीग गए, हवा भी चलने लगी। लहरें उछलती ही न थीं, छलांगें भरती थीं। कई बार तमेडा नीचे की चट्टान से टकराया और हम गिरते-गिरते बचे। दस बजते-बजते हम कांगड़ी पहुँच गए।

2

गुरुकुल की इमारतें देखकर बेअख्तियार मुँह से निकल गया – नाम बड़े दर्शन थोड़े। एक ही इमारत है जिसे इमारत कह सकते हैं, पर साधारण हाईस्कूलों की इमारत भी इससे अच्छी होती है। तीन साल पहले यहाँ कई और इमारतें थीं। पर सन् 1924 की बाढ में कई इमारतें बह गईं और हरा-भरा बाग बालू से भर गया। गिरे हुए भवनों के खंडहर अभी तक नजर आते

हैं। हम लोग एक छोटे-से पक्के घर में ठहरे, जिसे यहाँ पक्का धर्मशाला कहते हैं। श्रद्धेय पंडित पद्मसिंह जी शर्मा भी आ गए थे। हम दोनों इसी कमरे में ठहरे। स्नान किया। इतने में भोजन आ गया। खाने बैठ गए। पेडे बहुत स्वादिष्ट थे। अतिथि-सत्कार यहाँ की विशेषता है। भस्मक रोगी भी यहाँ से तृप्त हुए बिना नहीं जा सकता। सबसे बड़ा आनंद मुझे यहाँ के ब्रह्मचारियों को देखकर हुआ। ऐसे सरल-हृदय, सेवाशील युवक हमारे अंग्रेजी कालेजों में बहुत कम हैं। वह पंडिताई वातावरण, जो काशी की किसी संस्कृत पाठशाला में नजर आता है, यहाँ नाम को भी न था। यहाँ विद्यालय का मेहमान प्रत्येक ब्रह्मचारी का मेहमान है, वह उसकी चारपाई बिछा देगा, उसके लिए पानी भर लाएगा और उसकी धोती भी खुशी से छांट देगा। यह विद्यालय नहीं, किसी ऋषि का आश्रम मालूम होता है। ऐसे उत्साह युवक मैंने नहीं देखे। जो काम करते हैं, उसमे तन-मन से लिपट जाते हैं। प्रमाद की मात्रा इनमें बहुत ही कम है। कुछ सीखने के लिए, कुछ जानने के लिए यह लोग सदैव उत्सुक रहते हैं।

साहित्य-परिषद् का उत्सव संध्या-समय हुआ। आचार्यजी का व्याख्यान हुआ। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाईं। कुछ साहित्यिक लेख थे, दो-चार गल्पें थीं, एक-दो लेख ऐतिहासिक थे। इन रचनाओं को किस ऊँचे आदर्श से तोलना अन्याय होगा – ये प्रौढ़ लेखकों की कृतियाँ न थीं,

पर किसी विद्यालय के शिष्यों को उन पर गर्व हो सकता है। हाँ, यहाँ जो संगीत सुनने में आया, उससे कुछ निराशा हुई। गुरुकुल में संगीत-शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं। शायद संगीत ब्रह्मचर्य के लिए बाधक समझा जाता हो। मगर मुझे तो ऐसी धार्मिक संकीर्णता यहाँ कहीं न दिखाई दी। सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे ब्रह्मचारियों में विचार-स्वातंत्र्य पर हुआ। उनके राजनैतिक , सामाजिक, धार्मिक विचारों में मुझे संकीर्णता का कोई चिह्न नहीं मिला।

दूसरे दिन प्रीतिभोज था। भोजनगृह में सभी ब्रह्मचारी और आचार्य फर्श पर बैठकर थालियों में भोजन कर रहे थे। हमारे अंग्रेजी विद्यालयों में कुर्सियों और मेजों का व्यवहार होता है। यहाँ अभी तक अंग्रेजियत की वह हवा नहीं आई। हमारे जातीय रीति-नीति, आचार-विचार की रक्षा अगर हो सकती है तो ऐसों ही संस्थाओं में हो सकती है। मगर शायद अब उसकी रक्षा करने की जरूरत हो नहीं समझी जाती। आजकल वही पक्का आर्य है, जो चाहे और सभी बातों में विदेशियों का गुलाम हो, केवल अन्य धर्मावलम्बियों को गाली देता जाएँ।

आज संध्या-समय एक कवि-सम्मेलन था। पंडित पद्मसिंह जी सभापति थे। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनायीं। अधिकांश कविताएँ हास्यास्पद थीं, मगर मैं ब्रह्मचारियों के साहस की तारीफ करूँगा कि उन्हें

अपनी अंड-बंड रचनाएँ सुनाने में लेशमात्र भी संकोच न होता था। किसी हद तक तो यह बालोचित साहस सराहनीय है। हमने ऐसे बालक भी देखे हैं, जो किसी सभा में खड़े कर दिए जाएँ तो उनकी घिग्घी बंध जाएँगी। उस झिझक के देखते तो यह धृष्टता फिर भी अच्छी है। पर रसिकजनों के सामने ऐसी रचनाएँ न सुनाना ही अच्छा, जिन्हें सुनकर हँसी आवे। रचनाओं के समाप्त हो जाने के बाद शर्माजी ने विचारपूर्ण वक्तृता ! और ब्रह्मचारियों को खूब हँसाया। शर्माजी जितने विद्वान् हैं, उतने ही सरल और उदार है। और मेहमानवाजी तो उनका जौहर है।

तीसरे दिन हमने मुख्याधिष्ठाता जी के घर भोजन किया। उसका स्वाद अभी तक भूला नहीं। रामदेव जी उन सज्जनो में हैं, जिनको बातों से जी नहीं भरता। ज्यों-ज्यों बातें मालूम होती हैं और मनोरंजन भी होता है, आप अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं और भारतीय इतिहास के तो आप पूरे माहिर हैं। ब्रह्मचारियों को उन पर असीम श्रद्धा है। गुरुकुल अगर कुछ न करे, तो भी इतने युवकों के सम्मुख सरल जोवन और उच्च विचार का आदर्श रखना ही उसके जीवित रहने के लिए काफी है। अंग्रेजी कालेजों में तो आवश्यकताओं की गुलामी सिखाई जाती है और अध्यापक लोग ही इस विद्या के सबसे बड़े शिक्षक होते हैं। जिंदगी की दौड़ में वे युवक क्या पेश पा सकते हैं, जिनके पैरों में जरूरतों की भारी बेड़ियाँ पड़ी हों। सरकारी

विभागों में चाहे वे अच्छे पद पा जाएँ, पर सरकारी नौकरियों से तो राष्ट्र नहीं बनते। गुरुकुल ने अपने जीवन के थोड़े से सालों में राष्ट्र के जितने सेवक पैदा किए हैं, उतने और किसी विद्यालय ने न किए होंगे। डिग्रियाँ लेकर पद प्राप्त करना राष्ट्रीय सेवा नहीं। प्रचार और उद्धार के कामों को संभालना ही राष्ट्रीय सेवा है। अब तक गुरुकुल ने एक सौ इकतालीस स्नातक निकाले हैं। उनमें सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वालों की संख्या सत्तासी है। यह कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है कि हिन्दी भाषा को जितना प्रोत्साहन गुरुकुल से मिला है, उतना शायद ही और किसी विद्यालय से मिला हो।

गुरुकुल की उपयोगिता के विषय में पहले जनता में बड़ा संदेह फैला हुआ था। पर गुरुकुल से निकले हुए स्नातकों का सांसारिक जीवन देखकर इस विषय की सभी शंकाएँ शांत हो जाती हैं। इस एक सौ इकतालीस स्नातकों में उन्तीस तो गुरुकुलों में काम कर रहे हैं, नौ साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं, तेईस आर्य-समाज के उपदेशक हैं, पाँच सफल वैद्य हैं, अठारह व्यापार में लगे हुए हैं और सात विदेश में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से दो उत्तीर्ण होकर लौट आये हैं। डाक्टर प्राणनाथ हाल ही में इंग्लैंड से डाक्टर होकर लौटे हैं, एक और महाशय बैरिस्टर हो आए हैं। पिछले साल चार ब्रह्मचारी Senior Cambridge परीक्षा में सम्मिलित हुए और तीन पास हो गए। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी में भी काफी

अभ्यास हो जाता है। महाशय सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार ने हाल ही में ब्रह्मचर्य पर अंग्रेजी में एक ग्रंथ लिखा है। जिसकी शैली और भाषा दोनों ही परिमार्जित हैं। किसी यूनिवसिर्टी से के विद्यार्थी के लिए ऐसी पुस्तक लिखना गर्व का कारण हो सकता है।

गुरुकुल विद्यालय में एक आयुर्वेद विद्यालय भी है। यहाँ ब्रह्मचारियों को न बूटियों तथा रसों का भी ज्ञान हो जाता हैं। शरीर विज्ञान की शिक्षा भी इस वैद्यों को दी जाती है। हमें आशा हैं कि यहाँ के पढ़े हुए वैद्यों द्वारा आयुर्वेद का उद्धार होगा। वे केवल पुरानी लकीर के फकीर नहीं होते, बल्कि मानव शारीर के तत्त्वों को जानते हैं और शल्य-चिकित्सा में भी दखल रखते हैं।

गुरुकुल की प्राकृतिक शोभा को तो कहना ही क्या। बलवान् चरित्र ऐसे ही जलवायु में विकसित होते हैं। सामने गंगा की जल-क्रीडा है, पीछे पर्वतों का मौन संगीत। दाहिने-बाएँ मीलों तक शीशम और कत्थे के वृक्ष, ऐसी साफ छनी हुई, विमल वायु में सांस लेना स्वयं आत्मशुद्धि को एक क्रिया है। न शहरों का दूध-घी, न यहीं की स्वच्छ वायु। ब्रह्मचारी गंगा माता की गोद में किलोलें करते हैं, और बड़ी दूर तक तैरते चले जाते हैं, नगरों की दूषित जलवायु में यह गुण कहाँ। मगर पिछले बाढ ने विद्यालय को जो क्षति

पहुँचाई है, उसको देखते हुए अब विद्यालय का स्थान बदल देने का प्रश्न आवश्यक हो गया है। इसका प्रबंध भी हो रहा है।

[‘माधुरी’, अप्रैल, 1928 में प्रकाशित]

शांतिनिकेतन में

अभी हाल में भाई जैनेन्द्रकुमार, भाई माखनलाल चतुर्वेदी तथा पं. बनारसीदास जी ने शांतिनिकेतन की यात्रा की। निमंत्रण तो हमें मिला था, पर खेद है, हम उसमे सम्मिलित न हो सके। जैनेन्द्रजी ने वहाँ से लौटकर शांतिनिकेतन के विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, उन्हें हम धन्यवाद के साथ सहयोगी 'अर्जुन' से नकल करते हैं –

आजकल राजनैतिक गर्मागर्मी के काल में डॉ. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काम के सांस्कृतिक पहलू का महत्त्व हम लोग शायद ठीक-ठीक आकलन नहीं कर सकते, रवीन्द्र बाबू यों ही अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के व्यक्ति नहीं हो गए हैं। उनका एक संदेश है। उस संदेश को सुनने की प्रवृत्ति और मन:स्थिति गुलाम भारत में आज न हो, फिर भी वह संदेश अत्यंत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। हम बड़ी जल्दी अपने को सांप्रदायिकता और पंथों में जकड़ लेते हैं। यह 'परे रह' की प्रवृत्ति जीवन के लिए घातक है। राष्ट्रीयता बड़ी आसानी से एक पंथ-सी बन सकती है। इसके विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति को जागरूक रहना आवश्यक है। सांप्रदायिकता विशद चीज है, पर राष्ट्रीयता

पर आकर आदमी के उत्कर्ष की परिधि नहीं आ जाती – इस बात की चेतावनी महात्मा गाँधी के बाद रवीन्द्र के कार्य और रचनाओं द्वारा व्यक्ति को सबसे अधिक मिलती।

हम सब व्यक्तियों को एक ही सांचे से देखने की इच्छा करने की गलती न करें। निस्संदेह आज के युग में जिस कर्मण्यता की आवश्यकता है, प्रकट में वह रवीन्द्र बाबू के आस-पास में देखने में नहीं आयेगी, किंतु रवीन्द्र एक अपने ही भाव को अपने व्यक्तित्व में और अपनी संस्था में केन्द्रित मूर्तिमान करके रह रहे हैं ओर वह भाव भी अपनी कीमत रखता है।

शांतिनिकेतन भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृति और विचारधाराओं के सम्मेलन का केन्द्र हो रहा है। वहाँ उनको सुंदर समन्वय प्राप्त होता है। जर्मनी, जापान, तिब्बत सुमात्रा, चीन, लंका, गुजरात, पंजाब, यू. पी., डेनमार्क आदि सुदूरवर्ती प्रांतों और भूखंड से लोग आकर, वहाँ मिलते हैं, और एक होते हैं। शांतिनिकेतन से उस कलाभिरुचि का निर्माण हो रहा है, जिसमे प्रांतीयता की बाधा कम-से-कम रह जाती हे और उसमें महिमता का सादगी के साथ समन्वय हो रहा है। वह कलाभिरुचि कम-से-कम बंगाल के जीवन में तो क्रमश: गहरी उतरती जा रही है।

रवीन्द्र की प्रतिभा ने बहुतों को साधना-सचेष्ट किया है। शांतिनिकेतन आचार्य द्रो विधुशेखर भट्टाचार्य पुराने ज्ञानारूढ ब्राह्मणत्व की याद दिलाते हैं। जितने साधारण ढंग से वह रहते हैं, जैसी उन्मुक्त हँसी वह हँसते हैं, उतने ही गंभीर तत्त्वों के वह पंडित है, जीवन के पिछले तैंतीस वर्षों से वह भारत के पुरातत्व के उद्धार में लगे हैं।

श्री नन्दलाल बोस अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के कलाकार हैं। वह पिछले उनतालीस वर्षों से वहाँ रहकर कला का भंडार भर रहे हैं। वह इतने सादा ढंग से रहते है कि बताने पर भी विश्वास करना कठिन होता है कि यही महाशय नन्दलाल बोस है। उसी प्रकार श्री क्षितिमोहन सेन चालीस से ऊपर वर्षों से संत बानियों का संग्रह करन में लगे हुए हैं। कोई कष्ट नहीं है, जो उन्होंने नहीं उठाया। उनके पास इस तरह संतबानी का अपूर्व संग्रह है। इसी प्रकार अन्य अनेक साधक सस्ता नाम पाने की इच्छा से विमुख होकर विद्या के कोष को बढ़ाने में लगे हुए हैं। इन सबको अनुप्राणित करके एक जगह जुटाकर रखने बाली शक्ति कवीन्द्र की प्रतिभा है। इसके साथ ही श्री निकेतन भी है। वहाँ ग्राम-संगठन और ग्राम-सुधार का कार्य वैज्ञानिक ढंग पर होता है। डॉक्टर सहाय इस ओर विशेष मनोयोगपूर्वक काम करते हैं। इस कार्य का राष्ट्र के विधायक राजनैतिक कार्यक्रम की दृष्टि से भी कम महत्त्व नही है।

हाँ, कवीन्द्र से काफी देर तक बातचीत हुई। वह हिन्दी स्पष्ट नहीं बोल पात। उन्होंने अंग्रेजी में ही बातें कीं, परंतु हम लोग हिन्दी में ही बोलते रहे। बात अधिकतर हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को लेकर ही होती रही। उस समय वह खूब खुश थे। एक ऊनी कुर्ता और किनारों पर चुनी हुई एक महीन धोती और पैरों में चप्पल पहने थे। हल्की-सी एक चादर गले में पड़ी थी। उनकी शारीरिक अवस्था ठोक है, पर बुढ़ापा तो आ ही गया है। इसके लक्षण शरीर पर छिपते नहीं हैं।

ज्यादातर संस्थाओं में दो तरह के वातावरण होते हैं, या तो भाषामय, जहाँ भाषा की शिक्षा होती है, और जीवन के स्तर की लहरें अधिक देखने में आती हैं। वहाँ एक ओर सूखी (Academic) विद्या की पख होती है, दूसरी ओर रंग-बिरंगे फैशन के रूप में दीख पड़ते हैं। दूसरा गुरुकुलीय, जहाँ जीवन से अलग होकर तपस्यारत विद्या की रुखाई हवा में व्याप्त होती है। इन दोनों ही प्रकारों से भिन्न होकर वहाँ कुटुम्ब का-सा वातावरण है। इससे हमारी वृत्ति में एकांगिता नहीं आती। एक प्रकार की पूर्णता रहती है। तमाम शांतिनिकेतन को देखकर ऐसा भाव होता है कि सादगी के साथ-साथ बड़े सुंदर ढंग से सुरुचि की रक्षा की गई है। अलंकार और शृंगार कहीं नहीं है, पर कला सब जगह है।

['हंस', जनवरी 1933]

आजादी की लड़ाई

आजादी की लड़ाई शुरू हो गई। महात्मा गाँधी ने छः अप्रैल को समुद्र के तट पर डंडी में गुलामी की बेडी पर पहला हथौड़ा चलाया और उसकी झंकार सारे देश में गूँज उठी। पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे हैं। मजाक भी उड़ाया गया। एक गवर्नर ने अपने खुशामदी टट्टुओं को जमा करके अपने दल के फफोले फोड़ते हुए इस संग्राम को दुःखमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था, कि यह दुःखमय प्रहसन दो सप्ताह ही में आजादी का एक प्रचंड प्रवाह सिद्ध हो जाएँगा, जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया, जो ऐसी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन चुनकर जेल भेज दिए गए, अफसरों को नए-नए अधिकार दिए गए, वायसराय ने भी अपने स्वरक्षित अस्त्र निकला लिए, यहाँ तक कि इस लू और गर्मी में देवताओं को पर्वतशिखरों से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पड़ा, जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी, लेकिन स्वराज्य-सेना के कदम आग ही बढ़े जाते हैं। जैसे बच्चे हार जाते हैं,

तो दांत काटने लगते हैं, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थों जनता पर डंडों और गोलियों की बौछार हो रही हे कहीं जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है, (जिस गवर्नर का हमने ऊपर जिक्र किया है, उसी ने एक-दूसरे मजमे में जमींदारों को इन विद्रोहियों की खबर लेने की सलाह भी दी थी) फिल्मों पर रोक लगाई जा रही है। तार की खबरों का सेंसर किया जा रहा है। हमने इन सब बातों की कल्पना पहले ही कर ली थी। कोई बात हमारी आशाओं के खिलाफ नहीं हुई। अंग्रेजों की दानवता का नाच हम देख चुके हैं। कायरता, कमीनापन, निर्दयता आदि गुणों में इस जाति से बाजी ले जाना मुश्किल है। फिर भी हमारा जो कुछ अनुमान था, उससे कुछ ज्यादा ही हो रहा है। न कोई कानून है, न कायदा, न नीति, न धर्म। बस जिधर देखिए, लबड़-धों-धों, एक घबराए हुए आदमी की बौखलाहट। एक ही अपराध के लिए दो महीने से दो साल तक की सजा और वह भी कठोर। मगर हम इन बातों की शिकायत नहीं करते। इन्हीं अन्यायों से तो हमारी विजय है। सन्निपात मौत के चिह्न हैं।

हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के कायल हैं। जो बात की, खुदा की कसम लाजवाब की! न जाने कहाँ से नमक-कर खोज निकाला, कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। कोई दूसरा ऐसा कर नहीं, जो गरीब से गरीब आदमी से वसूल किया जाता हो, और न कोई दूसरा कर ऐसा है, जिसका

ऐसेम्बली में इतना विरोध किया हो। अगर हमारी स्मृति भूल नहीं करती तो शायद 1924 में ऐसेम्बली ने इस कर को अस्वीकार कर दिया था और वाइसराय को इसे अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करना पड़ा था। कर का व्यापक नियम है, कि वह विलास की वस्तुओं पर लगाया जाना चाहिए। जो चीज जीवन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी हवा और पानी, उस पर कर लगाना नीति-विरुद्ध है। अंग्रेजी राज्य के पहले, भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया-भर में भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ नमक पर कर लगाया जाता है। मुसलिम स्मृतिकारों ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है, पर हम 150 वर्षों से यह कर देते आए हैं, और मजा यह कि जिस वस्तु पर दो आना मन लागत न आवे, उस पर सवा रुपये मन कर लिया जाता है जो लागत का दस गुना है। सबसे बड़ी बात यह है, कि इस कर को सामूहिक रूप से निहायत आसानी से तोड़ा जा सकता है। ऐसा कोई भूभाग नहीं, जहाँ लोनी मिट्टी न हो और शहर या गाँव, दोनों ही जगहों के आदमी बड़ी संख्या में जमा होकर इसे तोड़ सकते हैं, और सरकारी नमक को बाजार से निकाल बाहर कर सकते हैं। नौकरशाही ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया, जितना पशुबल, संभव था, उससे काम लिया, पर कर टूट गया। जिस नियम के भंग करने वालों को सरकार दंड न दे सके, जिसकी रक्षा करने के लिए डंडे के सिवा और कोई

दूसरा साधन न हो, वह कानूनी देवताओं में भले स्वरक्षित रह, पर व्यावहारिक रूप से वह टूट गया और सरकार के लिए अब इसके सिवा कोई उपाय नहीं है, कि इस कर को मंसूख कर दे और अपनी हार स्वीकार कर ले। गवर्नमेंट सोचती होगी कि जब नमक के बड़े-बड़े कारखाने खुल जाएँगे, तो हम उसे जब्त कर लेंगे और इस तरह आजाद नमक का सिर न उठाने देंगे, लेकिन हमारे पास इस चाल का यही जवाब है कि हम अपने-अपने घरों में नमक बनाना उतना ही जरूरी समझ लें, जितना भोजन बनाना। फिर हम देखेंगे कि सरकार अपना नमक कैसे हमारे गले मढ़ती है। लक्षणों से मालूम होता है, कि नमक आंदोलन असर कर रहा है, और नमक के व्यापारियों ने सरकारी नमक मंगाने में आना-कानी शुरू कर दी है। सरकार के इस प्रचंड दमन के फलस्वरूप बाज बड़े शहरों में जनता भी शांति के आदर्श को न निभा सकी, और कराची, बम्बई, पूना और कलकत्ता आदि शहरों में कुछ गोलमाल हुआ, जिससे पुलिस को अपने दिल के अरमान निकालने का अच्छा मौका मिल गया, पर इन दुर्घटनाओं का दोष अगर किसी के ऊपर है, तो वह सरकार है। अगर वह सत्याग्रहियों को कायदे के अनुसार पकड लेती, तो कहीं कुछ न होता, जलूसों को रोकना, सत्याग्रहियों को डंडों से पीटना जनता से अगर न देखा जाएँ, तो हम उन्हें क्षम्य समझते हैं। अगर नौकरशाही को यही विश्वास है, कि निरस्त्र जनता

पर लाठियों का प्रहार करके, वह उन पर धाक जमा सकती है, तो यह उसकी भूल है। इन चारों स्थानों में ही पुलिस ने जिस गुंडेपन का परिचय दिया है, वह असभ्य से असभ्य जातियों को कलंकित करने के लिए काफी है।

क्या मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं?

अभी तक तो सरकार के लिए यह कहने की गुंजाइश बाकी थी, कि इस आंदोलन में केवल कांग्रेस के गरम दल वाले हो शामिल हैं, लेकिन दिन-दिन: उस पर यह हकीकत खुलती जाती है, कि आजादी की लड़ाई में देश के सभी दल मिले हुए हैं। और अगर उसके मिलने में कुछ कसर थी, तो वह सरकार की हिमाकत और पागलपन की बदौलत पूरी हुई जाती है। पुरानी कहावत है – बुरे दिन आते हैं, तो बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। इस वक्त ऐसा जान पड़ता है, कि अंग्रेजों के बुरे दिन आ गए हैं, नहीं तो अंग्रेजी कपड़े को अन्य देशों के कपड़ों से कम महसूल पर लाने का प्रस्ताव पास करने की जरूरत ही क्या थी। गैर सरकारी बहुमत इस प्रस्ताव के विरुद्ध था, पर सरकार ने अपनी जिद से उसे पास करके ही छोड़ा। नतीजा क्या हुआ ! आज पं. मदनमोहन मालवीय, मि. केलकर, मि. अणे, मि. हसन इमाम

हमारे साथ हैं और व्यापारी-दल तो तो बिलकुल अलग ही हो गया। अब सरकार को माडरेटों में नाम लेने के लिए दो-चार लिबरल और रह गए हैं। हमें आशा है, कि उसकी कोई नई हिमाकत यह कमाल भी कर दिखाएगी। हालांकि लिबरलों के विषय में हमें संदेह है कि काई अनीति, कोई अत्याचार इन्हें जगा सकता है। इनकी आशा अपार है और धैर्य अनंत। वायसराय, सेक्रेटरी, अंडरसेक्रेटरी और भी जिसकी वाणी की कुछ इज्जत है, कह चुके कि डोमिनियन स्टेटस अभी बहुत दूर है, लेकिन हमारे लिबरल भाई हैं, कि उस 'बहुत दूर' को 'बहुत नजदीक' समझने के लिए बेकरार हैं। लिबरलों की राजनीतिक डिनर-पार्टी और ड्राइंग-रूम तक महदूद है, इसलिए सरकार के अंतिम आधार अगर लिबरल हों, तो यह सरकार और लिबरल दोनों ही के लिए आपस में हाथ मिलाने और बधाइयाँ देने का अवसर हो सकता है। अगर इस तिनके का सहारा सरकार लेना चाहती है, तो शौक से ले, मगर सरकार ने शुरू से जिस हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की उपासना की है, उसे इस संकट के अवसर पर कैसे भूल जाती | कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आंदोलन में कांग्रेस के साथ नहीं हैं। मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बनकर कैद हों, मार खाएँ, कितनी ही कांग्रेस कमेटियों के प्रधान और मंत्री हों, लेकिन फिर भी यही कहा जाता है, कि मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं। जमैयतुल-उलमा

जैसा सर्वमान्य मंडल पुकार-पुकारकर कह रहा है, कि नमक का महसूल इसलामी शरीयत के खिलाफ है, पर कहने वाले कहे जाते हैं – मुसलमान इस आंदोलन के साथ नहीं। मालूम नहीं, वह यह कह-कहकर किसे धोखा देना चाहते हैं। हाँ, हम यह मानने को तैयार हैं कि हमारे खान बहादुर, साहबान, जिनकी संख्या ईश्वर की दया से, अंग्रेजों की असीम कृपा होने पर भी, बहुत ज्यादा नहीं हैं मगर खाँ साहब नहीं हैं तो बेशक हमारे साथ तो राय साहब भी तो नहीं है। यों कहिए कि यह उन लोगों का आंदोलन है, जो अपने सारे संकटों का मोचन एकमात्र स्वराज्य ही को समझते हैं। जो गरीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं, या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते हैं, और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है, कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे ! इसमें न हिन्दू की कैद है, न मुसलमान की। दोनों ही समान रूप से यह संकट झेल रहे हैं, तो दोनों समान रूप से शरीक हैं। मुसलमान आजादी के प्रेम में हिन्दुओं से पीछे रह जाएँ, यह असंभव है। मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्की यह सब मुसलमानों ही के देश हैं। देखिए अपनी आजादी के लिए उन्होंने क्या-क्या किया और कर रहे हैं। वह कौम कभी आजादी के खिलाफ नहीं जा सकती। दो-चार मौलवी , दो-चार 'सर', दस-पाँच 'आनरेबुल' यह हांक लगाये जाएँगे, शौक से लगावें। हिन्दू हों या मुसलमान, जो अंग्रेजी राज्य में

धन और अधिकार के सुख लूट रहे हैं, वे अंग्रेजी सरकार के परम भक्त हैं, और रहेंगे और रहना चाहिए। वे किसी के तो नमक हलाल बने रहें। जिसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने बाहुबल पर भरोसा नहीं है, जो अंग्रेजों की शरण आकर कोई ओहदा पा जाना ही अपनी जिंदगी का निर्वाण समझता है, वह हमेशा उस पक्ष की तरफ रहेगा, जहाँ उसे सफलता का पूरा भरोसा है। ऐसे लोग खतरे की तरफ भूलकर भी न आवेंगे। अमेरिका के गुलाम भी तो 'गुलामी की आजादी' की लड़ाई में मालिकों के पक्ष में लड़े थे। ऐसे गुलाम प्रकृति के लोग हमेशा रहेंगे और उनके रहने के किसी आंदोलन का नाश नहीं होता। मगर हमें यह कोशिश करते रहना चाहिए, कि हमारी इस मुसाहलत की हालत में हवा का झोंक न लगने पाए, नहीं तो वह घातक हो जाएगा। कहीं अछूतों को हमसे भड़काने की कोशिश की जाएँगी और की जा रही है, कहीं हिन्दू-मुसलमानों को लड़ा देने क मंसूबे सोचे जाएँगे। हमें इन सब चालों को तीव्र दृष्टि से देखते रहना चाहिए। क्या जमाने की खूबी है, कि जिन लोगों ने अछूतों को उससे कहीं ज्यादा दलित किया है, जितना कट्टर-से-कट्टर हिन्दू-समाज कर सकता था, वह आज अछूतों के शुभचिंतक बने हुए हैं। बेगार की सख्तियों का दोष किस पर है, हिन्दू-समाज पर या सरकार पर? उन्हें अपढ़ रखने का दोष किस पर है, हिन्दू-समाज पर या सरकार पर? उन्हें ताड़ी, शराब, गांजा, चरस पिला पिलाकर

कौन रुपये कमाता है, सरकार या हिन्दू समाज? प्रारंभिक शिक्षा का बिल सरकार ने पेश किया था, या स्वर्गीय मि. गोखले ने? उसे किसने धनाभाव का बहाना कर नामंजूर कर दिया, हिन्दू-समाज ने या सरकार ने? हमें पूरा विश्वास है, कि जिस सरकार ने कितनी ही अछूत जातों को जरायम पेशा बना दिया, उसकी शुभ-चिंतना पर हमारे दलित-समाज के नेता लोग भरोसा न करेंगे। हिन्दू-समाज अपने दलित भाइयों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगा है और वह दिन दूर नहीं है, जब आर्य और अनार्य, ऊँच और नीच की कैद नाम को भी बाकी न रहेगी। संभव है, देहातों के कट्टर हिन्दू कहीं-कहीं अब भी उनके साथ वही पुराना बर्ताव करते हों, लेकिन विचारशील हिन्दू-समाज अब उस अन्याय को कायम न रहने देगा।

आजादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं?

इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। हमने आशा की थी, कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्रवर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहाँ भी होगा, पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो, या वकील, या प्रोफेसर, या छात्र, सभी अंग्रेजी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उसकी हड्डियों पर

दौड़ने को तैयार हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्नानवे सैकड़े ग्रेजुएटों के लिए सभी द्वार बन्द हैं, पर निराशा में भी आशा लगाए हुए बैठे हैं, कि शायद हमारे ही तकदीर जाग जाएँ। देख रहे हैं, कि कांग्रेस के आंदोलन से ही अब थोड़े-से ऊँचे ओहदे हिन्दुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझे बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या आत्मगौरव नहीं, उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मंदोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। हमारा वकील समुदाय तो इस संग्राम से ऐसा भाग रहा है, जैसे आदमी की सूरत देखते ही गीदड़ भागे। हमारे बड़े-से-बड़े नेता — जिनकी जूतियों का तस्मा खोलने के लायक भी यह लोग नहीं — धड़ाधड जेलों में बन्द किए जा रहे हैं, पर यह है कि अपने बिलों में मुँह छिपाए पड़े है। यहाँ तक कि स्वदेशी वस्तु-व्यवहार की प्रतिज्ञा पर दस्तखत करते हुए भी उसके हाथ काँपने लगते हैं और कलम हाथ से छूटकर गिर पड़ती है। और आजादी का नमक देखकर तो उन्हें जूड़ी-सी चढ़ आती है। हमें यह देखने का अरमान हो रह गया, कि कोई वकील किसी जत्थे का नायक होता। नहीं, वह तमाशा देखना भी खतरनाक समझते हैं। बस, मुल्ला को दौड़ मस्जिद तक। कचहरी गए, और घर आए। उन्हें दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं। इस बेगैरती का भी कोई ठिकाना हैं | अभी किसी सरकारी पार्टी में शरीक होने का नेवता मिल

जाएँ, तो मारे खुशी के पागल हो जाएँ। नेवते के कार्ड के लिए बड़ी-बड़ी चालें चली जाती हैं, नाक रगड़ी जाती हैं, और वह कार्ड तो साक्षात् कल्प-वृक्ष ही है। गोरी सूरत देखी और माथा जमीन पर टेक दिया। ऐसे लोगों के दिन अब गिने हुए हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देशद्रोहियों के लिए कोई स्थान न होगा। वह जनता, जिसे यूनिवर्सिटियों की हवा नहीं लगी, और आंदोलनों को तरह इस संग्राम में भी आगे-आगे है। हमारे छोटे-छोटे दूकानदार, मजदूर, पेशेवर ही सैनिको को अगली सफों में हैं और भविष्य उन्हीं के हाथ में है। लक्षण कह रहे हैं, कि सूट-बूट वाले अंग्रेजों के गुलामों को बही हालत होने वाली है, जो रूस में हुई है।

यह लोग खुद अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जनता और सब मुआफ कर देती है; पर देशद्रोह को वह कभी मुआफ नहीं करती। राष्ट्रीय संस्थाओं को देखिए — गुजरात विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, अभय-आश्रम, गुरुकुल-कांगड़ी, प्रेम-विद्यालय वृन्दावन आदि ने अपने-अपने सिपाहियों के जत्थे भेजे और भेज रहे हैं। उनके छात्र जान हथेली पर रखे मैदान में निकल पड़े हैं, पर यूनिवर्सिटियों ने भी कोई जत्था भेजा? हमें तो खबर नहीं। यूनिवर्सिटियों में भी कोई प्रोफेसर आगे बढ़ा? कहाँ की बात ! अपने लोग यह रोग नहीं पालते। आनंद से भोजन करें, रूसी उपन्यास पढ़ें, ताश खेलें, ग्रामोफोन या रेडियो का आनंद उठायें, या इस झंझर में पड़े? जिंदगी सुख

भोगने के लिए है, झींकने के लिए नहीं। काश यह यूनिवर्सिटियाँ न खुली होतीं, काश आज उनकी ईंट-से-ईंट बज जाती, तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। यह विद्यालय नहीं, गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं। स्वाधीन भारत ऐसे विद्यालयों को जड खोदकर फेंक देगा।

देहातों में प्रोपेगंडे की जरूरत

अब तक हमारे आंदोलन शहरों ही तक महदूद रहे हैं, लेकिन नमक-कर-भंग देहातों में भी जा पहुँचा है। सत्याग्रही दलों का देहातों से पैदल निकलना ऐसा प्रोपेगंडा है, जिसके महत्त्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। नौकरशाही का आतंक देहातों पर शहरों से कहीं ज्यादा छाया हुआ है। वहाँ सब-इंसपेक्टर का दर्जा ईश्वर से कुछ हो कम होता है और कांस्टेबुल तो खुदमुख्तार बादशाह ही है। कोई आंदोलन जिससे पुलिस के रोब-दाब में फर्क पड़े, उसकी हवा भी वहाँ नहीं पहुँचने पाती। मगर अब समय आ गया है, कि हमारे स्वयंसेवक बड़ी संख्या में देहातों में पहुँचें और जुलूसों और जुलूसों से लोगों में राजनैतिक भाव करें और उन्हें आने वाले महासंग्राम के लिए तैयार करें। अगर देहातों में यह आग लग गई, तो फिर किसी के बुझाये न जुझेगी। हम यह मानते हैं, कि देहातों में नौकरशाही दमन के कठोर-से-

कठोर शास्त्रों का प्रहार करेगी, जमींदारों को भड़काएगी, तरह-तरह की ग़लतफ़हमियाँ फैलाएगी, पर हमें इन कठिनाइयों का सामना करना है। हमें यह समझा देना है, कि इस राज्य में सबसे ज्यादा हमारे देहात ही सताए जाते हैं, और स्वराज्य में सबसे ज्यादा हित देहात वालों का ही सिद्ध होगा।

हिन्दू-मुसलिम बांट-बखरे का प्रश्न

भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते, कि अब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाएँ, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, उसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह हैं, कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा। पूरी एकता तो स्वराज्य मिल जाने पर ही हो सकती है। हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिशें की गईं, यहाँ तक कि आज भी सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल-सम्मेलन करने में लगे हुए हैं, मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला? समझौता न हुआ, न हुआ। कोई रोजगार शुरू किया जाता है, तो पहले ही से यह निश्चय नहीं कर लिया जाता, कि हम इतने रुपये फी सैकडे नफा लेंगे। पहले तो इसके

लिए पूंजी जमा की जाती है। फिर संगठन शुरू होता है, तब माल की तैयारी होती है, इसके बाद खपत का सवाल होता है, आखिर में नफे का प्रश्न आता है। यहाँ पहले ही से नफे के हिस्से तय करने की सलाह दी जाती है। अरे भाईजान, पहले पूंजी तो लगाओ, अभी नफे का क्या सवाल है? हिन्दुस्तान अगर इतने दिनों की गुलामी से कुछ सीरत सका है, तो वह यह है कि समाज के किसी अंग को असंतुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया में उन्नति में नहीं कर सकता। हमें विश्वास है, कि भारत इस सबक को अब कभी न भूलेगा। महात्मा गांधी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहें ले लें, इसमें हिस्से का सवाल ही नहीं। स्वराज्य के अधीन राजपद धन कमाने का साधन नहीं, प्रजा की सेवा का साधन होगा। हम तो यही समझे बैठे हैं। अगर उस दा में भी हमारे मुसलमान भाई राजपदों या मेम्बरियों में बड़ा हिस्सा लेने का आग्रह करेंगे, तो स्वराज्य-सरकार उनके मार्ग में बाधक न बनेगी। उस वक्त राजपद वहीं स्वीकार करेंगे, जो देश के लिए त्याग करना चाहेंगे, धन-लोलुप और विलासी जनों के लिए स्वराज्यशासन में कोई स्थान न होगा।

मशीनगन और शांति

शांति स्थापित करने के दो साधन हैं। एक तो मानवी है, दूसरा दानवी। एक मशीनगन है, दूसरा देश की वास्तविक दशा का समझना और उसके अनुकूल व्यवहार करना। सरकार ने अपने स्वभावानुसार मशीनगन से काम लेना ही उचित समझा है। इसका परिणाम क्या होगा, सरकार को इसकी चिंता नहीं। पुलिस और सेना उसके पास है। देश में जितने स्वाधीनता के उपासक हैं, वह सब बड़ी आसानी से तोप का शिकार बनाए जा सकते हैं। भारत गरीब है, यहाँ ऐसे आदमियों की कभी कमी न रहेगी, जो पेट के लिए अपने भाइयों का गला काटने के तैयार रहें। कांग्रेस के लोग जेल में पहुँच ही गए है। और दलों के इने-गिने आदमी हैं, उनको फांस लेना और भी आसान है। रहे हमारे लिबरल भाई, उनकी परवाह ही किसे है? सरकार उनकी सहायता के बगैर भी राज कर सकती है। टैक्सों को दूना कर देने का उसे अख्तियार है। इस तरह वह इससे बड़ी फौज भी रख सकती है। मशीनगनों के सामने चूं करने का किसे हौसला हो सकता है। अंग्रेज अधिकारियों के वेतन बड़ी आसानी से बढ़ाए जा सकते हैं। कुछ थोड़े-से ओहदे हिन्दुस्तानियों को देकर बड़ी आसनी से काम लिया जा सकता है। समा चार-पत्रों को एकदम बन्द कर देने से फिर कहीं से विरोध की आवाज

भी न आवेगी। सरकार अपने दिल में संतोष कर सकती है, कि अब किसी को कोई शिकायत नहीं रही। रिफार्म की, गोलमेज-कॉफ्रेंस की और डोमिनियन स्टेट्स की चर्चा हो व्यर्थ है। यह इसी दानवी नीति का फल है, कि आज भारत में अंग्रेजों का कोई दोस्त नहीं है। जो लोग अपने स्वार्थवश सरकार की खुशामद करते हैं, वे भी उसके भक्त नहीं हैं। ऐसा प्रजा पर राज करना, अगर अंग्रेजों के लिए गौरव की बात है, तो हम नहीं समझते, कि वह अपनी सभ्यता और उच्चता का किस मुँह से दावा कर सकती है। अगर अंग्रेजों की जगह इस वक्त हब्शी होते, तो वे भी दमन ही तो करते। दमन शासन का सबसे निकृष्ट रूप है और अंग्रेजों ने उसी का आश्रय लिया है। क्या उनका ख्याल है, कि जिस शक्ति से दबकर उन्होंने सुधार किए और कॉफ्रेंस के वादे किए, वह शक्ति अब गायब हो गई है? दमन उस शक्ति को दिन-दिन मजबूत कर रहा है। उस राज्य में लिए इससे बढ़कर कलंक की दूसरी बात नहीं हो सकती कि उसे हर एक बात के लिए मशीनगनों की ही शरण लेना पड़े। जिस राज्य में जनता पर महज इसलिए गोलियाँ चलाई जाएँ, कि वह अपने लीडरों की गिरफ्तारी पर शोक मनाने के लिए जमा होती है, उसे चल-चलाव के दिन अब आ गए हैं। पेशावर में जो हत्याकांड हुआ है, वह कभी न होता, अगर नौकरशाही ने मशीनगन। और फौजी हथियारों से जनता को धमकाया न होता। वह जमाना गया,

जब जनता पशुबल के प्रदर्शन से डर जाया करती थी। अब वह डरती नहीं, वह उसे अपनी पराधीनता का हेतु समझकर उसकी जड खोदने के लिए और दृढ संकल्प कर लेती है। नमक कानून टूट गया। सरकार की मशीनगनें उसको न बचा सकीं। लाखों नमक बनाने वाले आज गर्व से सिर उठाए घूम रहे हैं। आर्डिनेंस भी टूट जाएँगा। कोई कानून, जिसको राष्ट्र के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया है और जिसका केवल पशु बल पर आधार है, अब जनता उसके सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं है। सरकार अगर आँखें बन्द रखना चाहती हैं, तो रक्खे, पर उसके आँखें बन्द कर लेने स देश की स्थिति नहीं बदल सकती। देश अब अपनी किस्मत का मालिक आप बनना चाहता है। और उसकी कीमत अदा करने का निश्चय कर चुका है। पेशावर और कराची जैसे कांड उसके पतन को और निकट ला रहे हैं।

[‘हंस’, अप्रैल 1930]

उर्दू में फिरऔनियत

(फिरऔनियत – मिस्र के बादशाह 'फिरौन' से, जिसने घमड़ के मारे खुदाई का दावा किया था, और जिसे हजरत मूसा के शाप ने समाप्त किया।)

मिस्टर नियाज फतेहपुरी उर्दू के एक प्रतिष्ठित पत्रकार हैं यानी उसमें इस तरह लिखने की जनमजात प्रतिभा है कि पढ़ने वाले भड़क जाएँ। इतना ही नहीं, उसमें देश-भक्ति के तमाम दावों के बावजूद हद दर्जे की सांप्रदायिक भावनाओं और विचारों को प्रकट करने का आश्चर्यजनक साहस भी है। जिस व्यक्ति में यह दोनों तत्त्व एकत्र हो जाए उसके सफल पत्रकार होने में संदेह की गुंजाइश नहीं। उधर सरकार भी खुश, खरीददार भी खुश और समझदार लोग हैरत से दांतों तले उंगली दबाये हुए। इन महाशय ने उर्दू दुनिया में एक लेखन-शैली का आविष्कार किया जिसे उलझी हुई शैली कह सकते हैं और शुरू में 'रक्कासा' और 'मुगलिया' और 'क्यूपिड' और इसी तरह के दूसरे मौलवियाना विषयों पर लिखते रहे। आप आजकल

इनसाइक्लोपीडिया या दूसरी पत्रिकाओं में गंभीर लेखों का अनुवाद, उनका हवाला दिए बगैर, किया करते हैं और इस ख्याल से उनकी गिनती विद्वानों में की जा सकती है। आप रूढियों के तोड़ने वाले हैं और मौलवियों के सुधार के प्रबल पोषक। समय-समय पर आप अपने स्वतंत्र चिंतन को प्रकाशित करने के लिए धार्मिक मान्यताओं और नैतिक समस्याओं पर चोटें किया करते हैं जिससे मित्र-मंडली में अच्छी चहल-पहल हो जाया करती है। शायद इसी वजह से कोई आपकी आपत्तियों का उत्तर देने की जरूरत नहीं समझता। आप पिछले तीन सालों तक हिन्दुस्तानी एकेडेमी के एक विशिष्ट सदस्य रहे मगर नए चुनाव में किसी कारण से न आ सके। यह तो उनके एकेडेमी पर गुस्सा होने का कोई कारण नहीं हो सकता क्योंकि खुदा के फजल से आप इतने तंगदिल नही है मगर शायद आपकी अनुपस्थिति में एकेडेमी ने सरासर नियमों का उल्लंघन और सांप्रदायिक भावना को बल देना शुरू कर दिया है और इसीलिए आपका आजाद कलम इधर दो-तीन-महीनों से एकेडेमी की बखिया उधेडने में लगा हुआ है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जन्म उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं में सशक्त और उन्नति करने के लिए हुआ और दोनों ही भाषाओं के कुछ विशिष्ट लोग उसके सदस्य बनाए गए। हिन्दी के विभाग में किसी मुसलमान लेखक को नामजद नहीं किया गया क्योंति इस सूबे में हिन्दी का कोई मुसलमान

लेखक नहीं है। उर्दू विभाग में दो-एक हिन्दू भी नामजद कर दिए गए इसलिए कि हजरत नियाज चाहे उनके अस्तित्व से इनकार करे पर उर्दू में हिन्दुओं को एक अच्छी-खासी संख्या है। एकेडेमी चूँकि एक साहित्यिक संस्था है जहां उसने तत्त्व चिंतन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति की ओर ध्यान दिया वहाँ साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की और अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध नाटककार के कुछ नाटकों को दोनों भाषाओं में प्रकाशित करने का निश्चय किया। हिन्दी अनुवाद मुझको सौंपा गया, उर्दू अनुवाद मुंशी दयानरायन साहब निगम एडिटर 'जमाना' और मुंशी जगत मोहनलाल साहब 'खां' को। हजरत नियाज उस वक्त एकेडेमी के मेम्बर थे। मगर तब उन्होंने इन प्रस्ताव के विरोध में जबान खोलना किसी वजह से ठीक नहीं समझा। अब आपको यह आपत्ति है कि अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद क्यों किया गया और क्या इसके लिए मुसलमान लेखक न मिल सकते थे। आपके खयाल में कोई हिन्दू उर्दू लिख ही नहीं सकता चाहे वह सारी उम्र इसकी साधन करता रहे और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह माँ के पेट से लेकर आता है | यह दावा इतना गलत, पोच, लचर और बेवकूकी से भरा हुआ है कि इसके जवाब की जरूरत नहीं। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि जिस जबान के साहित्यकार इतने तंग-नजर, अपने घमंड में फूले हुए हों उसका खुदा ही

मालिक है। मुसलमानों पर यह आम एतराज है कि उन्होंने हिन्दू शायरों और लिखने वालों का कभी सम्मान नहीं किया। यहाँ तक कि नसीम और सरशार भी उर्दू के बड़े लिखने वालों के दायरे से बाहर कर दिए गए मगर ऐसे ढिठाई की हिम्मत आज तक किसी ने न की थी। उसका सेहरा मिस्टर नियाज के सर है। मैं यह मानने के लिए तैयार हूँ कि उर्दू जबान पर निसबतन् मुसलमानों के एहसान ज्यादा हैं लेकिन यह नहीं मान सकता कि हिन्दुओं ने उर्दू में कुछ किया ही नहीं। आज करोडों हिन्दू उर्दू पढ़ते हैं, लाखों लिखते हैं, हजारों इस जबान में साहित्य-रचना करते हैं चाहे कविता में, चाहे गद्य में, और उर्दू की हस्ती हिन्दुओं के सहयोग से कायम है। पंजाब के मुसलमान पंजाबी लिखते और बोलते हैं, बंगाल के मुसलमान बंगाली, सिंध के सिंधी, गुजरात के गुजराती, मद्रास के तामिल। उर्दू बोलने वाले हिन्दू या मुसलमान ज्यादातर इस सूबे में हैं। कुछ पंजाब और हैदराबाद में। अगर इस बात की छानबीन का कोई सही तरीका हो कि कितने हिन्दू उर्दू बोलते हैं और कितने मुसलमान तो मेरे ख्याल से दोनों की तादाद में बहुत ज्यादा फर्क न नजर आएगा। यह दूसरी बात है कि हजरत नियाज हिन्दुओं को उर्दू को उर्दू ही न कहें। इसी तरह हिन्दू भी मुसलमानों की उर्दू को उर्दू न समझें, तो उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अगर मुसलमान उर्दू में अरबी और फारसी लफ्ज ठूँस-ठूँस कर उसे इस्तामी रंग देना चाहता है तो

हिन्दू भी उसमें हिन्दी और भाषा के शब्द दाखिल करके उसे हिन्दू रंग देने का इच्छुक हो सकता है। उर्दू न मुसलमान की बपौती है न हिन्दू की। उसके लिखने और पढ़ने का हक दोनों को हासिल है। हिन्दुओं का उस पर हक पहला है क्योंकि वह हिन्दी को एक शाखा है, हिन्दी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है और सिर्फ कुछ थोडे से अरबी और फारसी शब्दों के दाखिल कर देने से उसकौ असलियत नहीं बदल सकती, उसी तरह जैसे पहनावा बदलने से राष्ट्रीयता या जाति नहों बदल सकती। हजरत नियाज चाहे जितनी ही आँखें लाल-पीली करें मगर हिन्दू उर्दू पर अपने हक से अपना हाथ नहीं खींच सकता और न वह उसे अपने ढंग पर लिखने ही से बाज आ सकता है उसी तरह जैसे मुसलमान उसे अपने ढंग पर लिखने से बाज नहीं आते। हिन्दू उर्दू का खून कर रहे हैं। उसी तरह हिन्दू भी कह सकता है मुसलमान उर्दू के गले पर कुंद छुरी फेर रहे हैं। बंटवारा इसी तरह हो सकता है कि मुसलमान लिखें, मुसलमान पढ़ने वालों के लिए, हिन्दू लिखेगा हिन्दू पढ़ने वालों के लिए, मगर यह नहीं हो सकता कि हिन्दू उर्दू लिखने-पढ़ने से बिल्कुल किनारा कश हो जाएँ और मुसलमानों की लिखी हुई किताबें पढ़कर अपना संतोष कर लें। वह इस गौण स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं और हर आंदोलन जो उर्दू जबान की तरक्की के लिए अमल में आए उसमें हिन्दू अपनी हैसियत से

शरीक होने का हक रखते हैं और मुझे यकीन है कि हजरत नियाज जैसे तंग-नजर लोगों को छोड़कर ऐसे मुसलमान बहुत कम होंगे जो हिन्दुओं के इस हक से इंकार कर सकें। एकेडेमी की जिस सब-कमेटी पर उर्दू अनुवादकों का चुनाव करने का दायित्व है उसमें काफी तादाद मुसलमान साहबान की है। अगर वह लोग हिन्दुओं को इस हद तक नालायक नहीं समझते, जितना हजरत नियाज समझते हैं और कुछ हिन्दू लेखकों की पिछली सेवाओं या साहित्यिक रुचि का सम्मान करना उन्हें उचित मालूम होता है तो किसी को शिकायत का मौका न होना चाहिए। मिस्टर निगम ने उर्दू को जो खिदमतें की हैं उनसे इंकार करना साहित्य के प्रति ऐसी निर्लज्ज कृतघ्नता है और हजरत नियाज से ही मुमकिन है। कौन अंदाजा कर सकता है कि मिस्टर निगम ने 'जमाना' के प्रकाशन में कितने नुकसान उठाए हैं। उस पर खानदानी जायदाद ही नहीं लुटा दी बल्कि अपनी जिंदगी भी उनको भेंट कर दी और आज एक तंगदिल अखबारनवीस को यह कहने की हिम्मत होती है कि पच्चीस साल की इस साहित्यिक सेवा कुछ ही मूल्य ही नहीं। हजरत खां उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं। उनकी कविता शायद हजरत नियाज भी कद्रदाँ हों मगर आपकी क़द्रदानी ज्यादा जबानी जमाखर्च तक जा सकती है। रुपये-पैसे का मौका आते ही वह क़द्रदानी उडनघाइयाँ लग जाती है। मैं हजरत नियाज को बड़ी ईमानदारी

से मशविरा दूँगा कि वह एकेडेमी के सदस्यों का चुनाव भाषा के आधार पर नहीं संप्रदाय के आधार पर करवाँ। उस वक्त अगर कोई हिन्दू अनधिकार हस्तेक्षप करे तो उसके पीछे लट्ठ लेकर दौड़े। लेकिन जब तक चुनाव भाषा के आधार पर है, और हिन्दू भी उर्दू लिखते हैं, उस वक्त तक वह हिन्दुओं को अमली क़द्रदानी के दायरे से बाहर नहीं रख सकते। मगर यह याद रहे कि संप्रदाय के आधार पर हद से हद एक-तिहाई से ज्यादा रकम उर्दू के हाथ नहीं पड सकती। इस तिहाई में ऐतिहासिक महत्त्व और आनबान सब कुछ शामिल है।

यहाँ तक हिन्दू लेखकों के साथ यह क़द्रदानी दिखाई जाती है उधर हिन्दुओं को हिन्दी के मुसलमान कवियों से कितना सच्चा प्रेम है। रहीम और जायसी आदि की कविता के नए-नए संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं। उन्हें इतने ही शौक से पढ़ा जाता है जैसे सूर या तुलसी का। पाठ्यक्रम में हिन्दू कवियों के साथ-साथ जगह दी जाती है, हिन्दू या मुसलमान होने का किसी को ख्याल ही नहीं आता। उर्दू के किसी हिन्दू शायर का कलाम किसी मुसलमान ने संग्रह क्रिया हो इसकी मुझे कोई मिसाल नहीं मिलती। हाल में हजरत असगर ने 'यादगारे नसीम' का संकलन किया है जिसका भुगतान उन्हें करना पड़ा रहा है। इस साहित्यिक संकीर्णता और द्वेष की भी कोई सीमा है।

[‘जमाना’, दिसंबर, 1930]

मानसिक पराधीनता

हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं, पर मानसिक पराधीनता में अपने-आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है? उसकी भाषा, उसकी सभ्यता, उसके विचार, उसका कल्चर। यही कल्चर हिन्दू को हिन्दू, मुसलमान को मुसलमान और ईसाई को ईसाई बनाए हुए है। मुसलमान इसी कल्चर की रक्षा के लिए हिन्दुओं से अलग रहना चाहता है, उसे भय है, कि सम्मिश्रण से कहीं उसके कल्चर का रूप ही विकृत न हो जाएँ। इसी तरह हिन्दू भी अपने कल्चर की रक्षा करना चाहता है, लेकिन क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनों अपने कल्चर की रक्षा की दुहाई देते हुए भी उसी कल्चर का गला घोंटने पर तुले हुए हैं।

कल्चर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धांत, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार, सब हमारे कल्चर के अंग हैं, पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कल्चर की जड काट रहे हैं।

पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गए हैं, कि हममें सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं, और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण। इस अंधभक्ति में हम उनके दोष भी गुण मालूम होने हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा को हो ले लीजिए। आज अंग्रेजी हमारे सभ्य-समाज की व्यावहारिक भाषा बनी हुई है। सरकारी भाषा तो वह है ही, दफ्तरों में भी हमें अंग्रेजी में काम करना ही पड़ता है पर उस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गए हैं, कि निज चिट्ठियों में, घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। स्त्री पुरुष को अंग्रेजी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं, तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं, कोई सभा होती है, तो अंग्रेजी में! डायरी अंग्रेजी में लिखी जाती है। वाह! क्या भाषा हैं, क्या लोच है, कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति, शब्द भंडार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत कविता कितनी मर्मस्पर्शी, गद्य कितना अर्थबोधक ! जिसे देखों अंग्रेजी जबान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है। यहाँ तक हमारी योग्यता और विद्वत्ता को यही एक परख हो गई है, कि हम अंग्रेजी बोलने या लिखने में कितने कुशल हैं। आठवें क्लास में अंग्रेजी के मुहाविरों को रटन शुरू हो जाती है, पर्यायों के सूक्ष्म अर्थभेद पर विचार होने लगता है, अपनी अंग्रेजी वक्तृता में अंग्रेजों का ऐक्सेंट और उच्चारण कैसे लाएँ, इस प्रयत्न में

जान खपा दी जाती है। अगर किसी स्वर का उच्चारण अंग्रेजों से उनके मौखिक गठन के दोषों के कारण नहीं होता, तो हम भी अपने में वही बात पैदा करेंगे। आज तक 'the' जैसे साधारण शब्द का भी ठीक उच्चारण — जो अंग्रेजों को भी जंचे-बहुत कम लोग कर सकते हैं और हमारी यह मनोवृत्ति राष्ट्रीय भावों के साथ-ही-साथ बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि अंग्रेजी ही पठित समाज की भाषा बन गई है। अपनी भाषा में बात-चीत करते समय कभी कभी एकाध अंग्रेजी शब्द आ जाने को तो हम मुआफी से काबिल समझते हैं लेकिन दुःख तो यह है, कि ऐसे सज्जनों की भी कमी नहीं है, जो बहुत थोड़ी-सी अंग्रेजी जानकर भी अंग्रेजी ही में अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेज स्वप्न में भी किसी अंग्रेज से गैर-अंग्रेजी भाषा में न बोलेगा, मगर यहाँ हम आपस में ही अंग्रेजी बोलकर अपनी मानसिक दासता का ढिंढोरा पीटते हैं। मैं उस मनोवृत्ति को कल्पना भी नहीं कर सकता, जो एक ही भाषा-भाषियों को अंग्रेजी में बातें करने की प्रेरणा करती है। किसी मदरासी, बंगाली या चीनी से तो अंग्रेजी में बातें करने का कोई अर्थ हो सकता है। उनसे बातें करनी जरूरी हैं और इस वक्त और कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं, जिसका सभी प्रांत वालों का एक-सा ज्ञान हो! मगर एक ही प्रांत के रहने वाले, एक ही भाषा के बोलने वाले, क्यों आपस में अंग्रेजी बोलें, क्यों अंग्रेजी में पत्र लिखें, क्यों 'प्रणाम' या 'नमस्कार', या

'वंदे' या 'नमस्ते' या 'तस्लीम' करने के बदले 'मार्निंग-मार्निंग' कहें, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्यों 'हल्लो' ही मुँह से निकले, मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता। संसार में ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है,जो मंगनी की चीजों का व्यवहार करके भी सिर उठाकर चलते हैं। उन्हें यही खुशी है, कि लोग मुझे इन चीजों का स्वामी समझते होंगे। अंग्रेजी का व्यवहार करने वालों की मनोवृत्ति भी कुछ इसी तरह की होती है। या तो उनका अभिप्राय यह होता है, कि देखें हम दोनों में कौन अच्छी अंग्रेजी बोलता है, या यह कि देखो, हम जितनी सफाई से अंग्रेजी बोलते हैं, तुममें वह सफाई नहीं है। और इसका परिणाम यह होता है, कि अच्छी अंग्रेजी लिखनी और बोलनी तो आ जाती है. पर अपनी भाषा भूल जाती है, या हेय और तुच्छ समझकर भुला दी जाती है। यह हमारे शिक्षित-समुदाय की लज्जाजनक ही नहीं, शोकजनक मानसिक दासता है।

फ्रांसीसी कवि फ्रेंच में कविता करता है, जर्मन जर्मन में, रूसी रशियन में, कम-से-कम जिन रचनाओं पर उसे गर्व होता है, वह अपनी ही भाषा में करता है, लेकिन हमारे यहाँ के सारे कवि और सारे लेखक अंग्रेजी में लिखने लगें, अगर केवल कोई प्रकाशक उनकी रचनाओं को छापने पर तैयार हो जाएँ। जिन्हें प्रकाशक मिल जाते हैं, वह चूकते भी नहीं, चाहे अंग्रेज आलोचक उनका मजाक ही क्यों न उड़ावें, मगर वह खुश हैं।

हम मानते हैं, कि अंग्रेज़ी भाषा प्रौढ़ है, हरेक प्रकार के भावों को आसानी से जाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी बह बात नहीं आई, लेकिन जब वही लोग, जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें, तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगे` यह हिमाकत है। आज हमारा पठित-समाज साधारण जनता से पृथक् हो गया है। उसका रहन-सहन, उसकी बोल-चाल, उसकी वेश-भूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रह हैं। शायद वह अपने दिल में फूला नहीं समाता, कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गंवार समझता है, लेकिन वह खुद जनता को नजरों से गिर गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती, उसे 'किरंटा' या 'बिगडैल', या 'साहब बहादुर' कहकर उसका बहिष्कार करती है और आज ख़ुदा न ख्वासता वह किसी अंग्रेज के हाथों पिट रहा हो, तो लोग उसकी दुर्गति का मजा उठावेंगे, कोई उसके पास भी न फटकेगा। जरा इस गुलामी को देखिए, कि हमारे विद्यालयों में हिन्दी या उर्दू भी अंग्रेजी द्वारा पढ़ाई जाती है। अगर बेचारा हिन्दी-प्रोफेसर अंग्रेजी में लेक्चर न दे, तो छात्र उसे नालायक समझते हैं। आदमी के मुख से कलंक लग जाएँ तो वह शरमाता है, उस कलंक को छिपाता है, कम-से-कम उस पर गर्व नहीं

करता; पर हम अपनी दासता के कलंक को दिखाते फिरते हैं, उसकी नुमाइश करते हैं, उस पर अभिमान करते हैं, मानों वह नेकनामी का तमाशा हो, या हमारी कीर्ति की ध्वजा। वाह री भारतीय दासता, तेरी बलिहारी है!

भाषा को छोड़िए, वेश-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं, जो हैट-कैट लगाए, गरूर से इधर-उधर देखते चले जा रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी योरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं। साहब को सलाम करो, आप पूरे साहब बहादुर हैं ! मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नजर आते हैं, जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं, जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। आपमे आत्मबल अवश्य है, बड़े ऊँचे दरजे का आत्मगौरव, आप लोकमत को ठुकरा देते हैं, किसी के नाक-भौं सिकोड़ने की परवाह नहीं करते, जो अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी या अपनी मनोतुष्टि के लिए वांछनीय समझते हैं, वह अवाध्य रूप से करते हैं। क्यों लोकमत का आदर करें | लोकमत के गुलाम नहीं, लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले से कहिए, कि जरा शाम को बिना फेल्टकैप लगाए किसी अंग्रेजी-क्लब में चला जाएँ, तो उसके हाथ-पाँव फूल जाएँगे, खून ठंडा हो जाएँगा, चेहरा फक हो जाएँगा। क्यों? इसलिए कि उसका आत्मगौरव केवल अपने भाइयों पर रोब जमाने के लिए है, उसमे सार का नाम नहीं। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी-से-छोटी

रूढ़ियों की भी अवहेलना नहीं कर सकता। जनता को वह समझता है, हमारा कर ही क्या लेगी, यह खुश रहे तो क्या, और नाराज रहे तो क्या, यह हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती। जिनसे कुछ बनने-बिगड़ने का भय है उनके सामने वह भीगी बिल्ली बना जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा – तुम इस ठाठ से क्यों रहते हो, तो बड़े दार्शनिक भाव से बोले – इसलिए कि अंग्रेजों से मिलने जाता हूँ, तो जूते बाहर नहीं उतारने पड़ते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं, उन्हें जूते उतार देने पड़ते हैं। मैं कहता हूँ, जो स्वार्थ लेकर अंग्रेजों से मिलने नहीं जाते, वह अचकन नहीं, मिर्जई भी पहने हो, तो उन्हें जूते उतारने की जरूरत नहीं और जो स्वार्थ लेकर जाते हैं, वह किसी वेश में हों, उनकी आत्मा दबी रहती है। ऐसी प्राणियों की दशा उस आदमी की-सी है, जो अपने कपड़े पर एक दाग को छिपाने के लिए सारा कपड़ा ही काला रंग ले। अगर स्वार्थ मजबूर कर रहा हो, तो मेरे विचार में तो जूते उतार देना इससे कहीं अच्छा है, कि हम उस अपमान से बचने के लिए बेहयाई का एक अपराध और अपने सिर पर लें। यह मत समझो, कि अंग्रेज तुम्हारा कोट-पैंट देखकर तुम्हारा ज्यादा आदर करता है। और अगर ऐसी हो, भी तो अपना वेष छोड़कर उस आदर को लेना, एक प्याले शोरबे के लिए अपने जन्म-सिद्ध गौरव को बेचना है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया, तो बोले

– इससे सफर करने में बड़ा सुभीता होता है, जनता समझती है यह कोई साहब हैं, मेरे डब्बे में नहीं आती है। एक और साहब ने कहा – अंग्रेजी कपड़े पहनने से देह में बड़ी चुस्ती और फुरती आ जाती है। गरज, लोग तरह-तरह की दलीलों से आपका समाधान कर देंगे। मैं पूछता हूँ – क्यों साहब, क्या सारी चुस्ती और फुर्ती अंग्रेजी कपड़ों में ही है? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज है, कि बदन पर आई और आपकी देह में स्फूर्ति दौडी | यह दलीलें लगों और लचर हैं। हाँ, इस तर्क में अवश्य सार है, कि जब सारा संसार योरोपीय देश के लिए पीछे जा रहा है, तो आप उससे अलग कैसे जा रहे हैं। दूसरी दलील यह हो सकती है, कि हमारा कोई जातीय परिधान भी नो नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रांतीय परिधानों की अपेक्षा तो एक सार्वदेशिक योरोपीय परिधान का होना कहीं अच्छा है। बेशक यह टेढा प्रश्न है। यह बात भी विचारणीय है, कि अन्य देशों में अमीर-गरीब सबका पहनावा एक ही है, चाहे उसके कपड़े में कितना ही अंतर ही हो। आपके यहाँ किसान मिर्जई या नीम आस्तीन या कुर्ता-धोती पहनता है, कहीं शलवार हैं, कहीं पगडी, कहीं जांघिया। पहले एक जातीय ठाठ की सृष्टि, तो कर लीजिए, फिर विलायती पहनावे पर आक्षेप कीजिएगा। भाषा हो की भाँति एक जातीय पहनावा भी बरसों के बाद कहीं जाकर आविर्भूत होता है, किसी संस्था या नीति द्वारा उसकी सृष्टि नहीं को जा सकती। अभी भारत

को एक सार्वदेशिक परिधान के लिए बहुत दिनों तक इंतजार करना पड़ेगा, मगर जब तक वह समय नी आता, तब तक के लिए हमारे विचार में इसी नीति को सामने रखना चाहिए कि यथासाध्य जनरुचि को सम्मान किया जाएँ। अगर कि प्रांत में जनता कोट पहनती है, तो वहाँ के लिए कोट-पतलून ही उपयुक्त है। इसी भांति जिन प्रांतों में साधारण जनता कुरता और धोती पहनती है, वहाँ कुरता और धोती को ही जातीय परिधान के पद पर सम्मानित करना चाहिए। अभिप्राय केवल यह है, कि शिक्षित समाज केवल अपनी विशिष्टता या प्रभुत्व जताने के लिए ऐसे वेष-भूषा का व्यवहार न करे जिसमें विदेशीपन की झलक आती हो। हो सकता है, कि कुछ लोगों को अंग्रेजी वेश में रहने पर भी जरा अभिमान या स्वार्थसिद्धि को भावना न हो, पर दुर्भाग्यवश यह विदेशी वेष जनता की आँखों में खटकता है और इसे धारण करने वाले चाहें देवता ही क्यों न हों, वे स्वजाति के द्रोही और शासक जाति के अनन्य भक्त के रूप में नजर आते हैं। संभव है, स्वाधीन हो जाने पर यही हमारा स्वजातीय वेष हो आय लेकिन तब इसमें बह कुसंस्कार न रहेंगे, जिन्होंने इस वक्त इसे इतना अवहेलनीय बना रक्खा है। जरा सोचिए, क्या यह एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को शोभा देता है क वह अपना रहन-सहन ऐसा बना ले, कि जनता उसे श्रद्धा से देखने के बदलें घृणा या भय की दृष्टि से देखे। किसी समय जनरुचि को पद-दलित करने का

नतीजा बुरा भी हो सकता है, और यह तो स्पष्ट ही है, कि अगर जनता के हाथों में प्रभुत्व होता, तो बहुत से अंग्रेजी वेश के प्रेमी यह वेश धारण करने के पहले ज्यादा विचार से काम लेना आवश्यक समझते, मगर हमारी यह मनोवृत्ति भाषा और वेश तक ही रहती, तो अधिक चिंता की बात न थी। इसने हमारे कितने और सामाजिक विचारा पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है और अभी से रोक-थाम न की गई, तो एक दिन हमारी जातीय संस्कृति का ही लोप हो जाएँगा। यह एक साधारण सी बात हैं कि पराधीन जाति को अपने में सारी बुराइयाँ और राज्य करने वाली जाति में भलाइयाँ ही भलाइयाँ नजर आती हैं। हमारी सभ्यता कहती है – अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ, ताकि तुम्हारी जात से कुटंब और परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है-अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओ, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए ही जिओ और अपने ही लिए मरो। हमारी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, हम गांवों में रहते थे, जहाँ अपने आत्मीयजनों का संसर्ग बहुत-सी बुराइयों से हमारी रक्षा करता था। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय-प्रधान है और बड़े- बड़े नगरों का निर्माण करती है, जहाँ हम सारे बंधनों से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता में सम्मिलित-कुटंब एक प्रधान अंग था। पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ है – केवल स्त्री और पुरुष। दोनों में बुराइयाँ और

भलाइयाँ, दोनों ही हैं, पर जहाँ पर में सेवा और त्याग प्रधान है, वहाँ दूसरों में स्वार्थ और संकीर्णता। हमारी सभ्यता में नम्रता का बड़ा महत्त्व था, पश्चिमी सभ्यता में आत्मप्रशंसा को वही स्थान प्राप्त है। अपने को खूब सहारों, अपने मुँह खूब मियां मिट्ठू बनो। हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था, विद्या और आचरण से आदर मिलता था। पश्चिमी सभ्यता में धन ही मुख्य वस्तु है। हम भी धन कमाते थे, पर दया के साथ। पश्चिम भी धन कमाता है, पर दया का नाम नहीं। हमारी सभ्यता का आधार धर्म था, पश्चिमी सभ्यता का आधार संघर्ष है।

लेकिन यहाँ हम अपने सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करने बैठे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है, कि हमें हरेक पश्चिमी चीज के पीछे आँखें बन्द करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही हैं, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण। हमारी सभ्यता में भी रोग थे, मगर उसका दवा योरोपीय सभ्यता की अंधभक्ति नहीं है। उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति से खोजनी थी। योरोपीय सभ्यता की नकल करके हमें अपने यहाँ भी उन्हीं दवाओं का व्यवहार करना पड़ेगा, जो योरोप कर रह। है। योरोप पथ-भ्रष्ट हैं, उसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं और आज योरोप के विचारवान् लोग कह रहे हैं, कि यह संस्कृति अब विध्वंस के गर्त में जाने वाली है। क्या हम भी उन्हीं बुराइयों की नकल करके अपनी संस्कृति को भी विध्वंस के गर्त में ढकेलने

की तैयारी करें? यह समझ लीजिए, कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व को रो दिया, अपने धर्म की सत्ता खो दी, अपनी संस्कृति को खो बैठे, तो हमारा अंत हो जाएगा।

[जनवरी 1931]

उपन्यास-रचना

भारत-निवासियों ने यूरोपियन साहित्य के किसी अंग को इतना ग्रहण नहीं किया जितना उपन्यास को। यहाँ तक कि उपन्यास अब हमारे साहित्य का एक अविच्छेद अंग हो गया है। उपन्यास का जन्म चौहदवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों की रचना इटालियन उपन्यासों के ही आधार पर की है। यह शैली इतनी प्रिय हुई कि आज समस्त संसार में साहित्य पर उपन्यास का आधिपत्य है। गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ डतना शायद साहित्य के और किसी भाग में नहीं हुआ। बंगला ने बंकिम पैदा किया, गुजराती ने गोविन्ददास, मराठी ने आप्टे, उर्दू ने रतननाथ और शरर, जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं हैं। हिन्दी ने पहले अद्भुत रस के उपन्यासकार पैदा किए पर अब धीरे-धीरे उसमे चरित्र-चित्रण, मनोभाव और जासूसी के उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे हैं, और आशा है कि वह थोड़े ही दिनों में इस विषय में किसी प्रांतिकभाषा से दबकर नहीं रहेगी। वास्तव में उपन्यास-रचना को सरल साहित्य (Light literature)

कहा जाता है, इसलिए कि इससे पाठकों का मनोरंजन होता है। पर उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसी दार्शनिक को दर्शन-शास्त्र के ग्रंथ लिखने में। उसे सबसे पहले उपन्यास का विषय खोजना पड़ता है। क्या लिखे? भौतिक वैभव की असारता दिखावे, या मनोभावों का पारस्परिक संग्राम? कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐतिहासिक घटना या चित्रण करे? लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही इनमें से कोई विषय पसंद कर लेता है। विषय निर्धारित हो जाने के पश्चात् उसे प्लाट की चिंता होती है। वह सोता हो या जागता, चलता या बैठा, इसी चिंता में डूब रहा है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीनों, बरसों लगे जाते हैं। इस चिंता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तर उसकी रचना होगी –

उपन्यास की बुनियाद पड़ गई। अब हमें अपना भवन खड्य करने के लिए मसाले की आवश्यकता होती है। उसके मुख्य साधन ये हैं –

1. अवलोकन, 2. अनुभव, 3. स्वाध्याय, 4. अंतर्दृष्टि, 5. जिज्ञासा, 6. विचार-आकलन।

कहते हैं, अमरीका के सुविख्यात साहित्यकार मार्क ट्वेन ने इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए कि बिना टिकट रेल-ट्राम में सफर करने वालों

के चित्त की क्या दशा होती है, कई बार टिकट सफर किया। ऐसे ही एक और सज्जन ने पेरिस के चकलों की तस्वीरे खींचने के लिए महीनों शोहदों और गुंडों की संगति की। एक तीसरे महाशय ने चोर के हृदय के भावों को जानने के लिए स्वयं सेंध तक मारी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य देश के लेखक कल्पना-शून्य होते हैं। उपन्यासकार को ऐसी दशाओं और मनोभावों के वर्णन करने में अपनी कल्पना-शक्ति ही सबसे बड़ी मददगार है। ऐसा बिरला ही कोई प्राणी होगा जिसने बचपन में पैसे या मिठाई न चुराई हो, या चोरी से मेला या दंगल देखने न गया हो, अथवा पाठशाला में अध्यापक से बहाने न किए हों। यदि कल्पना-शक्ति तीव्र हो तो इतने अनुभव चोरों और डकैतों के मनोभाव चित्रित करने में कृतकार्य कर सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कृत्रिम अवस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे स्वाभाविक नहीं हो सकते। फिर भी उपन्यास की सफलता के लिए अनुभव सर्वप्रधान मंत्र है। उपन्यास-लेखक को यथासाध्य नए-नए दृश्यों को देखने और नए-नए अनुभवों को प्राप्त करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।

प्राणियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए दूसरा साधन भावों को टटोलना है। सर फिलिप सिडनी का कहना था कि 'अपनी निगाह अपने हृदय में डालो और जो कुछ देखो, लिखो।' लेखक अपने को कल्पना के

द्वारा जितनी ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख सकता है, उतना हो सफल-मनोरथ होता है। तुलसीदास ने पुत्र-शोक कितनी सफलता से दिखाया है। विदित ही है कि उन्हें इस शोक का प्रत्यक्ष अनुभव न था। अपने को शोकातुर, वियोगी पिता के स्थान में रखकर ही उन्होंने उन भावों का अनुभव किया होगा।

स्वाध्याय से भी उपन्यासकार को बड़ी मदद मिलती है। एक ऋषि का कथन है कि स्वाध्याय मनुष्य को संपूर्ण बना देता है। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास-लेखक को पढ़ना न चाहिए, इससे उसकी मौलिकता मारी जाती है। पर स्वर्गीय डी. एल. राय ने कहा है-जिस लेखक की मौलिकता पुस्तकावलोकन से मारी जाती है, उसमे मौलिकता है ही नहीं। स्वाध्याय का उद्देश्य यह न होना चाहिए कि किसी कुशल लेखक के भाव और विचार उड़ाए जाएँ, बल्कि अपने भावों और विचारों को अन्य लेखकों से तुलना की जाएँ और उससे अच्छी रचना करने के लिए अपने को प्रोत्साहित किया जाएँ। अगर हमें किसी लेखक की रचना में ऐसा कोई स्थान दिखाई दे जहाँ उसकी कल्पना शिथिल पड़ गई है तो हम प्रयत्न करें कि उसी के अनुरूप स्थान पर उससे अच्छा लिख सकें। लेखक को और विशेषकर उपन्यास-लेखक को-विविध साहित्य का भली-भांति अध्ययन किए बिना कलम न उठाना चाहिए।

यह बात नहीं है कि बिना बहुत पढ़े कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकता। जिन्हें ईश्वर ने प्रतिभा दी है, उनके लिए बहुत पढ़ना अनिवार्य नहीं है। लेकिन जिस प्रकार बिना व्याकरण पढ़े हुए चाहे हम शुद्ध लिखें, पर अशुद्धियों से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रहता, उसी प्रकार तुलना और स्वाध्याय से हमें अपनी त्रुटियों का बोध होता है, हमारी बुद्धि विकसित होती है और उस साधनों की झलक मिल जाती है जिनके द्वारा किसी बड़े लेखक ने सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों को भ्रम है कि अपनी रचनाओं के विषय में किसी से कुछ पूछने या राय लेने से उसका अपमान होता है। पर वास्तव में लेखक को जिज्ञासा की उतनी ही जरूरत है, जितनी कि किसी विद्यार्थी को। फ्रांसिस बेकन के विषय में कहा जाता है कि वह सदैव ऐसे पुरुषों से जिज्ञासा करता रहता था, जो किसी विषय में उससे अधिक ज्ञान रखते थे। कोई आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, सब विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। उसे अगर किसी से कुछ पूछना पड़े तो संकोच क्यों करे? डी. एल. राय महोदय जब कोई ड्रामा लिखते थे, तो उसे अपने रसिक मित्रों को सुनाते थे, उनकी आलोचना का उत्तर देते थे और जहाँ कहीं कायल हो जाते थे, अपनी रचना में काट-छांट कर देते थे। कभी उन्हें अध्याय के अध्याय और सीन के सीन बदलने पड़ जाते थे। लेखक को सदैव अपना आदर्श ऊँचा

रखना चाहिए। उसके मन में यह धारण होनी चाहिए कि या तो कुछ लिखूँगा ही नहीं, या लिखूँगा तो कोई अच्छी चीज, जिससे बढ़कर उसी विषय पर फिर जल्द कोई न लिख सके।

कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ता चलते-चलते कोई नई बात सूझ जाती है, अथवा कोई नया दृश्य आँखों के सामने से गुजर जाता है। लेखक में ऐसा गुण होना चाहिए कि वह ऐसे भावों और दृश्यों को स्मृति-पट पर अंकित कर ले और आवश्यकता पड़ने पर उनका व्यवहार करे। कुछ लेखकों की आदत होती है कि वे अपने साथ नोटबुक रखते हैं और ऐसी बातें उसमे तुरंत टांक लेते हैं। जिस लेखक को अपनी स्मरण-शक्ति पर विश्वास न हो उसे अपने साथ नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। डायरी लिखना भी अपने विचारों को लेखबद्ध करने की आदत डालता है।

प्लॉट उन घटनाओं को कहते हैं जो उपन्यास के चरित्रों पर घटित हों। लेकिन केवल घटनाओं का वर्णन करने ही से कहानी में मनोरंजकता का गुण नहीं पैदा हो सकता। उन घटनाओं को कल्पना द्वारा ऐसा सजीव बनाना चाहिए कि उसमे वास्तविकता झलकने लगे। एक उपन्यासकार ने लिखा है कि उकलेदिस [यूनानी ज्यामितिकार यूक्लिड (Euclid) -सं.] की भाँति हम लोगों को अपनी कथा सामने रख देनी चाहिए और तब उसे हल

करने में प्रस्तुत हो जाना चाहिए। उकलेदिस की विचार-शृंखला में कोई किसी युक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकती , जिसके लिए वहाँ अनिवार्य रूप से स्थान न हो। हम भी उसी का अनुसरण करके उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना कर सकते हैं। साधारणत : प्लाट वह कथा है, जो उपन्यास पढ़ने के बाद साधारण पाठक के हृदय-पट पर अंकित हो जाती है। पुराने ढंग की कथाओं में बस प्लाट ही प्लाट होता था। उसमे रंग और रोगन की मात्रा न रहती थी, इसलिए वह चित्र इतना भड़कीला न होता था। आजकल पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास की कथा दस-पाँच पंक्तियों में ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इन्हीं दस-पाँच पंक्तियों के सोचने में उपन्यासकार को जितना मनन और चिंतन करना पड़ता है, उतना सारा उपन्यास लिखने में भी नहीं करना पड़ता। वास्तव में प्लाट सोच लेने के बाद फिर लिखना बहुत आसान हो जाता है। लेकिन प्लाट सोचने के साथ ही चरित्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है, जिनके द्वारा यह प्लाट प्रदर्शित किया जाएँ। चार्ल्स डिकेंस के विषय में लिखा है कि जब वह किसी नए उपन्यास की कल्पना करते थे, तो महीनों तक अपने कमरे को बन्द कर विचार-मग्न पड़े रहते थे, न किसी से मिलते थे, न कहीं सैर करने ही जाते थे। जब दो-तीन महीने के बाद उनके किवाड खुलते थे, तो उनकी दा किसी रोगी से अच्छी न होती थी, मुख पीला, आँखें भीतर को धंसी हुई, शरीर दुर्बल। थैकरे के विषय में

लिखा हुआ है कि वह संध्या समय किसी नदी के तर पर बैठकर अपने प्लाट सोचा करता था। पर प्लाट को जल्द या देर में कल्पित कर लेना लेखक की बुद्धि सामर्थ्य पर निर्भर है। जार्ज सैंड फ्रांस की सुविख्यात लेखिका है। उसने सौ से कम उपन्यास नहीं लिखे। पर उसे प्लाट सोचने में बुद्धि नहीं उड़ानी पड़ती थी। वह कलम हाथ में लेकर बैठ जाती थी और लिखने के साथ ही प्लाट भी बनता चला जाता था। सर वाल्टर स्काट के बारे में यही मशहूर है कि वह प्लार सोचने में मस्तिष्क नहीं लड़ाते थे। कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमे कोई प्लाट नहीं होता। मार्क ट्वेन का Innocents Abroad इसी ढंग का उपन्यास है। प्लाटों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारणत : उसके छ: भेद माने गए हैं –

I. कोई अद्भुत घटना।

2. कोई गुप्त रहस्य।

3. मनोभाव-चित्रण।

4. चरित्रों का विश्लेषण और तुलना।

5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना।

6. कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

(1) अद्भुत – कहानी वही अद्भुत होती है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। प्राचीन कथाएं बहुधा इसी किस्म की होती थीं। ऐसी कहानी का उद्देश्य

केवल पाठकों का मनोरंजन है। पढ़ने से कल्पना की वृद्धि होने के कारण बहुधा बालकोपयोगी कहानियों में यह प्रणाली उपयुक्त समझी जाती है। प्रौढावस्था में ऐसी कहानियों में जी नहीं लगता। बहुधा नैतिक और आचरण-संबंधी उपदेश भी ऐसी कहानियों द्वारा दिए जाते हैं। इंग्लैंड का विख्यात लेखक स्विफ्ट ने 'गुलीवर की यात्रा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में समाज पर व्यंग्य किया है। वह भी अद्भुत घटनाओं का ही सहारा लेता है। बहुधा दृष्टांतों या 'ऐलोगरी' में अद्भुत घटनाओं द्वारा जीवन के गूढ तत्त्व हल किए जाते हैं। इंग्लैंड में जॉन बनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अद्वितीय ऐलीगरी है। हमारे यहाँ प्राचीन ऋषियों ने बहुधा दृष्टांतों द्वारा ही जन-साधारण को उपदेश दिए हैं। महाभारत, पुराण, उपनिषद् आदि में ऐसे दृष्टांत भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में टॉल्स्टॉय और हॉथर्न ने बहुत ही शिक्षाप्रद और अनूठे दृष्टांत रचे हैं। अतएव अप्राकृतिक घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना यदि बहुत सरल हैं तो उसके साथ ही अत्यंत कठिन भी है।

(2) गुप्त रहस्य – जासूसी के उपन्यास सब इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के उपन्यास लिखने में लेखक को दो बड़ी शंकाओं का सामना करना पड़ता है। संभव है रहस्य आरंभ से ही खुल जाएँ अथवा लेखक की रहस्योद्घाटन पाठक को संतोषप्रद न हो। भारतवर्ष में पहले ऐसी कहानियों

की प्रथा न थी। योरोप में ऐसी कहानियों को लोग बड़े शौक से पढ़ते हैं। इधर कुछ दिनों से पैशाचिक घटनाएँ भी रहस्यों द्वारा प्रकट की जाने लगी हैं। इंग्लैंड में कॉनन डायल इस श्रेणी के उपन्यासकारों में बहुत सिद्धहस्त हैं, फ्रास में मार्स लेब्लांक और अमरीका में पो कॉनन डायल अभी जीवित हैं और अब आपराधिक विषयों की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जासूसी उपन्यासों के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिर असंभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों न सूझी, न यह तो बिल्कुल साधारण बात थी। इसके साथ, पाठक उस रहस्य को किसी दूसरी रीति से खोलने में असमर्थ हो। लेखक का कौरल इस बात में है कि जिस चरित्र को पाठक और लेखक स्वयं दोषी समझते हों वह अंत में निरपराध सिद्ध हो जाएँ। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक होते हैं और उनके पढ़ने से बुद्धि तीव्र होती है, कठिन समस्याओं में दिमाग लड़ाने की शक्ति पैदा होती है। मगर उनका लिखना इतना कठिन है कि अब तक हिन्दी में सिवा कॉनन डायल या अन्य लेखकों की कहानियों के अनुवाद के सिवा किसी ने स्वतंत्र कल्पना नहीं की।

(3) मनोभाव का चित्रण — ऐसे उपन्यासों के लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। बह ऐसी हो घटनाओं की आयोजना करता है जिसमे उसके चरित्रों को अपने मनोभावों के प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएँ कम होती हैं, पात्रों के विचार अधिक। टॉल्स्टॉय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विभिन्न अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक को पाठकों को सामने अनिवार्य रूप से अधिकतर अपना हो हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उसके पास और क्या साधन हो सकता है। कोई अपने मन का भाव किसी से नहीं कहता, बल्कि और छिपाता है। अगर किसी को किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान हो भी सकता है, तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है। उपन्यासकार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है। जार्ज इलियट के उपन्यास अधिकतर इसी श्रेणी के हैं।

(4) चरित्रों का विश्लेषण और (5) जीवन के अनुभवों को प्रकट करना-इन दोनों प्रकारों के उपन्यास लिखने के लिए जरूरी है कि लेखक में दिव्य कल्पना-शक्ति के साथ अवलोकन और निरीक्षण की भी प्रचुर मात्रा हो। इसीलिए कहा गया हे कि उपन्यासकार को सभी श्रेणी के मनुष्यों से

मिलना-जुलना आवश्यक है। उसे अपनी आँखें और कान सदैव खुले रखने चाहिए। एक हो परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्ति क्या करते हैं, एक हो घटना दोनों को किस प्रकार प्रभावित करती है, इसका निरूपण सहज नहीं है। अनुभव बाह्य जगत् संबंधी भी होते हैं और अंतर-जगत् संबंधी भी। लेखक को प्राकृतिक दृश्यों का, विचित्र घटनाओं का बड़े ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। प्रातःकाल समीर के झोंकों में नदी की तरंगों की कैसी छटा होती है, आकाश कौन-कौन से रूप धारण करता है, ऐसे अगणित दृश्य सफलता के साथ वही लिख सकता है जिसने स्वयं उनको गौर से देखा हो। केवल कल्पना यहाँ काम नहीं दे सकती। लाजिम है कि लेखक वही दृश्य दिखावे, उन्हीं चरित्रों की तुलना करे, जिनका उसने स्वयं अनुभव किया हो। जिसने समुद्र नहीं देखा , वह किसी बन्दर का दृश्य क्योंकर लिखेगा? जिसने ग्रामीणों की संगति नहीं की, वह ग्रामीण जीवन का चित्र क्योंकर खींच सकता है? यही सफलता प्राप्त करने के लिए योरोप के कई विख्यात उपन्यासकारों ने वेश बदलकर उन स्थितियों का अध्ययन किया है, जिनके आधार पर वे अपना उपन्यास लिखना चाहते थे।

(6) कोई सामाजिक या राजनैतिक सुधार-किसी उद्देश्य विशेष से लिखे गए उपन्यासों की संख्या आजकल सभी भाषाओं में बहुत अधिक है। उर्दू में भी ऐसे कितने ही उपन्यास हैं, मुख्य भाषाओं का तो कहना हो क्या?

आजकल 'सुधार-सुधार' के घोर नाद से सारा वायुमंडल निनादित हो रहा है। कहीं पुलिस के सुधार की चर्चा है, कहीं कारागारों की, कहीं न्यायालयों की, कहीं सामाजिक प्रथाओं की , कहीं शिक्षा-पद्धति की। यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण हो होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहलानी पड़ती हैं, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। मगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता, उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोदर्शन चाहता है। पर इसके साथ ही यह भो मानना पड़ेगा कि गत शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं. उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था। डिकेंस के प्राय: सभी उपन्यास, टॉल्स्टॉय के कई उत्तम उपन्यास, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, बालजक, ह्यूगो, मेरी करेली, जोला आदि प्रधान उपन्यासकारों ने सुधारों ही के उद्देश्य से अपने ग्रंथ रचे हैं। हाँ, कुशल लेखक का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि बह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हों परिस्थितियों में रखे

जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले, और अत्युक्ति से काम न ले, नहीं तो उसके प्रयास कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वृन्द प्राय: अपने काल के विधाता टोते हैं। उनमें अपने देश को, अपने समाज को दु:ख, अन्याय था मिथ्यावाद से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दा मैं असंभव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं खड़ा हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। वह अगर और कुछ नहीं कर सकता, तो कलम तो चला ही सकता है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी, लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का प्रचार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे, कवि और लेखक उनकी विलास-वृत्तियों को और उत्तेजित करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था। यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते हैं, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।

प्लाट का महत्त्व जानने के बद अब हम यह जानना चाहेंगे कि अच्छे प्लाट में कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिए। समालोचकों के मतानुसार वे ये हैं- सरलता, मौलिकता, रोचकता।

प्लाट सरल होना चाहिए। बहुत उलझा हुआ, पेचीदा, शैतान की आंत, पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाएँ, ऐसे उपन्यास को पाठक ऊबकर छोड़ देता है। एक प्रसंग अभी पूरा नहीं होने पाया कि दूसरा आ गया, वह अभी अधूरा ही था कि तीसरा प्रसंग आ गया, इससे पाठक का चित्त चकरा जाता है। पेचीदा प्लाट की कल्पना इतनी मुश्किल नहीं है, जितनी किसी सरल प्लाट की। सरल प्लाट में बहुत-से चरित्रों की कल्पना नहीं करनी पड़ती, इसीलिए लेखक को अल्पसंख्यक चरित्रों के भाव-विचार, गुण-दोष, आचार-व्यवहार को सूक्ष्म रूप से दिखाने का अवसर मिल जाता है, इससे उसके चरित्रों में सजीवता आ जाती है और वह पाठक के हृदय पर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाते हैं। यह बात बहुसंख्यक चरित्रों के साथ नहीं प्राप्त को सकती। प्लाट में मौलिकता का होना भी जरूरी है। जिस बात या विषय को अन्य लेखकों ने लिख डाला हो, उसे कुछ हेर-फेर करके अपना प्लाट बनाने की चेष्टा करना अनुपयुक्त है। प्रेम, वियोग आदि विषय इतनी बार लिखे जा चुके हैं कि उसमे कोई नवीनता नहीं बाकी रही। अब तो पाठक कहानियों में नए भावों का, नए विचारों का, नए चरित्रों का दिग्दर्शन चाहते हैं। अतः 'शुकबहत्तरी' से पाठकों को तस्कीन नहीं होती। प्लाट में कुछ-न-कुछ ताजगी, कुछ-न-कुछ अनोखापन अवश्य होना चाहिए। रही रोचकता, वह मौलिकता की सहगामिनी है। मौलिक प्लाट है तो वह रोचक भी जरूर ही

होगा। लेकिन कहानी की रोचकता किसी एक बात पर निर्भर नहीं है। प्लाट की सुंदरता, चरित्रों का चित्रण, घटना-वैचित्र्य सभी सम्मिश्रित हो जाते हैं तो रोचकता आप ही आप आ जाती है। हाँ उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्त्तव्य पाठकों का गम गलत करना, उनका मनोरंजन करना है। और सभी बातें इसके अधीन हैं। जब पाठकों का जी ही कहानी में न लगा तो वह क्या लेखक के भावों को समझेगा? क्या उसके अनुभवों से लाभ उठाएगा? वह घृणा के साथ किताब पटक देगा और सदा के लिए उपन्यासों का निंदक हो जायेगा। आज भी कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें उपन्यासों से चिढ़ है। उन्होंने व्रत कर लिया है कि उपन्यास कदापि न पढ़ेंगे। कारण यही है कि हिन्द के वर्तमान उपन्यासों ने उन्हें निराश कर दिया है। नये उपन्यास-लेखक; का कर्त्तव्य है कि वे उपन्यास-साहित्य के मुख को उज्ज्वल करें, इस बदनामी के दाग को मिटा दें।

[‘माधुरी’, अक्टूबर 1922]

उपन्यास-1

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों न कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा हैं कि जो चीज जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकरी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की परिभाषाएँ नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नही मिलतीं उसी भाति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाति सब आदमियों के चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। इसी चरित्र समानता और विभिन्नता, अभिन्नता, अभिन्नत्व, और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। संतान-प्रेम मानव

चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी संतान प्यारी न हो। लेकिन इस संतान प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उनके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरुता से, अनुचित रूप से धन-संग्रह नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता, जिस तरह भी हो कुछ धन संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है, जहाँ संतान का चरित्र प्रधान होती है, जब कि पिता संतान कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भांति अन्य मानवीय-गुणों की भी मात्राएं और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना हो सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी हो सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है कि जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है; वह भी संतानप्रेम हो है जब पिता के लिए पुत्र का घी का लड्डू होता है, जिसका टेढापन उसके स्वाद में बाधक नहीं

होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमे अपनी तरफ से काट-छांट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए, यहीं से उपन्यासकारों के दो गिरोह हो गए हैं, एक Idealist या आदर्शवादी, दूसरा Realist या यथार्थवादी। Realist चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा; उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है; और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी को फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। Realist अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए

Realist हमारी दुर्बलताओं , हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है वास्तव में Realist हमको Pessimist बना देता है, मानव-चरित्रों पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए Realist अत्यंत उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएँ जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब Realist दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव स्वभाव की एक विशेषता,यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाएँ कि चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ है, जहाँ उसे सजीव, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में खयाल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों? अंधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते

हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठाएं। इस कमी का Idealist पूरा करता है। Idealism हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु-प्रकृति होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें व्यवहारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन कांइयेंपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद होता है। Realism यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो Idealism हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ Idealism में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता को कामना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए हम वही उपन्यास उच्चकोटि के समझते हैं, वहाँ Realism और Idealism का समन्वय हो गया हो। उसे आप Idealistic Realism कह सकते हैं। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण

नहीं है, वह दो कौड़ी के हैं। चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हों। महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएँगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमार ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हम Idealist हैं। हमारे प्राचीन साहित्य पर Idealism की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों , विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। बह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता हैं, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसे बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भांति शत्रुओं का संहार करके विजय

नाद करते हुए निकलें। ऐसे हो चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

उपन्यास-साहित्य पर थोड़ी-सी विवेचना करने के बाद अब हम अपने हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। पाठकगण यह तो जानते ही हैं कि उपन्यास एक पश्चिमी पौधा है जो भारतवर्ष में लगाया गया है। हमारे यहाँ उपन्यास-काल स पहले ऐसे किस्से-कहानियों का बहुत प्रचार था जिनमे प्रेम और विरह के वर्णन ही प्रधान होते थे। प्रेमी एक निगाहे माशूका का 'कुश्तए नाज' हो जाता था। माशूका अपनी सहेलियों से अपनी विपत्ति कहानी सुनाती थी, आशिक साहब आहें भरते थे, सिर धुनते थे, घर पर खबर होती थी, यार समझाने के लिए जमा हो जाते थे, हकीम दवा करने जाते थे, पर इश्क के बीमार पर किसी दवा या समझाने-बुझाने का असर न होता था। दोनों महीनों, बरसों जुदाई की तकलीफें झेलने के बाद किसी हिकमत से मिल जाते थे। अक्सर किस्सों में तिलिस्म और ऐयारी के विचित्र दृश्य होते थे, जिससे कुतूहल बढ़ता था। उर्दू में 'तिलिस्म होशरुबा' बड़े-बड़े पृष्ठों के सत्ताइस जिल्दों में खत्म होता था और 'बोस्ताने खयाल' सात जिल्दों में। उस वक्त तक हिन्दी में उपन्यास का मैदान प्राय: खाली था। दो एक अनुवाद अवश्य निकल गए थे पर कोई उपन्यास-लेखक न पैदा हुआ था। उर्दू में तो उसके पहले 'फसाना-ए-आजाद' के रचयिता

पंडित रतननाथ दर 'सरशार', मौलवी अब्दुल हलीम शरर, मौलाना मुहम्मद अली आदि कई अच्छे उपन्यासकार हो गए थे। बंगला में भी बंकिम बाबू के उपन्यास निकल चुके थे, लेकिन हिन्दी में मैदान खाली था। उस समय स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' की रचना हुई और वह हिन्दी में अनोखी , एकदम नयी चीज थी। हिन्दी पाठक टूट पड़े और 'चन्द्रकान्ता' की खूब धूम हो गयी। यद्यपि 'चन्द्रकान्ता संतति' 'तिलिस्म होशरुबा' का अनुकरण मात्र है, लेकिन हिन्दी में आशिक-माशूक की जो कथाएँ छपती थीं, जिनमे न कोई भाव होता था न कोई प्रभाव, उन पाठकों के लिए चन्द्रकान्ता ही गनीमत थी। समझ में नहीं आता कि जब अन्य भाषाओं में ऐसे-ऐसे उपन्यासकार पैदा हुए जिनका जोड अब तक पैदा नहीं हुआ तो हिन्दी में क्यों यह मैदान खाली रहा।

'चन्द्रकान्ता' के बाद देवकीनन्दन ने कई सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमे उपन्यास के अंकुर मौजूद थे। ऐयारी की ऐसी हवा बंधी कि उनके बाद भी बहुत दिनों तक ऐयारी के किस्से निकलते रहे। उसके बाद जासूसी उपन्यास निकलने शुरू हुए जो अधिकांश European detective stories अधिकांश के अनुवाद होते थे। कुछ दिनों तक जासूसी उपन्यासों की खूब धूम रही और बहुत संभव था कि उसके बाद मौलिक उपन्यासों की बारी

आती, लेकिन इसी बीच में बंगला उपन्यासों का रेला शुरू हुआ और वह अभी तक जारी है। बंगला के अच्छे-बुरे जितने उपन्यास मिल सकते हैं उनका बिना कुछ सोचे-समझे अनुवाद कर लिया जाता है। किसी अन्य भाषा के रत्नों से अपना भंडार भरना आपत्ति की बात नहीं। सम्पन्नतम भाषाओं में अन्य भाषाओं के अनुवाद होते रहते हैं, लेकिन वह भाषा ही क्या जहाँ सब कुछ अनुवाद ही हो और अपना कुछ न हो। इस पहलू से देखिए तो 'चन्द्रकान्ता संतति' का महत्व बहुत कुछ बढ़ जाता है। कम से कम अपनी वस्तु तो है। हमारा ध्येय है कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनायें। क्या अनुवादों से राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया जा सकता है? एक मित्र से इस विषय पर वार्तालाप होने लगा तो उन्होंने कहा, `हम यह मानते हैं कि अनुवाद से भाषा का महत्व नहीं बढ़ता लेकिन, जिन लोगों के लिए अनुवाद जीविका का प्रश्न है उन्हें आप क्या कह सकते हैं।` इसका आशय यह हुआ कि जो लोग और किसी उपाय से जीविका का अर्जन नहीं कर सकते वे ही अनुवाद किया करते हैं। मगर इसी तरकीब से तो किसी त्याज्य विषय की रक्षा की जा सकती है। चोर के लिए चोरी भी तो जीविका ही का प्रश्न है फिर चोर को सजा क्यों दी जाती है? फिर, जब हम देखते है कि हिन्दी जानने बाला आदमी एक महीने में बंगला का इतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि बंगला की साधारण पुस्तकें समझने लगे, तो बंगला से

अनुवाद करने के लिए और भी उज्र नहीं रह जाता। अगर अनुवाद ही करना है तो उन भाषाओं से किया जाये जो बंगला से कहीं संपन्न हैं। हमने अभी तक जिन गिने-गिनाये French या Russian पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है, अंग्रेजी अनुवादों से किया है। हमारे युवकों को, जिनको विचार साहित्य-सेवा करने का हो, उनको उचित है कि वे योरोपियन भाषाएँ सीखें और उनके रत्नों से हिन्दी का भंडार भरें। वह हमें कोई ऐसी चीज दे सकेंगे जिन्हें प्राप्त करने के हमारे यहाँ बहुत कम साधन हैं।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श वह है जबकि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाएँ। Art for Art's Sake के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं ह सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, अनुराग और विराग, दुःख और लज्रा – यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रस ही

नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि Author पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारत ही में नहीं, योरोप के बहुत बड़े विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत को पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाएँ कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका Interest क्षणिक होता है। ह्यूगो का ला मिजरेबुल, टाल्सटाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्चकोटि की हैं और अब तक उनका Interest कम नहीं हुआ। आज भी शा, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा ख्याल है कि कुशल कलाकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुंदरता से करता है कि उनसे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। Art for Art's Sake का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनैतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं। विपत्ति का करुण-क्रंदन सुनाई देता है तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का दिल न दहल उठे। हाँ,

उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विध्न न पड़ने पावे, वरना उपन्यास नीरस हो जायेगा। अंत में हम अपने सहृदय नवीन लेखकों से अनुरोध करते हैं कि यदि आप उपन्यास लिखना चाहते हैं तो पहले तैयारी कीजिए। बिना मानव-शास्त्र का उचित ज्ञान प्राप्त किए, कभी न कलम उठाइये। यों तो जिन्हें रचना की ईश्वरप्रदत्त शक्ति प्राप्त है, वह आप ही आप लिख लेंगे, लेकिन मन में वीरभाव होने पर भी तो शास्त्रों का कुछ ज्ञान होना परमावश्यक है। सबसे प्रधान मनोवृत्ति है। एक बार किसी सुप्रसिद्ध चित्रकार से एक शरीफ ने पूछा कि 'ऐसे सुंदर रंग आप कहाँ से लाते हैं?' चित्रकार ने मुस्कराकर उत्तर दिया, 'जनाब, अपने दिमाग से।'

[हिन्दी मासिक पत्रिका 'समालोचक', जनवरी 1925]

उपन्यास-2

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी हो सरल होती, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी हो परिभाषाएं हैं। किन्हों दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास क विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नही मिलतीं, उसी भांति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक, मुँह होते है, पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उसमे विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-संबंधी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्य दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

संतान प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी संतान प्यारी न हो? लेकिन इस संतान-प्रेम की मात्राएँ हैं, इसके भेद हैं। काई तो संतान के लिए मर मिटता हैं, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए कि आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है , लेकिन धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन संचय नहीं करता है। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी विचार नहीं करता-जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है, जहाँ संतान का चरित्र प्रधान कारण होता है, जब कि पिता संतान कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है-उसके लिए कुछ छोड़ जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भांति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी हो सफलता से हम चरित्रों का चरित्र कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है जिसका

टेढापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता हैं।

अब यहाँ प्रश्न होता हैं, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमे अपनी तरफ से काट छांट, कमी-बेशी कुछ करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य को पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गए हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी। यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता हैं। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता न परिणाम अच्छा उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झलते हैं, अपमानित होते हैं, उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनको बदी को फल उलटा मिलता हैं। (प्रकृति का नियम विचित्र है !) यथार्थवादी

अनुभव को बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ-न-कुछ दाग धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-हो-बुराई नजर आने लगती है।

इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम ले और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएँ जितनों वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले – वह भूल जाएँ कि मैं चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें

किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़े ही क्यों?

अंधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठाएं। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन कांइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल , ऐसे व्यावहारिक ज्ञान विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद होता हैं।

यथार्थवाद यदि हमारे आँखें खोल देता हैं, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण हैं, वहीं इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की पूर्तिमात्र हों – जिसमे जीवन न हो। किसी देवता को कामना करना मुश्किल न लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं वहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं! उपन्यास को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ को उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो – महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सज बनाने के लिए उसको कमजोरियाँ का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएँगा। और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव गही पट सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार म केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों , विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को

जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम-से-कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर पर झुकाएँ बल्कि उनको परास्त करें | जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें | जो किसी विजयी सेनापति की भांति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाएँ। 'कला के लिए कला' के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो, ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा – यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है – इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आजकल की परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से

बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी `वाद` का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवाह नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं ! अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाएँ कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ले मिजरेबुल', टॉल्स्टॉय के अनेक ग्रंथ, डिकेंस की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियाँ हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी वेल्स, शा आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा खयाल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुंदरता से करें जिसमे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे ? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश संपन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भ्रांति-भाति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और

दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जाएँगा।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश-सबकी रचना हो गई। 'साइलस मार्नर' भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज एलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है, कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगाने वाली जुलाहे को पीठ कर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुंदर मर्मस्पर्शी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गए, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से काई उदाहरण देना कठिन है। 'रंगभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में

रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम. ऐन्ड्रूज हिम' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन है इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वह उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घंटों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों का आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी। इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हाल केन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। मेटरलिंक बेल्जियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेल्जियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोमाबोन' नामक

ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डॉक्टर' को उपाधि प्राप्त कर ली है। कितनी वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली इसकी खोज करके भी कितनी ही लोग 'डॉक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक वृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकबर के दरबार वाले फैजी कहे जाते हैं। हालांकि हमें यह मानते में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम-से-कम 20,000 पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व. बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएं हैं, जिन पर हजारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते हैं। और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जाएँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितनी नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाधा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं का साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की ज्यों मिलती है।

किंतु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता तो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाएँ, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमे अभ्यस्त हो चुके है उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती-कलम उठाया और लिखने लगे। लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठतीं है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, वह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य-विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से। किसी को नए सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ठ सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा अभ्यास सभी निष्फल जाएँगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार का वह टुकड़ा देकर उस नाम के संबंध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है – उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिए, तो उन्हें अयोग्य समझकर विदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के

पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजों को वे अलग-अलग खानों में संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद वह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन आरम्भकाल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना –

'अगस्त 21, 12 बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सफेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओंठ ऊपर उठे हुए और मोटे, मूँछे ऐंठी हुई।

'सितंबर 1, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिंब काला, हरा, चमकीला, लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।'

उन्हीं महाशय, से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो आपने कहा, 'चारों तरफ।' अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों जगहों से सुंदर

कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देखभाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छांट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों हो बातों में यह चर्चा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जाएँ तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुंदर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए, वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं –

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्य! के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखें से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वह तो पूर्वकालीन लेखक ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है। लेकिन अगर पहने किसी ने बूढ़े, कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी

वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में गए चरित्र न मिलें पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वह भी देखिए –

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतम-भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकत है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका न कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अंग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा – आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला? (फ्रांस, रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणत: नहीं दिखाई पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्राटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिससे कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमे वह

ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद हो जो एक इंच से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है!`

जी के चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं। आपने | कहानियों लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका बयान लिखते हैं –

'कहानी में जो रहस्य हो से कई भागों में बंटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुलें, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में रहस्य खुल जाएँ। लेकिन हर एक बात में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमें पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने की बलवती होती चली जाएँ। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परम आवश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई या चरित्र न लाया जाएँ। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य खुलने में तभी मजा हैं जबकि वह चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी संदेह न कर सकता था।'

उपन्यास कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसीलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करता जिनको वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह

नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह टाले और पाठक को कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है रंग वह अपनी अभिरूचि के अनुसार भर लेता। कुशल लेखक वही है जा यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं स्वयं सोच लेगा और कौन सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक को कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री सही उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूपरेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलियानवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत सी अनावश्यक बातों के आ जाने की संभावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें हो आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं, केवल मुख्य तानें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं! तब उस दृश्य के वर्णन में अनावश्यक बातें नें रहेगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपने आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं –

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हमें उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम – गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनंद तो है?

श्याम – हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े?

राम – कहो क्या रंग-ढंग है? तुम तो भले ईद के चाँद हो गए।

श्याम – मैं तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले हो हो गए।

राम – चलते हो संगीतालय की तरफ ?

श्याम – हाँ, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा –

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।'

[मूल स्रोत अज्ञात]

उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरी ललित कलाओं से कहीं ज्यादा विस्तृत है। वाल्टर बेसेंट ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किए हैं

‘उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं हैं। उसका संबंध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है, मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न -भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।’

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम हैं, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्त्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है तो आप उपन्यास में महान दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के

लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता, लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बंधन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यास को बेडियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलने वालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लंबे-चौडे मार्गहीन मैदान में चलने वालों के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में कभी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, अगर इस भक्ति की कमी है तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यों हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितता ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और पथाव डालने वाली शैली में बयान करने की झशक्ति मौजूद है, लेकिन कल्पना की कमी फे कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर

सकते, जीती-जागती तस्वीरें नहीं खींच रकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह खयाल नहीं होता कि इम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास की रचना शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई-न-कोई गूढ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट- बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम खयाल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। संभव हैं, ऐसे लेखक को थोडी देर के लिए यश मिल जाए, कितु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि बह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाए, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढांचे से निकट संबंध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवशयक अंग बन जाए, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जाएगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता

है, तो वह पाठक के उसे आनंद में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आनंद आ रहा था। उप-गस में वही घटनाएं, यही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाये, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था, इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। सम्प्रति-कालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों को खोलना होता है, अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाए। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुंजाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर वैसा ही

प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बडा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागृत कर दे जो उसके पात्रों में हो। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है – उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भावे उत्पन्न हो जाए।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागृत नहीं होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाये। हमारे हृदय के अंतरतम भाव साधारण दशाओं में आंदोलित नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावों की गहराई तक पहुँच जाएँ, अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालने वाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दरबार में आकर खडी होती है और राजा उसे न पहचान कर अपनी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकुल के उपन्यासों में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचंड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आए दिन की साधारण बातों ही में उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं का, कमजोरियों और अपकीर्तियों का विशद वर्णन वांछनीय हैं या नहीं मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है। वह कभी उस कलाविद् को महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आंतरिक दशा को सत् और असत् के संघर्ष और अंत में सत्य की विजय को मार्मिक ढंग से दर्शातो है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दुष्ट को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियां लेना, यहाँ वक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी अनावश्यक होता है। लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय मानसिक व्यथा `सहानुभूति और उदारता से ही शांत हहो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊंचा नहीं बना सकते बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जाएगा कि 'तुम`कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य – सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का संबंध सत्य और सुंदर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ-सी आ गई है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब ऐसे

कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासों में क्यों इतना आनंद आता है? क्या इसका कारण यह कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगों को यह यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शांति के युग में ऐसी घटनाओं का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को संतुष्ट कर सके – जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन -लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाद्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं, वकील आत हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनंद नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गयो। अगर मेरा अनुभव गलत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की

प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। :ससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य में पशु-वृत्तियां इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक यी रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनो`भों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते बल्कि उनमें क्रमश: विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त, अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़ने वाले को किसी तब्दीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जाएगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था-उसके बल, बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं, लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह वही अंत में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्- – पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आहाय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अंकित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ-न-कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास में भी न होनौ चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता कर देते हैं, लेकिन असली अंतर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुंदर होगा। वार्तालाप केवल रस्सी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को-जो किसी चरित्र के मुँह से निकले-उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिए।

बातचोत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है मानों लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समान की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कर न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाडी और ऐंग्लोइण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाए जाते हैं। लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। पर ग्रामीण बातचीत हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पाम का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभाव का, उसके चरित्र का उसके जीवनादर्शन का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसकें हृदय में देखने की लगती है उसके चरित्र घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रंगी हुई नजर आएगी। लहरी आनंदी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हें जगत गति नहीं व्यापती। वह जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता झलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को जिंदादिल न बना सकेगा। 'आजाद कथा' को उठा लीजिए, तुरंत मालूम हो जाएगा कि लेखक हँसने-हँसाने वाला जीव है,

वह जीवन को गंभीर विचार के योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वहाँ शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करें, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं – जो जीवन से लद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने जिंदगी के ऊँच-नीच देखे हैं, संपत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिंदगी मखमली गद्दों पर ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिसमें प्रकाश, जीवन और आनंद-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हें केवल लेखक की कल्पनाओं से संतोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है, जो अनुभूति पर खडे हों।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा। हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है, पर बहुधा हम परिस्थितियों

का ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अंत स्वाभाविक होने पर भी वही होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वांग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं, लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वांग से संतुष्ट न होगा।

यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बडे आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बडाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखान चाहते हैं, भविष्य मे सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देशभक्त का, या किसी बदे आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हें, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

[‘हंस’, मार्च, 1930]

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुंबद बनते हैं, लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनंत है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनंद है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनंद ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न-द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लंबे-चौडे भवन में, किसी को ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनंद, इस आनंद से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुंदर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनंद सुंदर और सत्य से मिलता है। उसी आनंद को दर्शाना, वही आनंद, उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनंद में ग्लानि छिपी होती है। उससे

अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है, पर सुंदर से जो आनंद प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनंद है? अगर ऐसा न होगा, तो वह रसों में गिना क्यों जाता है। हाँ, है। वीभत्स में सुंदर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया हं, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस का लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुंदर है, क्योंकि उसकी वृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनंद को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हम एक रस में सुंदर खोजता है – राजा के महल में, रंक की झोंपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अंदर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अंधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोंपड़ी में जितनी आसानी से सुंदर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वही आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडंबर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या संबंध है। अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो श्रृंगार-विहीन

और असुंदर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से संबंध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमे सुंदर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों को झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, यह भाव रहें, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुंदर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का संबंध है दूसरा प्रयोजन का संबंध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का संबंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का संबंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का संबंध केवल आनंद का संबंध है। सत्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं पर साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का संबंध विचार से है, प्रयोजन का संबंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढंके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शबरी के झूठे बेर क्यों प्रेम से खाते

हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमे समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महान् पुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गए हैं, जो जड जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का ज्ञान है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरांत कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इसी मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियाँ में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता हैं, वह वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध, या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको वे बेरोक-टोक चलने दें, तो निःसंदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायेगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता हैं, जिसमे वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किंतु नटखट लड़कों से डांटकर कहना – तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे – अक्सर व्यर्थ ही होता है, बल्कि उस प्रकृति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाएँ, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शात हो जाएँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य हो मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भांति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से संभव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। राहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है, कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रंथों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएं रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेह, कुरान, इंजील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रहमात्र हैं। उन्हीं

कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मो की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जाएँगा। क्या उन धर्म-प्रवर्तकों ने अकारण ही मानव-जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक संदेश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव जोवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिनके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं, लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानों विश्व की आत्मा `र साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे, पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू मी लकडी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा

देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बंधु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिए कि हम उनके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अंत:करण में हम उतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व को आत्मा से ऐसी Harmony (समभाव) प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता हैं, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका भी कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमे वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुरानी नहीं

होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय में तब्दीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनंत तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रंथ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमे अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ हो इतिहास हैं। इतिहास जीवन में विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देशकाल का प्रतिबिंब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी संदेह किया जात` है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ेंगे जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य को मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल लेना होगा। जो सुंदर है, उसकी ओर-मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जाएँ पर असुंदर की ओर हमारा आकर्षण नहीं

हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह असंभव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है – हमारा आशय दिल्ली में कत्लेआम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्लेआम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई संदेह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्लेआम को बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शांत होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस भी नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा –

कसे न मांद कि दीगर ब तेगे नाज़ कुशी।
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिंदा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है, पर इसे सुनकर कातिल के दिल में

मनुष्य उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कत्लेआम तुरंत बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध हैं, जब उसने एक अंग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा – तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा – इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंग्लैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है – उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व को आत्मा के अंतर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है – साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी कांडों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसी सारी संस्कृति उन्मत्त होकर

मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जा रही है अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नही, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के कांटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी संदेह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ़ सौ साल से अधिक नहीं पर अभी से संसार उससे तंग आ गये है। पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसको दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है, कि वह जिस रास्ते पर जा रहा हे वह रास्ता ठोक नहीं है, पर वह इतनी दूर आ चुका है, कि अब लोटने की उसमे सामर्थ्य नहीं है। वह आगे हो जाएँगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमे नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कंपनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने का उस समय कृतकार्य समझता है जब वह इस मायाबंधन से मुक्त हो जाता है, जब उसमे राग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की

सबसे मूल्यवान संपत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के सांचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी सांचे में ढलकर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते, पर एक धन्वंतरि के होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणत: युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फ़ौजदार बन जाते हैं। परंतु आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते है। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बंधनों को तोड़ने की जरूरत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं, कि मजेदार चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही

साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अग है, पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्मसंयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करन या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्त्व का ज्ञान इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल को आशा नहीं की जा सकतीं। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोना तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी हो थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का

उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

['हंस', अप्रैल 1932 में प्रकाशित]

साहित्य का आधार

साहित्य का संबंध बुद्धि से उतना नहीं जितना भावों से है। बुद्धि के लिए दर्शन है विज्ञान है, नीति है। भावों के लिए कविता है, उपन्यास है, गद्यकाव्य है।

आलोचना भी साहित्य का एक अंग मानी जाती है, इसलिए कि वह साहित्य को अपनी सीमा के अंदर रखने की व्यवस्था करती है। साहित्य में जब कोई ऐसी वस्तु सम्मिलित हो जाती है, जो उसके रस प्रवाह में बाधक होती है , तो वहीं साहित्य में दोष का प्रवेश हो जाता है। उसी तरह जैसे संगीत में कोई बेसुरी ध्वनि उसे दूषित कर देती है। बुद्धि और मनोभाव का भेद काल्पनिक हो समझना चाहिए। आत्मा में विचार, तुलना, निर्णय का अंश, बुद्धि और प्रेम, भक्ति, आनंद, कृतज्ञता आदि का अंश भाव है। ईर्ष्या, दंभ, द्वेष, मत्सर आदि मनोविकार हैं। साहित्य का इतना ही प्रयोजन है कि वह भावों को तीव्र और आनंदवर्द्धक बनाने के लिए इनकी सहायता लेता है, उसी तरह, जैसे कोई कारीगर श्वेत को और श्वेत बनाने के लिए श्याम की सहायता लेता है। हमारे सत्य भावों का प्रकाश ही आनंद है। असत्य भावों

में तो दुःख का ही अनुभव होता है। हो सकता हैं कि किसी व्यक्ति को असत्य भावों में भी आनंद का अनुभव हो। हिंसा करके, या किसी के धन का अपहरण करके या अपने स्वार्थ के लिए किसी का अहित करके भी कुछ लोगों को आनंद प्राप्त होता है, लेकिन यह मन की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। चोर को प्रकाश से अंधेरा कहीं अधिक प्रिय है। इससे प्रकाश की श्रेष्ठता में कोई बाधा नहीं पड़ती। हमारा तैसा मानसिक संगठन है, उसमे असत्य भावों के प्रति घृणामय दया ही का उदय होता है। जिन भावों द्वारा हम अपने को दूसरों में मिला सकते हैं, बही सत्य भाव हैं, प्रेम हमें .अन्य वस्तुओं से मिलाता है, अहंकार पृथक करता है। जिसमे अहंकार की मात्रा अधिक है वह दूसरों से कैसे मिलेगा? अतएव प्रेम सत्य भाव हैं, अहंकार असत्य भाव है। प्रकृति से मेल रखने में ही जीवन है। जिसके प्रेम की परिधि जितनी ही विस्तृत है, उसका जीवन उतना ही महान् है।

जब साहित्य की सृष्टि भावोत्कर्ष द्वारा होती है, तो यह अनिवार्य है कि इसका कोई आधार हो। हमारे अंत:करण का सामंजस्य जब तक बाहर के पदार्थों या वस्तुओं या प्राणियों से न होगा, जागृति हो ही नहीं सकती। भक्ति करने के लिए कोई प्रत्यक्ष वस्तु चाहिए। दया करने के लिए भी किसी पात्र की आवश्यकता है। धैर्य और साहस के लिए भी किसी सहार की जरूरत है। तात्पर्य यह हे कि हम भावों को जगाने के लिए उनका बाहर की

वस्तुओं से सामंजस्य होना चाहिए। अगर बाह्य प्रकृति का हमारे ऊपर कोई असर न पड़े, अगर हम किसी को पुत्र-शोक भी विलाप करते देखकर आँसू की चार बूँदें नहीं गिरा सकते, अगर हम किसी आनंदोत्सव में मिलकर आनंदित नहीं हो सकते, तो यह समझना चाहिए कि निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। उस दशा के लिए साहित्य का कोई मूल्य नहीं। साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुख-दुःख से सुखी या दुःखी हो सके और दूसरों में सुख या दुःख पैदा कर सके। स्वयं दुःख अनुभव कर लेना काफी नहीं है। कलाकार में उसे प्रकट करने का सामर्थ्य होना चाहिए। लेकिन परिस्थितियां मनुष्य को भिन्न दिशाओं में डालती हैं। मनुष्य मात्र में भावों की समानता होते हुए भी परिस्थितियों में भेद होता ही है। हमें तो मिठास से काम है, चाहे वह अब ऊख में मिले या खजूर में या चुकंदर में। अगर हम किसानों में रहते हैं या हमें उनके साथ रहने के अवसर मिले हैं, तो स्वभावत: हम उनके सुख दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं और उससे इसी मात्रा में प्रभावित होते हैं जितनी हमारे भावों में गहराई है। इसी तरह अन्य परिस्थितियों को भी समझना चाहिए। अगर इसका अर्थ यह लगाया जाएँ कि अमुक प्राणी किसानों का या मजदूरों का या किसी आंदोलन का प्रोपेगेंडा करता है, तो यह अन्याय है। साहित्य और प्रोपेगेंडा में क्या अंतर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपेगेंडा

में अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवाह नहीं करती। साहित्य, शीतल, मंद समीर है, जो सभी को शीतल और आनन्दित करती है। प्रोपेगेंडा आंधी है, जो आँखों में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखाड़ उखाड़ फेंकती है और झोंपड़े तथा महल दोनों को ही हिला देती है। वह रस-विहीन होने के कारण आनंद की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमे सौंदर्य और रस भर सके , तो वह प्रोपेगेंडा की चीज न होकर सद्साहित्य की वस्तु बन जाती है। 'अंकिल टॉम्स केबिन' दास प्रथा के विरुद्ध प्रोपेगेंडा है, लेकिन कैसा प्रोपेगेंडा है? जिसमे एक-एक शब्द में रस भरा हुआ है। इसलिए वह प्रोपेगेंडा की चीज नहीं रहा। बर्नार्ड शॉ के ड्रामे, वेल्स के उपन्यास, गाल्सवर्दी के ड्रामे और उपन्यास, डिकेंस, मेरी कारेली , रोमाँ रोलां, चेस्टरटन, टॉल्स्टॉय, चेस्टरटन, डास्टावेस्की, मैक्सिम गोर्की, सिंक्लेयर कहाँ तक गिनाएँ। इन सभी की रचनाओं में प्रोपेगेंडा और साहित्य का सम्मिश्रण है। जितना शुष्क विषय-प्रतिपादन है वह प्रोंपेगेंडा है, जितनी सौंदर्य की अनुभूति है, वह सच्चा साहित्य है। हम इसलिए किसी कलाकार से जवाब तलब नहीं कर सकते कि वह अमुक प्रसंग से ही क्यों अनुराग रखता है। यह उसकी रुचि या परिस्थितियों से पैदा हुई परवशता है। हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक कसौटी है — वह हमें सत्य और सुंदर के

समीप ले जाता है या नहीं? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नहीं ले जाता तो प्रोपेगेंडा या उससे भी निकृष्ट है।

हम अक्सर किसी लेखक की आलोचना करते समय अपनी रुचि से पराभूत हो जाते हैं। ओह, इस लेखक की रचनाएँ कौड़ी काम की नहीं, यह तो प्रोपेगेडिस्ट है, यह जो कुछ लिखता है, किसी उद्देश्य से लिखता है, इसके यहाँ विचारों का दारिद्रय है। इसकी रचनाओं में स्वानुभूति दर्शन नहीं इत्यादि। हमें किसी लेखक के विषय में अपनी राय रखने का अधिकार है, इसी तरह औरों को भी हैं, लेकिन सद्साहित्य की परख वही है जिसका हम उल्लेख कर आये हैं। इसके सिवा कोई दूसरी कसौटी हो ही नहीं सकती। लेखक का एक-एक शब्द दर्शन में डूबा हो, एक-एक वाक्य में विचार भरे हों, लेकिन उसे हम उस वक्त तक एक सद्साहित्य नहीं कह सकत, जब तक उसमे रस का स्रोत न बहता हो, उसमे भावों का उत्कर्ष न हो, वह हमें सत्य की ओर न ले जाता हो, अर्थात् बाह्य प्रकृति से हमारा मेल न करता हो। केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रंथ हो सकता है, सरस साहित्य नहीं दो सकता। जिस तरह किसी आंदोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपेगेंडा है, उसी तरह किसी तात्त्विक विचार या अनुभूत दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपेगेंडा है। साहित्य जहाँ रसों से पृथक् हुआ,

वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और प्रोपेगेंडा के क्षेत्र में जा पहुँचता है। आस्कर वाइल्ड या शा आदि को रचनाएं जहाँ तक विचार-प्रधान हों, वहाँ तक रसहीन हैं। हम रामायण को इसलिए सद्साहित्य नहीं समझते कि उसमे विचार या दर्शन भरा हुआ है, बल्कि इसलिए कि उसका एक-एक अक्षर सौंदर्य के रस में डूबा हुआ है, इसलिए कि उसमे त्याग और प्रेम और बंधुत्व और मैत्री और साहस आदि मनोभावों की पूर्णता का रूप दिखाने वाले चरित्र हैं। हमारी आत्मा अपने अंदर जिस अपूर्णता का अनुभव करती है। उसकी पूर्णता को पाकर वह मानों अपने को पा जाती है और यही उसके आनंद की चरम सीमा है।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि बहुधा एक लेखक की कलम से जो चीज प्रोपेगैंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक की कलम से सद्साहित्य बन जाती है। बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर मुनहसर है! हम जो कुछ लिखते हैं, यदि उसमे रहते भी हैं तो, हमारा शुष्क विचार भी अपने अंदर आत्म-प्रकाश का संदेश रखता है और पाठक को उसमे आनंद की प्राप्ति होती है। वह श्रद्धा जो हममें हैं, मानों अपना कुछ अंश हमारे लेखों में भी डाल देती है। एक ऐसा लेखक जा विश्व-बंधुत्व की दुहाई देता हो, पर तुच्छ स्वार्थ के लिए लड़ने पर कमर कस लेता हो, कभी अपने ऊँचे आदर्श की सत्यता से हमें प्रभावित नही कर सकता। उसकी रचना में तो विश्व-

बंधुत्व की गंध आते ही हम ऊब जाते हैं, हमें उसमे कृत्रिमता की गंध आती है और पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, लेखक में बनावट या दिखावा या प्रशंसा की लालसा को क्षमा नहीं कर सकता। हाँ, अगर उसे लेखक में कुछ श्रद्धा है, तो वह उसके दर्शन, विचार, उपदेश, शिक्षा सभी असाहित्यिक प्रसंगों में सौंदर्य का आभास पाता है। अतएव बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। लेकिन हम लेखक से परिचित हों या हों, अगर वह सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है, तो हम उसकी रचना में आनंद प्राप्त करने से अपने को रोक नहीं सकते। साहित्य का आधार भावों का सौंदर्य है, इससे परे जो कुछ है वह साहित्य नहीं कहा जा सकता।

['जागरण', 12 अक्टूबर 1932]

साहित्य की प्रगति

साहित्य की सैंकड़ो परिभाषाएँ की गई हैं और उनमें से हम अपना मतलब निकालने के लिए एक ही लेंगे। परिभाषा है तो पंडितों की वस्तु, मगर जब घर बनाना है तो नींव डालनी ही पड़ेगी। हवा में मकान बना सकते तो क्या बात थी, लेकिन अभी विज्ञान वह विद्या नहीं जान पाया है। साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि सत्य कि खोज की जाएँ। सत्य क्या है और असत्य क्या हैं, इसका निर्णय हम आज तक नहीं कर सकें। एक के लिए जो सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य। एक श्रद्धालु हिन्दू के लिए चौबीसों अवतार महान सत्य हैं – संसार की कोई भी वस्तु धन, धरती, पुत्र, पत्नी उसकी नजरों में इतनी सत्य नहीं हैं। उस सत्य को रक्षा के लिए बह अपनी ही नहीं, अपने पुत्रों को आहुति भी दे देगा। इसी प्रकार दया एक के लिए सत्य है, पर दूसरा उसे संसार के सब दुःखों का मूल समझता हैं और इसलिए असत्य कहता है। इसी सत्य और असत्य का संग्राम साहित्य है। दर्शन और विज्ञान का उद्देश्य भी यही है, लेकिन वह बुद्धि के रास्ते से वहाँ पहुँचा चाहता है। बेचारा साहित्य भी वही यात्रा कर रहा हैं लेकिन

गंभीर विचार से, मौन न रहकर, केवल थकन मिटाने के लिए अपनी खंजरी बजाकर गाता भी जाता है। यह रास्ता तो काटना ही पड़ेगा, तो क्यों न हंस-खेलकर काटे। इसी 'दया' सत्य पर बड़े-बड़े धर्मों की बुनियाद पड़ी , यह मानों मानव जाति की ओर से इंद्र को ललकार थी, उनका सिंहासन छीनने के लिए, लेकिन आज उसका मजाक उड़ाया जा रहा है।

यह सत्य और असत्य की यात्रा उसी वक्त से शुरू हुई जब से मनुष्य में आत्मा का विकास हुआ। इसके पहले तो उसकी सारी शक्तियाँ प्रकृति से अपने भोजन के लिए लड़ने में ही खर्च हो जाती थीं। जब ये चिंता लगी हो कि आज बच्चे खायेंगे क्या या आज रात की सर्दी काटने के लिए आग जैसे बने, तो सत्य और असत्य के रोग कौन गाता। उस वक्त सबसे बड़ा सत्य वह भूख और ठंड थी। साहित्य और दर्शन सभ्य जीवन के लक्षण हैं, जब हममें इतना सामर्थ्य आ जाएँ कि पेट के सिवा कुछ और भी सोच सकें। रोटी-दाल से निश्चिंत होने के बाद ही खीर और पकौडी की सूझती है। आदि में मनुष्य में पशु-प्रकृति की ही प्रधानता थी। केवल पशुबल ही सबसे बड़ा अधिकार था। मगर जब मनुष्य आये दिन के कलह और संघर्ष से तंग आ गया तो तरह-तरह के नियम बने और मतों की सृष्टि हुई। नये-नये सत्यों का आविष्कार हुआ, जो प्रकृत सत्य न थे, वरन् मानव सत्य थे। मनुष्य ने अपने को नीति के बंधनों से जकड़ना शुरू कर दिया। जातियाँ बनीं,

उपजातियाँ बनीं और जायदाद के आधार पर समाज का संगठन हो गया। पहले दस-पाँच भेड़-बकरियाँ और थोडा-सा नाज ही संपत्ति थी। फिर स्थावर संपत्ति का आविर्भाव हुआ और चूँकि मनुष्य ने इस संपत्ति के लिए बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ की थीं, बड़े-बड़े कष्ट उठाये थे, वह उसकी नजरों से सबसे बहुमूल्य वस्तु थी। उसकी रक्षा के लिए वह अपनी और अपने पुत्रों के प्राणों की बाजी लगा सकता था। विवाह-प्रथा को ऐसा रूप दिया गया कि संपत्ति घर से बाहर न जाने पावे। और उस धुँधले अतीत से आज तक का मानव- इतिहास केवल संपत्ति-रक्षा का इतिहास है। तब समाज में दो बड़े-बड़े भेद हो गए। जो संसार के इस संग्राम में परास्त हो गए, उन्होंने ईश्वर-भजन का आश्रय लिया और संसार को माया कहकर उससे विरक्त हो गए और नये-नये बंधन बनने लगे, यहाँ तक कि हमारे क्षेत्र संकुचित होते-होते रूढ़ियों का एक कारागार-सा बन गया। धर्म के नाम पर हजारों तरह के पाखंड समाज में घुस आये, जिनमे उलझकर मानव समाज की गति रुक गयी। अति सब चीज की दुःखकर होती है। यह प्रकृति का नियम है। वही संस्थाएं जिनका निर्माण समाज में कल्याण के निमित्त किया गया था अंत में समाज के पाँव की बेड़ियाँ बन गईं। वही दूध, जो एक मात्रा में अमृत है उस मात्रा से बढ़कर विष हो जाता है। मानव-समाज में शांति का स्थापन करने क लिए जो-जो योजनाएं सोच निकाली गईं वह सभी कालांतर में या

तो जीर्ण हो जान के कारण अपना काम न कर सकीं या कठोर हो जाने के कारण कष्ट देने लगी। जो पहले कुलपति था वह राजा बने। फिर इतना शक्तिशाली बन बैठा कि अपने को भगवान का कारकुन समझने लगा, जिससे बाजपुर्स (सवाल-जवाब) करने का किसी मनुष्य को अधिकार न था। उसकी अधिकार-तृष्णा बढ़ने लगी। उसकी इस तृष्णा पर समाज का रक्त बहने लगा। अंत में आदम जाति में इन दशाओं के प्रांत विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया। मनुष्य की आत्मा इन निरर्थक ही नहीं, घातक बंधनों का मकड़ी के जाले की भांति तोड़-फोड करके निर्मल, स्वच्छ, मुक्त आकाश ओर वायु में विचरण करने के लिए आतुर हो उठी। बीच-बीच में कितनी ही बार एस विद्रोह उठे। हमारे जितने मत हैं, वह सब इसी विद्रोह के स्मारक हैं, किंतु उन विद्रोह में कलह की जो मुख्य वस्तु थी, वह ज्यों की त्यों बनी रहीं। संपत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ या तो किसी को सूझी ही नहीं। जो इन सारे दुर्व्यवस्थाओं का मूल था वह इतने सौम्य वेश में धर्म और विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था, कि किसी को उसकी ओर संदेह कर की भी प्रेरणा न हुई। हालांकि उसी के इशारे और सहयोग से समाज पर नित नये बंधन लगाए जा रहे हैं। यह बड़े-बड़े न्यायालय और यह साम्राज्यवाद और ये बड़े बड़े व्यापार के केंद्र उसी के रचे हुए खिलौने हैं। ये भिन्न-भिन्न मत उसके खिलौनों के सिवा

और क्या हैं। यह जात-पांत ऊँच-नीच का भेद उसी की छोड़ी हुई फुलझडियाँ हैं। यह चकले, जो मानव-समाज के कोढ़ हैं, उनके क्रूर विनोद हैं। यह हमारी असंख्य विधवाएँ, यह हमारे लाखों मजूर जो पशुओं की भांति जीवन काट रहे हैं, उसी भानमती के छू-मंतर को विभूतियाँ हैं, उसने Puritanism [1] का कुछ ऐसा निषेधात्मक रूप ग्रहण कर लिया है, कि जो उससे अणु मात्र भी विमुख हो जाएँ उसकी खैरियत नहीं। उसका कानून मार्शल-ला से कहीं कठोर, कहीं जान-लेवा है। उसकी अपील के लिए कहीं कोई tribunal (न्यायपालिका) नहीं है | सारांश यह कि उसने जीवन को इतना संकीर्ण, इतना उलझनदार, इतना अन्यायपूर्ण, इतना स्वार्थमय, इतना कृत्रिम बना दिया है कि मानवता उससे भयभीत हो उठी है और उसको उखाड़ फेंकने के लिए, उसके पंजों से निकल जाने के लिए वह अपना पूरा जोर लगा रही है। इन रूढ़ियों ने, इन बंधनों ने, इन असत्य बाधाओं ने, ब्राह्मण की व्यापक चेतना में जो दर्बे-से बना दिये हैं, जिनमे बन्द होकर वह अपनी स्वच्छंदता खो बैठे हैं, आज हमारी आत्मा उन दर्बों को तोड़कर उस व्यापक चेतना से सामंजस्य प्राप्त करने के लिए उतारू हो गयी है। संभव है, रस्सी को जोर से खींचकर इसके टूटने के साथ ही वह

---

[1] 16 वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ ईसाई धर्म की शुद्धिकरण का आन्दोलन, जिसका उद्देश्य ईसाई धर्म को धार्मिक परम्पराओं और आडम्बरों मुक्ति करना था।

अपने ही जोर में गिर पड़े। संभव है पिंजरे में बन्द पक्षी की भांति पिंजरे से निकलकर वह शिकारी चिड़ियों का ग्रास बन जाएँ, पर उसे गिरना मंजूर है, ग्रास बन जाना मंजूर है, उन दर्बों में रहना मंजूर नहीं। संसार को जी भरकर भोगने की अबाध लालसा जिसे सदियों की Puritanism ने खूं-ख्वार बना दिया है, सर्व-भक्षी बन जाना चाहती है। निषेधों की उसे बिल्कुल परवाह नहीं है। वह पाप को पुण्य, असत्य को सत्य और अपूर्ण के पूर्ण बना देना ठान बैठी है उसने Puritanism का सदियों तक व्यवहार करके देख लिया हे और अब बिना उसे जमीन में दफन किये उसे चैन नहीं। झूठ बोलना पाप हैं | क्यों पाप है? अगर उस झूठ से समाज का अहित होता है तो बह बेशक पाप है अगर उससे समाज का कल्याण होता है, तो वह पुण्य है। निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व को ही वह स्वीकार न करती। चोरी को तुम पाप कहते हो? तुम चाहत हो कि संसार को सारी संपत्ति बटोरकर उस पर एकाधिपत्य जमा लो। कोई उसे छूए तो उसके लिए जेल है, फांसी है। हममें और तुम्हें इसके सिवा और क्या अंतर है, तुम सफल चोर हो और हम चोर-कला में तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। इस Puritanism ने हमारी आत्मा को कितना शुष्क काठ का-सा कठोर बना दिया है कि उसमे रस का लोप हो गया। कविता कितनी ही सुंदर और भावमयी हो, वह उसका आनंद नहीं उठा सकती। इससे वासनाओं का उद्दीपन होता है। चित्रकला से तो

उसे दुश्मनी है। भला मनुष्य की क्या मजाल है कि वह परमात्मा के काम में दखल दे। सृष्टि परमात्मा का काम हैं: मनुष्य अगर उसकी नकल करता है, तो उसे सूली पर चढ़ा दो, फांसी पर लटका दो। इतिहास में ऐसे धर्मात्माओं की कमी नहीं हे जिन्होंने पुस्तकालय जला दिए, चित्रालयों को भूमिस्थ कर दिया, संगीत के उपासकों को निर्वासित कर दिया। तीर्थ स्थानों में जो पिशाच-लीलाएँ होती हैं वह इसी Puritanism का प्रसाद हैं। आज भारत में जो पाँच करोड़ अछूत, नौ करोड़ मुसलमान और शायद एक करोड़ ईसाई हैं और जिस अनैक्य के कारण राष्ट्र के विकास में बाधाएं खड़ी हो गयी हैं, उसका जिम्मेदार इस Puritanism के सिवा और कौन है? और जगहों में तो प्युरिटेनिज्म से ज्यादा हानि नहीं होती, मत शराब पियो, मत मांस खाओ। इसके बगैर समाज की कोई हानि नहीं। दरिद्र देश में पैसे का दुरुपयोग किसी तरह भी क्षम्य नहीं। लेकिन इससे पैदा होने बाली अहम्मन्यता तो और भी जघन्य है। त्याग और संयम स्तुत्य हैं, उसी हालत में, जब वह अहंकार को न अंकुरित होने दे, लेकिन दुर्भाग्य से इन दोनों में कारण और कार्य सा निबंध पाया जाता है। जो जितना ही नीतिवान है, वह उतना ही अहंकारी भी है। इसलिए समाज आचारवानों को संदेह की आँखों से देखता है। एक शराबी या ऐयाश आदमी अगर उदार हो, सहानुभूति रखता हो, क्षमाशील हो, सेवा-भाव रखता हो तो समाज के लिए वह एक

पक्के आचारवादी किंतु अनुदार, घमंडी, संकीर्ण हृदय पुरुष से कहीं ज्यादा उपयोगी है। प्युरिटन मनोवृत्ति जैसे इस ताक में रहती है कि किसका पाँव फिसले और वह तालियाँ बजाये। प्युरिटनिज्म और अनुदारता दो पर्याय-से हो गए हैं और जहाँ सेक्स का प्रश्न आ जाता है, वहाँ तो वह नंगी तलवार बारूद का ढेर है। यहाँ वह किसी तरह की नर्मी नहीं कर सकता। उसे अपने नियमों की रक्षा के लिए किसी का जीवन नष्ट कर देने में एक प्रकार का गौरव युक्त आनंद प्राप्त होता है। भोग उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप है। चोरी करके हम समाज में रह सकते हैं, धोखा देकर, झूठी गवाही देकर, निर्बलों को कुचलकर मित्रों से विश्वासघात करके, अपने स्त्री को डंडों से पीटकर हम समाज में रह सकते है, उसी शान और अकड़ के साथ, लेकिन भोग अक्षम्य अपराध है। उसके लिए कोई प्रायश्चित नहीं। पुरुषों के लिए तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ भी हो जाएँ, किंतु स्त्रियों के लिए क्षमा का द्वार बन्द हैं और उन पर अलीगढ़ वाला बारह लीवर का ताला पड़ा हुआ है। इसी का यह प्रसाद है कि हमारी बहनें और बेटियाँ आये दिन तीर्थ-स्थान में लाकर छोड़ दी जाती हैं और इस तरह उन्हें कुत्सित जीवन बिताने के लिए मजबूर किया जाता है। हम केवल अपराधी को दंड देकर संतुष्ट नहीं होते, उसके कुटुम्ब का, उसकी संतान का और संतानों की भी संतान का बहिष्कार कर देते हैं। हम स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी व्यभिचार के

समर्थक नहीं, लेकिन यह कहाँ का न्याय है कि जिस अपराध के लिए पुरुष को दड देने में हम असमर्थ हों, उसी अपराध के लिए कुमारियों या विधवाओं को कलंकित किया जाएँ? सौभाग्यवतियों को हमने इसलिए छोड़ दिया है कि परिस्थितियाँ उनके अनुकूल हैं और समाज उन्हें दंड दन में असमर्थ है। जो पुरुष स्वयं बड़े धड़ल्ले से व्यभिचार करता है, वह भी अपना स्त्री को पिंजरे में बन्द रखना चाहता है और यदि वह मानव स्वभाव से प्रेरित शांकर पिंजरे से निकलने की इच्छा करें, तो उसकी गरदन पर छुरी फेरने से भी नहीं हिचकता। यह सामाजिक विषमता असह्य हो उठी है और वह बड़ी तेजी से विद्रोह का रूप धारण कर रही है।

इन सामाजिक दशाओं का हमने इसलिए संक्षिप्त वर्णन किया है कि जैसा हमने आरंभ में कहा है – साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि उससे सत्य और सुंदर की खोज की जाएँ। बाह्य जगत हमारे मन के अंदर प्रवेश करके एक दूसरा जगत बन जाता है, जिस पर हमारे सुख-दुःख, भय-विस्मय, रुचि या अरुचि जा: गहरा रंग चढ़ा होता है। एक ही तत्त्व भिन्न-भिन्न हृदयों में भिन्न भाव उत्पन्न करता है। एक आदमी अपने लड़के को इसलिए पीट रहा है कि लड़का खिलाड़ी मन लगाकर नहीं पढ़ता। इस पर तरह-तरह की आलोचनाएँ होती हैं। बाप का धर्म है कि लड़के को कुराह चलते देखे, तो उसे ताड़ना दे। यह सनातन रीति है।

दूसरा कहता है – नहीं लड़का केवल इसलिए खिलाड़ी हो गया है कि उसे प्रेम से पढ़ाया नहीं जाता। यह बाप का दोष है। तीसरा आदमी एक कदम और आगे जाता है और कहता है – खेलना लड़कों का स्वाभाविक धर्म है, यही उनकी शिक्षा है। बाप को कोई अधिकार नहीं है कि वह लड़के के प्राकृतिक विकास में बाधक हो। एक चौथा आदमी बाप की इस ताड़ना में पुत्र-स्नेह का नहीं – स्वार्थ, लोभ, दंभ का रंग झलकता हुआ देखता है। बाह्य जगत और मनुष्य में यही अंतर है। साहित्य की रचना करने वाले तो वही होते हैं जो जगत-गति से विशेष-रूप से प्रभावित होते हैं, जिनके मन में संसार को कुछ अधिक सुंदर, कुछ अधिक उत्कृष्ट देखने की महत्त्वाकांक्षा, होती है। वे असुंदर को देखकर जितने दुःखी होते हैं, उतना ही सुंदर को देखकर प्रसन्न होते हैं। और वे अपने हर्ष या शोक का एक भाग देना चाहते हैं। भाव को अपना बनाकर सबका बना देना, यही साहित्य है। डा. रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौंदर्य और साहित्य' नामक निबंध में लिखा है –

'सौंदर्य-बोध जितना विकसित होता जाता है, उतना स्वतंत्रता के स्थान पर सुसंगति, आघात के स्थान पर आकर्षण, आधिपत्य के स्थान पर सामंजस्य हमें आनंद देता है।'

हम उसमे इतना और मिला देंगे – अनुदारता की जगह उदारता, भेद की जगह मेल, घृणा की जगह प्रेम।

नवीन साहित्य को रुचि में बिल्कुल यही विकास नजर आ रहा है। वह अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी में से लिये जाते हैं जिन्हें कोई प्युरिटन छूना भी पसंद न करेगा। मैक्सिम गोर्की, अनातोल फ्रांस, रोमांरोलां, एच. जी. वेल्स आदि योरोप के, स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरद्चन्द्र आदि भारत के – ये सभी हमारे आनंद के क्षेत्र को फैला रहे हैं, उसे मानसरोवर और कैलाश की चोटियों से उतारकर हमारे गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वह किसी शराबी को, किसी जुआरी को, किसी विषयी को देखकर घृणा से मुँह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वह खूबियाँ, उसे कहीं बड़ी मात्रा में देखती हैं, जो धर्म ध्वजाधारियों में और पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलती। बुरे आदमी को भला समझकर, उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी संभावना है, उतनी उससे घृणा करके, उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुंदर है, विशाल है आदरणीय है, आनंदप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उन्हें आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय हैं, जो पतित हैं, जो अनादृत हैं। माता उस बालक से अधिक-से-अधिक स्नेह करती है, जो दुर्बल है, बुद्धिहीन है, सरल है। सपूत

बेटे पर वह गर्व करती है। उसका हृदय दुःखी होता है, कपूतों के लिए। कपूत हो में वह अपने मातृ-वात्सल्य को टिका पाती है। बीस-पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर कभी वह साहित्य में लायी जाती थी, तो केवल अपमानित किये जाने के लिए। रचयिता की प्युरिटन-मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दंड दिये विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की वस्तु नहीं, आदर और प्रेम की वस्तु बन गई है। गऊ को हत्या के लिए बेचने वाला अगर दोषी है तो खरीदने वाला कम दोषी नहीं है। खरीदने वाले का अगर समाज में आदर है तो बेचने वाले का क्यों अनादर हो? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है। उसमे भी भक्ति और श्रद्धा है, सहृदयता है। उसका तो जीवन ही पर सुख के लिए अर्पित हो गया है। वह समाज के गद्य की सूक्ति है। उसके शोभा इस में है कि वह गद्य में घुल-मिलकर संपूर्ण गद्य को सजीव और चमत्कृत कर दे। सूक्तियों को चुनकर अलग कर देने से उनका सूक्तिपन ज्यों का त्यों रहता है, समाज शुष्क ह जाता है। अगर कोई ईश्वर है, तो ये देवदासियाँ हिसाब के दिन उससे पूछेगी हमने सदा पर-सुख चेष्टा की, सदैव दूसरों के जख्म पर मरहम रक्खा, जख्मी भी किया लेकिन प्राण लेने के लिए नहीं, बल्कि अपना प्रेम Inject करने के लिए। क्या उसका यही पुरस्कार था?-और हमें विश्वास है, ईश्वर उन्हें कोई जवाब न दे सकेगा। प्राचीनकाल की अप्सराएँ तो देवताओं

और ऋषि-मुनियों की मंजूरे नजर थीं। हम उनकी कलजुगी बेटियों का किस मुँह से अनादर कर सकते हैं।

ईश्वर के जिक्र बड़े मौके से आ गया। साहित्य की नवीन प्रगति उनसे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भू-मंडल पर जो अनर्थ किए है और कर रहे हैं। उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था। आदमियों के रहने के लिए शहरों में स्थान नहीं है, मगर ईश्वर और उनके मित्रों और कर्मचारियों के लिए बड़े-बड़े मदिर चाहिए। आदमी भूखों मर रहे हैं, मगर ईश्वर अच्छे स अच्छा खायगा, अच्छे से अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा। अपनी सृष्टि की खबर लेना उसने छोड़ दिया, तो साहित्य भी, जो ईश्वर के दरबार में प्रजा का वकील हैं साफ साफ कह देगा – आपकी यह स्वार्थपरता आपकी शान के खिलाफ है। लेकिन ईश्वर की लीला कुछ ऐसी विचित्र है, कि हम मुँह से जितने हो अनीश्वरवादी बनते हैं, भग से उतने ही ईश्वरवादी बन जाते हैं। अब तक मुँह से ईश्वरवादी थी, आत्मा से पक्के नास्तिक। अब परिस्थिति बदल रही है और सच्चा ईश्वरवाद ऊषा की लालिमा से रोशन हो रहा है। घृणा को ईश्वरवाद से क्या प्रयोजन। जहाँ मेल है, सामंजस्य है, वहीं ईश्वर है। नकली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।

लेकिन इसके साथ युवकों को भौंगापन और युवतियों का तितलीपन भी नवीन प्रगति का एक लक्षण है। जिसके हम समर्थक नहीं। प्रणय केवल मनोविनोद की वस्तु नहीं। वह इससे कहीं पवित्र और महान है। वह आत्म समर्पण है, स्त्री के लिए भी और पुरुष के लिए भी। वर्तमान योरोपीय साहित्य बड़े वेग से अबाध प्रेम को ओर जा रहा है। वैवाहिक मैत्री और वैवाहिक परीक्षा की समस्याएँ साहित्य में हल की जा रही हैं। यह पेटभरों की स्वाद लिप्सा है। संसार का सारा धन खींचकर वे अब निश्चिंत हो गए हैं और निश्चिंत आदमी कामुकता की ओर न जाये,तो क्या करे! बौद्धिक विकास के लिए रसिकता परमावश्यक है। रस की उपेक्षा केवल दुर्बल ओर रक्तहीन प्राणी ही कर सकता है। जो स्वस्थ है, बलवान है, उसका रसिक होना अनिवार्य है, लेकिन रसिकता और कामुकता में जो अंतर है, उसे योरोप का साहित्य भूलता जा रहा है। सदियों के बंधन और निग्रह के बाद अब जो उसे यह वस्तु मिली है तो वह सर्वभक्षी हो जाना चाहता है। इस क्षुधातुरता की दशा में उसे खाद्य और अखाद्य कुछ नहीं सूझता। स्त्री और पुरुष दोनों ही वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से भाग रहे हैं। अगर वह प्युरिटनिज्म सीमा का अतिक्रमण कर गया था, तो यह रसिकता भी सीमा के बाहर निकली जा रही है। अब तक पुरुष इस क्षेत्र में विजय-कामना किया कर्ता था। अब स्त्री भी योरोपीय साहित्य में उसी मनोवृत्ति का

प्रदर्शन कर रही है। उसे शीतप्रधान देश के लिए सदैव उत्तेजना की जरूरत है। वहाँ जमे हुए घी को पिघलाने के लिए थोड़ी-सी गर्मी चाहिए ही। यहाँ तो घी यों ही पिघला रहता है, उसके लिए आँच दिखाने की जरूरत नहीं। रसिकता भोजन-रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है, जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर तो कोई जीवित नहीं रह सकता।

विषय बहुत बड़ा हैं। एक छोटे-से भाषण से उसकी काफी व्याख्या नहीं की जा सकती। समाज की वर्तमान संगठन दूषित है। दुःख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार, जिनके कारण संसार नरक के समान हो रहा है, इनका कारण दूषित समाज-संगठन हैं। सोशियोलोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है।

[हिन्दू विश्वविद्यालय की बिहारी एसोसिएशन के वार्षिक उत्सव पर पढ़ा गया। ‘ हंस’, मार्च, 1933 में प्रकाशित]

कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

बहनो और भाइयो ,

किसी कौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं, और उसकी तशरीह करना आप – जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरों वाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हाँ या नहीं बतला दिया करता है। कितने हाँ जीव तो केवल इशारों में ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी को ही हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज का खयाल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक़्ल-सूरत, व्यवहार-विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने

को व्यस्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा संबंध हमारी आत्मा से हैं। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक़्ल-सूरत, हमारे रंग-रूप ही की भांति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा का विकास होता हैं, हमारो भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव प्रकट करने लगे, वही लोग फिलॉसफी लिखते और शायरी करते हैं, और जब जमाना बदल जाता है और हम उग जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रंग- रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियों तक हमारा साथ देन रहती है और जितने लोग हम-जबान हैं, उनमें एक अपमान, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल-मिलाप के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालने वाल। रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं, लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखरने वाली शक्तियों की परवाह नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएँ भी होती हैं। अगर गौर से देखिये, तो बीस-पचीस कोस के अंदर ही भाषाओं में कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झांसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अंतर है, लेकिन नदी की उत्तर तरफ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमे और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा में साफ-साफ फर्क नजर आता है। सिर्फ प्रयाग में कम-से-कम दस तरह की भाषाएँ बोली जाती हैं। लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिन्दी ही में ब्रजभाषा बुंदेलखंडी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं , लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमे मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सच्ची प्रांतीय भाषाएँ हिन्दी को मातहत हो गयी हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता हे और अवसर पड़ने पर बोलता है; लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा को जरूरत पड़ गयी है, जो खारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाएँ, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्तान का पढ़ा-बेपढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज था जर्मन

या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेजी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें। लेकिन एक कौमी भाषा का मरकज़ी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड कभी मजबूत नहीं हो सकती। हमें रंज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने कौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब के सब ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं, लेकिन अभी तक उनका ध्यान खास तौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हे जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अंग्रेजी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी क़ौमियत का मीनार खड़ा किया जा रहा है। और अगर हमने क़ौमियत की सबसे बड़ी शर्तें, यानी कौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह राग कि आपकी कौम को जिंदा रखने के लिए अंग्रेजी की मरकज़ी हुकूमत का कायम रहना लाजिम होगा वरना कोई मिलाने वाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जायेंगे और प्रांतीयता जोर पकड़कर राष्ट्र का गला घोंट देगी, और जिस बिखरी हुआ दशा में हम अंग्रेजों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जायेंगे।

इस लापरवाही का खास सबब है – अंग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस

करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अंग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने में अंग्रेजों का हाथ बँटाने के लिए हमारा अंग्रेजी जानना जरूरी है। इल्म और हुनर और खयालात में जो इनकलाब होते रहते हैं, उनसे वाकिफ होने के लिए भी अंग्रेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अंग्रेजी के हाथ में हैं और कोई भी उस खजाने को नाचीज नहीं समझ सकता। दुनिया की तहजीबी या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के लिए अंग्रेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आँख नहीं बन्द कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार को दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में कौमी भाषा की जरूरत बिलकुल भूल गये और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अंग्रेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रांतीय भाषा से सारी जरूरत पूरी हो जाती थीं। कौमी भाषा का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कही ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापर से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी का तौंक को तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अंग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह

अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलो पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जाएँगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अंग्रेजीदाँ और गैर अंग्रेजीदाँ का भेद है। अंग्रेजीदाँ आर्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर-अंग्रेजीदाँ अनार्य है और उसका काम केवल आर्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात-चौगुना। अगर सो दो सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी जबान है, हमारा काम तो चलता है, लेकिन इधर तो हजार-दो हजार साल में भी उसके जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखे को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमें एक दीवार खिंच गयी है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमंड और दबदबे का असर होना ही चाहिए। हम अंग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अंग भूलकर हाकिम जाति का अंग समझने लगते हैं, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतों में कसदन, और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाता है, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गयी है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल,

पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है। जो हमारा अंग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अंग्रेजियत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमे बेहद उदारता आ गयी है, छूत-छात से सोलहों आना नफरत हो गयी है, वह अंग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा, लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे जे वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अंग्रेजी साहबों से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अंग्रेजी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाएँ, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का भी कभी ख्याल न आयगा।! मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुंजाइश नहीं है। ठोकरों पर-ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देश-भक्त पन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अंग्रेज साहब का मुकाबला करना चाहता रै। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। कांग्रेस को थोडा बहुत यश मिला. बवह जनता को उसी भाषा में अपील करने से मिला। हिन्दुस्तान में इस वक्त करीब चौबीस-पचीस करोड़

आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं। यह क्या दुख की बात नहीं कि वे जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ को भाषा हैं, और जो थोड़ी सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई होती है, अंग्रेजी में भाषण दिखे जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता को संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे बरदार हैं, सभी कार्रवाई अंग्रेजी में करते हैं। जब हमारी कौमी संस्थाओं को यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और यूनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें? मगर सौ वर्ष तक अंग्रेजी पढ़ने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अंग्रेजी में आदर हो। हम अंग्रेजी भाषा की खैरातखाने के इतने आदी हो गये हैं कि अब हमें हाथ-पाँव हिलाते कष्ट होता है। हमारो मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गयी है, जैसी अक्सर भिखमंगों को होती है जो इतने आरामतलब हो जाते हैं कि मजदूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता कौमी भाषा बनाने में लगी हुई है, उसका अंग्रेजी न जानना, कौम की भाषा के लिए अनुकूल

जलवायु दे रहा है। इधर सिनेमा के प्रचार ने भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज्यादातर फिल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं। सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओं को अंग्रेजी में बोलते और लिखते देखती है, तो कौमी भाषा से उसे जो हमदर्दी है, उसमे जोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा खयाल होने लगता है कि कौमी भाषा कोई जरूरी चीज नहीं है। जब उसके नेता, जिनके कदमों के निशान पर वह चलती है, और जो जनता की रुचि बनाते हैं, कौमी भाषा को हकीर समझें – सिवाय इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से तारीफ कर दिया करें – तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह कौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जाएँगी, उसे बेवकूफ समझना है। और जनता को आप जो चाहें इल्जाम दे लें, वह बेवकूफ नहीं है। अपनी समझदारों का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरें, लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है। कौमी भाषा के प्रचार का एक बड़ा ज़रिया हमारे अखबार हैं, लेकिन अखबारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने में ही खर्च हो जाती है, और चूँकि शिक्षित समाज ऐसे अखबार खरीदने और पे में अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता

और आमदनी कम होने के सबब से वे पत्र को मनोरंजन नहीं बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अंग्रेजी में बोलें, हमें कोई ऐतराज नहीं। लेकिन अपने ही भाइयों के खयालात तक पहुँचने के लिए हमें अंग्रेजी से अनुवाद करना पड़े, यह हालात भारत जैसे गुलाम देश के सिवा और कहीं नजर नहीं आ सकती। और जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश संसार में हैं, जिन्होंने हुक्सराँ जाति की भाषा को अपना लिया लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनो अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नयी भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा हो बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती, हालांकि लक्षण सब वही हैं।

सवाल यह होता है कि जिस कौमी भाषा पर इतना जोर दिया जा रहा है उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी कोई खास सूरत नह। बना सके हैं. इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अंग्रेजी के पुजारी थे और हैं, मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा से-ज्यादा आदमी समझ सके। हमारी कोई सूबे वाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ हिन्दुस्तानी करती है, क्योंकि मेरे ख्याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक जबान हैं। क्रिया और कर्त्ता, फेल और फाइल, जब एक

है, तो उनके एक होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी जबान है, जिसमे फारसी-अरबी के लफ्ज ज्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमे संस्कृत के शब्द ज्यादा हों। लेकिन जिस तरह अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेजी हैं, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती। साधारण बातचीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं। थोड़ी-सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का संबंध है। मैं यहाँ एक उर्दू पत्र से दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूँ –

‘एक जमाना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली न था। चक्की-चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तंदुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मजबूत और जफाकश होते थे। मगर अब तो अंग्रेजी तहजीब और मुआशरत ने सिर्फ शहरों में ही नहीं देहातों में भी कायापलट दी है। हाथ की चक्की के बजाए अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गांवों में चक्की न रही, तो चक्की पर गीत कौन गाये? जो बहुत गरीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते हैं। चक्की पीसने का वक्त

अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।'

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने म किसी भी हिन्दी समझने वाले आदमी को जग भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का तीसरा पैरा देता हूँ –

'उसकी वफा का जज्बा सिर्फ जिंदा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी खुद को कुरबान कर देती थी। अगर मौत का जालिम हाथ उसके रफ़ीक़ हयात को छीन लेता था तो वह बाकी जिन्दगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक को कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख़्स का खयाल भी उसके वफा-परस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।

अगर पहले जुमले को हम तरह लिखे 'वह सिर्फ जिंदा आदमियों के साथ वफा न करती थी], और 'वफा-परस्त' को जगह 'प्रेमी', 'रफ़ीक़ हयात` को जगह 'जीवन साथी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन

जायेगी और फिर उसके, समझने में किसी को दिक्कत न होगी। अब मैं एक हिन्दी पत्र से एक पैरा बयान करता हूँ –

‘मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये-नये आविष्कारों से बेकारी बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही सही कमी को और भी पूरा कर दे है। बेकारी को समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए माफी था, लेकिन इसके उपर संसार में हर दसवें साल की जनगणना देखने से मालूम हो रहा है कि जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवादी कुछ लोगों को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास को नयी-नयी सामग्री जुटा सकता है।’

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमें प्रयोग, आविष्कार, समस्या यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदाँ लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओं के बोलने वालों की समझ में आ सकते हैं। इससे सावत हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम कौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ अपने शब्दों को कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं, एक दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए –

‘अपने साथ रहने वाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज-रोज का संबंध होता है, उसमे क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्ता तो सदा ख़ूँख्वार बना रहता हैं, क्योंकि वह कानून का पागल है। अभियोग लगाने वाला, पुलिस को खबर देने वाला, पुलिस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द गिर्द मँडराया करते हैं और किसी प्रकार अपने पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? मामलों-मुकदमों की रिपोर्ट पढ़िये पर्दे के अंदर नजर डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उसमे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा।’

यहाँ अगर हम ‘समाज विरोधी’ की जगह ‘समाज को नुकसान पहुँचाने साले’ ‘अभियोग’ की जगह ‘जुर्म’, ‘गुप्तचर’ की जगह ‘मुखबिर’, ‘श्रेणी’ की जगह ‘दरजा’, ‘दुर्नीत’ की जगह ‘बुराई’ ‘विश्लेषक बुद्धि’ की जगह ‘परख’, ’परिमित’ की जगह ‘बन्द’ लिखें, तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कर सकते हैं।

इन उदाहरणों या मिसालों से जाहिर है कि हिन्दी-कोष में उर्दू के और उर्दू कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देन चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गए हैं उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, उसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लिया और उन्होंने हजारों संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवधी में इसकी बहुत सी मिसालें मिलती हैं, |जन यहाँ लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता। इसलिए कौमी भाषा में उसका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व-साधारण नहीं समझते ऐसे फारसी शब्द रखने पढ़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गए हैं कि उसको समझने में जगता को कोई दिक्कत नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकत। है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब बेपढ़े भी समझते हैं। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द है। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी कौमी जबान चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता तहीं है, और यह कौन नहीं चाहना कि उसकी बात ज्यादा-से ज्यादा लोग समझें,

ज्यादा से-ज्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक संबंध हो। हिन्दी में एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूँकि हिन्दुस्तान की सभी सूबे वाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं इसलिए हिन्दी में हमें अधिक-से-अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिए, ताकि अन्य प्रांतों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलने वाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलने वाले आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धन में तोड़-मरोड डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा में और लिखने की भाषा में कुछ-न-कुछ अंतर होता है, लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से मिलते- जुलते रहने की कोशिश किया करती हैं। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोलचाल की भाषा भी अक्सर ओर परिस्थिति अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में जो भाषा बाली जाती है, वह बाजार की भाषा से

अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फारसी शब्दों में शीन काफ की बड़ी कैद है, लेकिन कौमी भाषा में यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' को जगह 'क' ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे महत्त्व की चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी चाहे वे किसी प्रांत के रहने वाले हों, समझें, बोले और लिखें।| ऐसी भाषा पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत को चुस्ती ओर शब्दों के विकास को बहुत थोड़ी गुंजाइश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता, बल्कि उसे बना संवारकर रखना चाहता है। बल्कि यो कहना चाहिए कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावंत राग-रागिनियाँ गाते समय केवल संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुनने वालों में कितने अनाड़ी बैठे हैं, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमें राष्ट्रभाषा का प्रचार करना है, तो हमें इस लालच का दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खासतौर से ध्यान

रखना होगा। उसे वक्त ऐसी भाषा कानों और आँखों को खटके जरूर, कहीं गंगामदार का जोड नजर आयगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैस कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड़ देंगे, पंडितजी भी खिलखिलाएँगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोडेंगे और चारों तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुंद छुरी से उसे जिबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिए यह साजिश की गई है, हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गई है। लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहन। पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों ही से राष्ट्र नहीं बनता. उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्रभाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्रभाषा ते बाजारों और गलियों में बनती है, लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी अपनी जबानों के दरवाजों पर संगीनें लिए खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आँख न उठा सके। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिना तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उं के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों

को भी अंदर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की तरह फारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। जरा-जरा में मुजक्कर और मुअन्नज के भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गई है, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुँचे। जहाँ राष्ट्रभाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सबसे बड़ी दिक्कत इस लिंग भेद के कारण पैंदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पंडितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फंदों में कुछ को नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा को होगा कि वह जहाँ तक हो सके, निरर्थक, कैदों से आजाद हो। आँख क्यों स्त्रीलिंग है और कान क्यों पुल्लिंग है, इसका कोई संतोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जो संख्या जनता की भाषा का बायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, फिर चाहे समाजवाद या समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आयें। संभव है, इस वक्त आपको राष्ट्रभाषा की जरूरत न मालूम होती ह! और अंग्रेजी से आपका काम मजे से चल सकता हो, लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को

मजबूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमे कौमी भाषा का स्थान सबसे ऊँचा नहीं, किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अंग्रेजी को अपनी कौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपकी आजादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता! वह भीतर को आत्मा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आजादी के शहीद बन जाने की हविस हैं। यहाँ जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा नहीं। लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान के एक कौम देखना चाहते हैं – इसलिए नहीं कि वह कौम कमजोर कौमों को दबाकर, भांति-भांति के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढांग रचकर, पन अमीरों का व्यापार बढ़ाए और अपनी ताकत पर घमंड करे, बल्कि इसीलिए कि सह आपस में हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाए कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें – उनका यह फर्ज है कि कौमी भाषा के विकास और विचार में वे हर तरह मदद करें। और यहाँ सब हमारे हाथ में है। विद्यालयों में हम कौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए कौमी भाषा में बोलना और लिखना लाजिमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अंग्रेजी या बंगला, एक-दो कॉलम कौमी भाषा के लिए अलग करा सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर कौम भाषा का व्यवहार कर सकते है। आपस में कौमी भाषा में बातचीत कर सकते हैं। जब तक

मुल्की दिमाग अंग्रेजी की गुलामी में खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी में राष्ट न बन पकेगा। यह भी जाहिर है कि प्रांत या एक भाषा के बोलने वाले कौमी भाषा नहीं बना सकते। कौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रांतों के दिमागदार लोग उसमे सहयोग देंगे। संभव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाएँ कोई पश्चिम, लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शांत हो जाएँगा और जहाँ केवल धूल और अंधकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ-सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके कलम में दो मुर्दा को जिलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहाँ विचरते हुए नजर आएँगे। तब हमें टैगोर, मुंशी, देसाई और जोशी की कृतियों से आनंद और लाभ उठाने के लिए मराठी और बंगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। कौमी भाषा के राध कौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी संपन्न और सरसब्ज भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रांतीय न होकर कौमी हो जाएँगा। इस अंग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वेलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मनहूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत् और मुंशी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। डॉक्टर टैगोर भी अंग्रेजी न न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात हे कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने

कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी ओर उस पर जोर नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओं का हे कि वह कौमी भाषा क प्रचार के के लिए इनाम और तमगे दें उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगेंडा करें। राष्ट के रूप के संगठित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिंदा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुचने की शाही सडक कौन-सी है मगर दूसरी कौमों के साथ कौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता है कि क़ौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट बनना है, उसे एक कौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हकीकत को मानते हैं, लेकिन सिर्फ खयाल में। उस पर अमल करने का हममें साहस नहीं है। यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इंडिया संस्था का होना जरूरी है जो इसके महत्त्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का संबंध इतना करीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे का छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ हैं. उनको एक लिपि में लिखने में कोई बाधा नहीं है, थोडा सा प्रांतीय संकोच चाहे हो। पहले भी स्व. बाबू शारदाचरण मित्र ने एक लिपि विस्तार परिषद बनाई थी और कुछ दिनों तक एक पत्र निकालकर बह आंदोलन चलाते रहे, लेकिन उससे कोई खास फायदा न हुआ केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का

अंतर कम नहीं होता और हिन्दी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रांतीय भाषाओं को हम प्रांतीय लिपियों में लिखते जाएँ, कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि हिन्दी से बिल्कुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो जाएँ तो लिपि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। अगर उर्दूदाँ आदमी को मालूम हो जाए कि केवल हिन्दी अक्षर सीखकर वह डॉ. टैगोर या महात्मा गांधी के विचारों के पढ़ सकता है, तो वह हिन्दी सीख लेगा। यू. पी. के प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता है। जहाँ तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदाँ को ऐतराज न होगा। स्कूल में हफ्ते में एक घंटा दे देने से हिन्दी वालों को उर्दू और उर्दू वालों को हिन्दी लिपि सिखाई जा सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू वे स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमे गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जानने वाले उसे छोड़ नहीं सकते और जिन लोगों का

इतिहास और संस्कृति और गौरव उर्दू लिपि में सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा भी नहीं की जा सकती। उर्दूदाँ लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते हैं, इसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जाएँगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जाएगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरा पीछे रह जायेगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्र-लिपियाँ है और हमें अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे। |

[राष्ट्रभाषा सम्मेलन, बंबई में 27 अक्टूबर, 1934 को स्वागताध्यक्ष पद से दिया गया भाषण। 'हंस', नवम्बर, 1934]

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रों,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपकी सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ. क्योंकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मैं बिल्कुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकास-क्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरंत स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये, मुंडिया हिलाये' की जो आदत होती है वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हूँ, जिसकी मुझमें लियाकत नहीं है, लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप शनाप बकू, उसकी खूब तारीफ कीजिए, उसमे जो अर्थ न हो वह पैदा

कीजिए, उसमे अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए – जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।

आपकी सभा ने पंद्रह-सोलह साल से मुख्तसर से समय में, जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बंधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी से कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलंदी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रांत में इतना अच्छा संगठन हे सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे संदेह है। जिन दिमागों ने अंग्रेजी राज्य की जड जमाई, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बांध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था वे आज राष्ट्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी. वहाँ से राष्ट्रीयता को तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अंग्रेजी पत्रों के संपादक इसी प्रांत के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो

हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्री दल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गई है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मंजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्रभाषा प्रेम भी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रांत अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जाएँगा, उस नर्क उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है? हमारी पराधीनता क सबसे अपमानजनक , सबसे व्यापक, सबसे, कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह अपने नंगे रूप में नहीं नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेजी भाषा हे मानों हमारी छाती पर मूंग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व के हम तोड़ सके तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जाएँगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। क़ैदख़ाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल – बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दंड की याद दिलाने वाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते,

हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ता, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आजाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाना, अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसका रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाएँ, तो क्या कहना। प्रभुता की इच्छा तो प्राणीमात्र में होती है। अंग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुंड की तरह उस द्वार के अंदर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये, उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुंड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गए, और उसमें उडने की शक्ति नहीं रही, वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रों, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने क दिन बड़ी तेजी से बिदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धि-बल का जो

दुरुपयोग हम सदियों से करते आए हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है जितना विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ में ठोकरें खा रहा है? स्वामियों की ओर से इसलिए कि वह समझते हैं – मेरी चौखट के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय संबंध नहीं। उनका रहन-सहन, उनको बोलचाल, उसकी भेषभूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इस कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गए। मानों परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनों के तजुरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिए कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं? अभी गत वर्ष एक इंटरयूनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-संबंधी विषयों पर विचार करे। उसमे एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को जगह पर मातृ-भाषा क्यों न रखी

जाएँ। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों? इसलिए कि अंग्रेजी माध्यम के बगैर अंग्रेजी में हमारे बच्चे कच्चे रह जाएँगे और अच्छी अंग्रेजी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे। मगर इन डेढ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं लिखा, जिनका इंग्लैंड में उतना हो मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेजी में बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उससे गलती तो नहीं हो गई | हम आँखें फोड-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं, लेकिन बड़े- से-बड़े भारतीय-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेजी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में गलतियाँ करते हैं। और यह नतीजा है कि कम-से कम बारह साल तक आँखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम जरूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों

आगे हैं, लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जाएँगी। हमारी मारवाडी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम जहाँ तक व्यापार में उनका संबंध है उन्होंने क़ौमियत की रक्षा की है।

मित्रों, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ, लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाएँ, हमारे सामने कितना महान काम है। यह समझ लीजिए कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जाएँगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़, समुद्र और राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बांधे रहती है. और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमे राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गई थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपका एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी रात विदा हो जाएँ – और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है – तो फिर आपका यह राष्ट्र करा जाएँगा? क्या यह बहुत संभव तहीं है कि एक-एक प्रांत एक-एक राज्य हो जाएँ और फिर वहीं विच्छेद शुरू हो जाएँ? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज का अमर रहना चाहिए। अगर

हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते हैं, तो हमें राष्ट्रभाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्रभाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिए, आप कितना महा काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालने वाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बंधुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो, लेकिन आपने आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकने हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्रभाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर

हमारे देश में ऐसे लोगो की काफी तादाद निकल आए तो, जो ईश्वर को 'गॉड' कहते हैं, तो राष्ट्रभाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रांतीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असंभव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकडों विदेशी तो शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियंत्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें, पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर ही हो सकता है। बोलचाल पर किसी प्रकार का नियंत्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और पंडितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक

फैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जाने वाला शब्द है. उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुंदरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइए, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमार आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस अपने सामने रखें तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पंडितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है। इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, ये मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना

महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाएँ, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टैंडर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो क़ौमियत के मतवाले हैं। कट्टरपंथियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का कैंप आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसर और अन्य विषयों के प्रोफेसरों से में बातचीत हुई, उससे मुझे महसूस हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेजार हैं, जितने पंडिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आंदोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूँ कि मुसलमानों का गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है-हालांकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है – और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूंस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगडा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखने वालों के लिए यहाँ भी स्थान नहीं हैं। मुसलमान दोस्त से भी मुझे कुछ अर्ज करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और अब भी मैं जितना उर्दू लिखता हूँ, उतनी

हिन्दी भी लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप इसे हिन्दी की गर्दनजदनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम-से-कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिसमे कई तो चोटी के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर औरंगजेब तक हिन्दी की कविता का शौक रखते थे और औरंगजेब ने ही आमों का नाम 'रसना-विलास' और 'सुधा-रस' रखा था? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफौज जालंधरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआजमाई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हज़ारों शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आई हैं और ससुराल में आकर अधिक आदमी समझ सकें। घर की देवी हो गई हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइंसाफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं?

हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है| फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे ? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वह तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम हैं और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इंग्लैंड वाले इंगलिश बोलते हैं, फ्रांस वाले फ्रेंच. जर्मनी वाले जर्मन, फारस वाले फारसी, तुर्की वाले तुर्की, अरब वाले अरबी, फिर हिन्द वाले क्यों न हिन्दी बोलें? उर्दू तो न काफिये में आती है न रदीफ में, न वजन में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाएँ, तो बेशक यहाँ को कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का कोश एक नहीं हो जाता? हमें दोनों भाषाएँ में एक आम लुगत (कोष) की जरूरत है, जिसमे आमफहम शब्द जमा कर दिए जाए। हिन्दी में तो मेरे मित्र पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुगत उर्दू में भी होना चाहिए। शायद यह काम कौमी-भाषा-संघ बनने तक

मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दों से भी परहेज करते हैं, हालांकि हिन्दी में आमफहम फारसी के शब्द आजादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तांत, समाचार-पत्रों के लेख , आलोचना अगर बहुत गूढ न हो, यह सब तो राष्ट्रभाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते है, लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनंत शाखाएँ भी तो हैं जिनको आप राष्ट्रभाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखो जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्रभाषा सर्वांगपूर्ण नहीं हैं, और उसमे आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमे यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें; जैसी अन्य राष्ट्रों की संपन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने सार्थक रूप में भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं है। जो राष्ट्रभाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर-मगजन

करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते है तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भांति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत थोडा है और आमफहम शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यवहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्रभाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमे सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको संतुष्ट होना चाहिए। इसके साथ ही हमें राष्ट्रभाषा का कोप बढ़ाते रहना चाहिए। वही संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज भयभीत हो जाते हैं , जब अभ्यास में आ जाएँगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे- धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाए पड़ेगा, जो राष्ट्रभाषा की जरूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जाएँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाएँ। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आंदोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करते

का यत्न नही किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की? हमारे विद्वान् लोग तो अंग्रेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी ले जनता की तरफ से आँखें बन्द किए बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर लो है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य हे महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन-शिक्षा को सतह इतनी नीची हो, उसमे अगर कुछ लोग अंग्रेजी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बांध ही लें, तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अंग्रेजीदाँ ही नहीं रहते। हजार में 999 आदमी अंग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचें और लिखें, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का संबंध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हांक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढे। अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुजरिमाना गफलत दिखाई है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जे छोटे मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी हा फुरसत कि वह झंझट में पड़े। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, हीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पांति में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमे यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज प्राप्त कर सके। गैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हजरत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आएँगे और निकल जाएँगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जाव जिसमे आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम तो तुच्छ न समझिए। यही

बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट बड़ी से बड़ी निर्माण योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाएँ, जो एक हवा के झोंके में उड़ जाएँगा। दरअसल अभी हम जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्रभाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैंकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल जरूरत नहीं। 'उसमानिया विश्वविद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौडी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम-से-कम अंग्रेज की गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते है र लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा को बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेंड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं? अंग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदार है। शिष्टता के लिए हमें अंग्रेजों के सामने हाथ फैलाने को जरूरत से ज्यादा हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम जरूरत से ज्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गई है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमे से छाँटी नहाँ। छाँटा क्या, लोफरपन, अहंकार,

स्वार्थान्धता, बेशर्मी , शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइए। कितना नम्र, कितना मेहमानवाज, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुडा अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अंग्रेजों की गुलामी करने की जरूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा राष्ट्रभाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किस! केंद्र स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रह हैं वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्रभाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के काशी गए, पर वहाँ कोई प्रबंध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर उधर ठोकरें खाकर लौट आए। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबंध हुआ है, मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार और तरीकों में ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय अच्छे काम कर रहा है, हालांकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गंदापन, जो विलास-प्रेम, जो फैलाई जा रही है, ह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की

जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्रभाषा के महत्त्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्रभाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अंग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर आमादा कर सके कि वे अपने पत्रों के एक-दो कालम नियमित रूप से राष्ट्रभाषा के लिए दे सके। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्रभाषा पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान ले लेगी, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रंथ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मंडल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मंगनी के सुंदर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही नहीं, संसार साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अंधकार में विलीन हो जाएँगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे

हृदय में वह बीज पड़ गया है, हमारी संपूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जाएँगा।

हिन्दी और उर्दू साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रांतीय साहित्यों की भाँति ही अभी संपन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह संपन्न कहा जा सके। बंगला साहित्य से तो हमने उसके प्राय: सारे रत्न ऐ लिए हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलुगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ाएँगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमे शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिए, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृंगार में इतना अधिक है कि उस एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अंदर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता था। उर्दू कवियों

का भी यह हाल है। यही उस जमाने का रंग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक्शा है भी, तो यह कि संसार चंद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भंडार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना है अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है. यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गई है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्राय: निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायर इतना फैला दिया है कि वह बड़े-से-बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होती और थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख विकास चाहते हैं, तो 'महादेवी', 'प्रसाद', 'पंत', 'सुभद्रा', 'लली', 'द्विज', 'मिलिन्द', 'नवीन', पं माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढिए। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जाएँगे। काव्यों का आनंद लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठी जी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफीना भी त्रिपाठी जी ने खोदकर आपके सामन रख दिया है। उसमे से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइए और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगाई हुई पुष्पवाटिकाओं को सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नजर से गुजरा, वह 'ताज' का रचा हुआ। 'अनारकली' है। हास्यरस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द को रचनाएं पढ़िये। राष्ट्रभाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी. पी. श्रीवास्तव के हँसने वाले नाटकों की सैर कीजिए। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रंग में कमाल कर गए हैं। उमर खैयाम का मजा हिन्दी में लेना चाहे तो 'बच्चन' कवि को मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर

आ जाएँगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', 'जैनेन्द्र', 'भारतीय', 'अज्ञेय', 'विशेश्वर' आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते है उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसैन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं, जिनकी कलम में दिल को हिला देने को ताकत है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीजें कम आई हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नयी पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये संदेश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रों, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका, लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाजिम है। वह राष्ट्र-लिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है, लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पश्चिम का अंतर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है जितनी हिन्दुओं का अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बंगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अंतर है, जो नागरी और बंगला में है बल्कि उससे भी

कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमे कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्र लिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बंगला, गुजराती, तमिल आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जाएँगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्र का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी लिपि हो जाएँ। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जाएँगा, तो संभव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जाएँ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तरप्रांतीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जाएँगा।

यू. पी. में यह आंदोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाएँ कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर वह आंदोलन सफल हुआ, जिसको आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जाएँगा। और जब भाषा एक हो जाएँगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जाएँगी और योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्रहित के लिए छोटे छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष, आत्मा को कितना बलवान बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों को कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिंदगी के अन्य धंधों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं-कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे

परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत संभव है, आपके उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एकाएक सेना का नायक हो जाएँगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिए कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पंथ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

['दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के चतुर्थ उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर 20 दिसंबर, 1934 को दिया गया, दीक्षांत भाषण। 'हंस', जनवरी 1935]

दक्षिण भारत में हमारी हिन्दी प्रचार यात्रा

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की कृपा से हमें अबकी वहाँ के हिन्दी के उपासकों से मिलने और उनके प्रचार की सफलता को अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला। सभा ने इस वर्ष हमें पदवी-दान के अवसर पर दीक्षांत भाषण करने का नेवता दिया और हम 27 दिसंबर को बम्बई के चलकर 28 की शाम को मद्रास जा पहुचे। हमारे साथ हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय के मालिक श्री नाथूराम जी प्रेमी और बम्बई हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रमुख कार्यकर्ता| श्री आर० संकरन् थे। तीसरे दरजे का सफर था, मगर रास्ते में कोई खास तकलीफ नहीं हुई। प्रेमी जी अपने साथ मगदल के लड्डू और पूरियाँ रख लाये थे। बीमारी के बाद से खाने-पीने के विषय में वे बहुत सतर्क रहते हैं, रास्ते में हमने खूब लड्डू खाए। पूरियाँ इधर बहुत कम स्टेशनों पर मिलती हैं। एक-दो स्टेशनों पर मिलती भी हैं, तो बहुत खराब। एक स्टेशन पर हमन पहली बार इदली खाई। यह चावल और उड़द की

दाल के मैदे से बनती है। दानों मैदों को समान मात्रा में मिलाकर गूँध लेते हैं, और इस गूंधे हुए आटे को रात भर यों ही पड़ा रहने देते हैं। इससे उसमें कुछ खट्टापन आ जाता है। दूसरे दिन इसके मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर भाप कर पकाते हैं। इस प्रांत में इदली खाने का बहुत रिवाज है। होटलों में देखिए तो हर एक आदमी इदली और दाल और चटनी खाता हुआ नजर आएगा। मिठाई से यहाँ किसी को प्रेम नहीं है। हाँ, अब उत्तर भारत में संसर्ग से मिठाई का कुछ प्रचार हो चला है।

मद्रास पहुँचकर हम रामनाथ जी गोयनका के मेहमान हुए। सौभाग्य से श्री काका कालेलकर जी भी वहाँ ठहरे हुए थे। उनके दर्शनों का आनंद मिला। आप सेवा की मूर्ति हैं। हिन्दी-प्रचार में आप तो जो निर्माणात्मक कार्य कर रहे हैं, वह बहुत ही आशाजनक है। जब तक किसी बात की उपयोगिता न दिखाई दे, हमारा प्रेम उसके प्रति स्थायी नहीं हो सकता। हिन्दी-ज्ञान को कैसे उपयोगी बनाया जाएँ-यही प्रश्न आपके सामने हैं। बड़े-बड़े व्यापार तो अंग्रेजों के हाथ में हैं। वहाँ हिन्दी की दाल नहीं गल सकती। मगर छोटे-छोटे व्यापारों में, जो भारतीयों के हाथों में है, हिन्दी का व्यवहार करने से कुछ सुविधा हो सकती है। इसी हेतु से आप परिस्थितियों का अध्ययन कर रहे हैं। हमारी शुभेच्छाएँ आपके साथ हैं। गोयनका जी उन लक्ष्मी पुत्रों में हैं, जो घन कमाना हो नहीं जानते, उसका सदुपयोग करना भी जानते हैं। आपकी

जात से कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को सहायता मिलती रहती है, और हिन्दी-प्रचार के तो आप एक स्तंभ हैं। अभिमान तो आपको छू भी नहीं गया। आप बड़े ही हंसमुख, निष्कपट, उद्योगी युवक हैं और सभी के कोषाध्यक्ष हैं! आपके घर में हम लोग पाँच दिन रहे, बिल्कुल इस तरह, जैसे अपने ही घर में हो।

पदवी-दान का जलसा गोखले हॉल में हुआ था। मेरा ख्याल था कि बहुत बड़ा जमघट होगा, लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियों के कारण बहुत से हिन्दी-प्रेमी बाहर चले गए हैं। यहाँ क रेलवे विभाग ने सस्ते टिकट जारी करके और भी कितने लोगों को मद्रास से बाहर पहुँचा दिया था, मगर तमाशाइयों की तादाद चाहे कम हो, वहाँ जितने लोग थे, प्राय: सभी हिन्दी-प्रचार से संबंध रखते थे और हिन्दी प्रचारकों क इस मिशनरी दल को देखकर मन में आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो कई-कई सौ मील तय करके आये थे और उसमे देवियों की भी खासी तादाद थी। इस आंदोलन की बुनियाद केवल सांस्कृतिक नहीं, उससे कहीं अधिक राजनैतिक हैं, जो संपूर्ण देश को एक राष्ट्रभाषा के सूत्र में बंधा देखना चाहता है। इसलिए, इसे प्रांत के प्रतिष्ठित नेताओं का सहयोग भी प्राप्त है और त्याग-भावना से भरे कार्यकर्ताओं का भी। श्री राजगोपालाचार्य, जिस सभा के डाइरेक्टर और श्री के. नागेश्वर राव जिसके वाइस-प्रेसीडेंट

हों और केवल नाम के लिए नहीं, बल्कि उसके हरेक काम में दिलचस्पी रखते हों, उस सभा का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है, तो क्या आश्चर्य है। 1930 में प्राथमिक , माध्यम और राष्ट्रभाषा तीनों परीक्षाओं में बैठने वालों की तादाद एक हजार सात सौ थी, 1933 में नौ हजार साठ हो गई, मगर 1934 में यह संख्या घटकर चार हजार छः सौ इकतालीस हो गई। इससे शंका होती है, कहीं हिन्दी का शौक घट तो नहीं रहा है। अगर ऐसा है, तो यह खेद की बात होगी। हमारा कर्त्तव्य है कि इस अवनति के कारणों को खोजें और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें।

मद्रास में देखने के लायक केवल दो चीजें हैं। एक तो समुद्र का तट जो सात मील तक चला गया है, दूसरा अधार जो थियोसोफिकल सोसाइटी का केंद्र है। इतना रमणीक जल-तट भारतवर्ष में है और कही नहीं। मीलों तक समुद्र के किनारे ठंडी-ठंडी हवा का आनंद उठाते चले जाइये। अधार मद्रास से आठ मील पर समुद्र के किनारे एक कालोनी के रूप में है। उसका क्षेत्रफल दो मील से कम न होगा। बहुत ही साफ-सुथरी, फूल-पत्तों से सजी हुई जगह है। पुस्तकालय है, प्रकाशन-विभाग है, मदिर है, भोजनालय है, कर्मचारियों और अन्य थियोसोफिस्ट सज्जनों के निवास स्थान हैं। बीच में एक विशाल वट-वृक्ष है, जो अपनी बूढी गोद में लगभग दो हजार दर्शकों को शरण दे सकता है। कहते हैं स्व. मिसेज एनीबेसेन्ट कभी-कभी वृक्ष के नीचे

बैठकर धर्म के पिपासुओं को अपना उपदेशामृत पिलाया करती थीं। यह तपोभूमि दर्शनीय है। इन दिनों इस संस्था का वार्षिकोत्सव हो रहा है। दूर देशों से प्रतिनिधि आये हुए हैं।

मुझे दो बैठकों में प्रांत के प्रमुख प्रचारकों से बातचीत करने का सुअवसर मिला, तीन सज्जन तो उत्तर भारत के हैं, जिन्होंने दक्षिण हो को अपना घर बना लिया है। सभी महानुभावों के दिलों में हिन्दी-प्रचार की लगन मालूम होती थी। सभी में उत्साह दीख पड़ा। सभी इसी काम को पेशा समझ कर नहीं, दिलचस्पी के साथ कर रह हैं। उन्हें साहित्य से भी प्रेम है और साहित्यिक-विषय की चर्चा सुनने के लिए बड़े उत्सुक पाये गये। महाशय देवदत्त जी विद्यार्थी ने जो केरल प्रांत के संचालक है और बिहार प्रांत के निवासी हैं, गद्य-काव्य के दो संग्रह सभी प्रकाशित कराए हैं, औ` एक ड्रामा भी लिख रहे हैं। इन संग्रहों को पढ़ने से विदित होता है कि आपकी अनुभूतियाँ कितनी कोमल और आपकी भावनाएँ कितनी मार्मिक हैं। उसके साथ ही भाषा पर भी आपका पूरा अधिकार है।

एक रात को हमें प्रचारकों का अभिनय-कौशल देखने का अवसर मिला। साल हुए कुछ लोगों ने एक नाटक परिषद बना लो थी और प्रचार के लिए साल में दो एक नाटक खेल लिया करते थे। मतभेद के कारण इस वर्ष

परिषद ने कोई नाटक नहीं खेला। मेरा उन सज्जनों से अनुरोध है कि वे अपने महान् उद्देश्य को ध्यान में रखकर वैयक्तिक मतभेदों को भूल जाएँ और प्रचार के इस अंग के शिथिल न होने दें। मैंने दुर्गादास नाटक के जो दो-तीन दृश्य देखे और उनसे इस नतीजे पर पहुँचा कि थोड़े से संयम के साथ यहाँ के अभिनेता बहुत सफल हो सकते है। एक सीन में चाणक्य का पार्ट दिखाया गया था। मुझे वह पार्ट बहुत पसंद आया। चाणक्य के शब्दों में दर्द था, चोट थी, और विद्रोह था-वह विद्रोह जो ईश्वर की सत्ता स भी इनकार करता है, जिसे संसार छल, कपट, अन्याय और अत्याचार का रंगस्थल सा नजर आता है।

मद्रास में दो अजायबघर हैं। एक पशु-पक्षियों का और दूसरा जल जीवों का। जू तो बहुत साधारण है, पर मछली भवन बड़ा ही सुंदर है। मछलियों का ऐसा विभिन्न, विचित्र और अद्भुत संग्रह भारतवर्ष में दूसरा नहीं है। शीशे के पानी से भरे केसों में रंग-बिरंगी मछलियों की क्रीड़ा, बड़ा ही मनोहर दृश्य है।

सभा ने दो मकान किराये पर ले रखे हैं। एक में तो उसका दफ्तर, पुस्तकालय, परीक्षा-विभाग आदि हैं, दूसरे में प्रेस है। दोनों का किराया तीन सौ पचास रुपये दना पड़ता है। मंत्री जी ऐसे मकान की तलाश में हैं, जहाँ

दोनों ही काम हों सकें। ऐसा मकान मिल जाएँ, तो शायद किराये में कुछ किफायत हो और काम ज्यादा व्यवस्थित रूप से चलने लगे। ऐसी उपयोगी संस्था के पास अपना भवन न हो और उसे साढ़े तीन हजार रुपये सालाना किराये के रूप में देना पड़ें, यह हिन्दी-प्रेमियों के लिए गर्व की बात नहीं। इसका कारण यही मालूम होता है, कि अभी तक हमने हिन्दी-प्रचार का महत्त्व नहीं समझ पाया। इसकी जिम्मेदारी दक्षिण से कहीं ज्यादा उत्तर भारत पर है |

हिन्दी या हिन्दुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा ने समान है। अध्यापक भी प्राय: दक्षिण के लोग हैं। छात्रों को पुस्तकें पढ़ने के सिवा हिन्दी को व्यवहार में लाने के लिए शायद बहुत कम मौके मिलते होंगे। इसका परिणाम यह हो सकता हे कि उनका भाषा ज्ञान केवल किताबी ज्ञान होकर रह जाएँ। इसके कुछ उदाहरण भी मिले। हमें ऐसे कितने ही सज्जन मिले, जो किताबों तो समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी बोल नहीं सकते, और न हिन्दी भाषण आसानी से समझ पाते हँ। अगर अध्यापकगण क्लासों में छात्रों से हिन्दुस्तानी ही में बोले और इसका ख्याल रखें कि छात्र भी आपस में कम-से कम क्लास में हिन्दुस्तानी का व्यवहार करें, तो उन्हें शुद्ध बोलने का अभ्यास हो जाएँगा और वह हास्यजनक भूले न करेंगे जिनकी एक विनोदी-प्रचारक महोदय से कुछ मिसाले देकर हम खूब हँसाया था,

दूसरा निवेदन जो मैं प्रचारक महोदयों से करूँगा, वह यह है कि वे हिन्दी का पत्रों पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहें, जिससे उनका भाषा जान बढ़ता जाएँ। जिन्हें साहित्य रचता का कुछ शौक है इन्हें कभी-कभी पत्रों में कुछ लिखते रहना चाहिए। दक्षिण के साहित्य में ऐसी किलनी ही चीजें होगी, जिन्हें हिन्दी में लाकर वे उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ करेंगे।

मद्रास से हमने पाँचवें दिन मैसूर को प्रस्थान किया। यहाँ से लोटी लाइन जाती | गाड़ी में बड़ी ठेलम ठेल थी, लेकिन किसी तरह बैठ गए। मैसूर के मुख्य प्रचारक श्री हिरण्यमय जी हमारे पथ प्रदर्शक थे। बंगलौर के श्री जम्बूनाथ जी भी उसी डब्बे में मथे। मेरे सामने केरल प्रांत के एक सज्जन बैठे थे। उनसे साहित्य और हिन्दी प्रचार के विषय में बड़ी देर तक बातें होती रही। हिन्दी प्रचार से उन्हें प्रेम तो था, पर उन्हें यह भय भी था कि कहीं यह आंदोलन आगे चलकर हवा में न उड़ जाएँ। इस तरह का संदेह कभी-कभी मन में होना स्वाभाविक ही हैं। हमारे आंदोलन इतने जोश से शुरू किये जाते हैं, और थोड़े ही दिनों में लोग उनकी ओर इतने उदासीन हो जाते हैं, कि हम किसी आंदोलन को सजीव देखकर भी आशंकाओं से निवृत्त नहीं हो सकते। मैंने उस सज्जन को विश्वास दिलाया कि हिन्दी प्रचार अब केवल दो एक उत्साही व्यक्तियों का खेल नहीं रहा, वह एक संस्था है,

जिसने जनता के दिलों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है, और आशा है कि दिन दिन इसकी उन्नति होगी। हम सुबह को मैसूर पहुँचे। हिन्दी प्रेमियों ने हमारा स्वागत किया और हम कृष्ण-भवन में ठहरे। यहाँ हमें हर तरह का आराम था और होटल के स्वामी श्रीशिवप्रसाद जो ने जिस उदारता से हमारा स्वागत क्रिया, उसकी कहाँ तक तारीफ करें। इनकी उम्र अभी अट्ठाइस-तीस साल से ज्यादा नहीं है, आर इनका बाल जीवन भी बड़ा ही संकटमय था , यहाँ तक कि केवल बारह साल की उम्र में इन्हें घर से भागना पड़ा और वह बंगलोर आकर एक होटल में नौकर हो गए। वहाँ उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया, उससे उन्होंने दो-एक मित्रों के सहयोग से यह होटल खोलने का उत्साह किया। और अब आप अपने पुरुषार्थ के फलस्वरूप स्वतंत्र हैं। आपको साहित्य और धर्म से विशेष रुचि है, पर आपके विचार बड़े उदार हैं, धार्मिक संकीर्णता का कहीं नाम भी नहीं। मानसिक और व्यापारिक उन्नति के साथ अपने दैहिक उन्नति का भी ध्यान रखा है। आप नियमित रूप से सूर्य नमस्कार और व्यायाम करते हैं। आम वैश्यों की भाति आप केवल धन संग्रह करके ही संतुष्ट नहीं हुए। बल संग्रह भी किया है। आप बलिष्ठ और स्वस्थ युवक हैं। और किसी दुर्व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देते। बुरी से-बुरी दशाओं में पुरुषार्थी आदमी क्या कुछ कर सकता है। यह उपदेश हमारे युवक शिवप्रसाद जी के जीवन से ले

सकते हैं। मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि आपने धन को अपना स्वामी नहीं बनने दिया, स्वयं उसके स्वामी हैं। आपके जोवन का उद्देश्य परोपकार है। आपका इरादा है, कि अपने जन्म-स्थान बुलंदशहर में एक अच्छी व्यायामशाला कायम करें और युवकों को अपनी देह और स्वास्थ्य को बलवान करने का अवसर दें। कितना पवित्र उद्देश्य है।

कृष्ण-भवन से मिला हुआ ही एक दूसरा होटल है – आनन्द भवन। इसके, स्वामी बद्रीप्रसाद जी हैं। मैसूर में उत्तर भारतीयों का यह पहला ही होटल है! और बड़े सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। बद्रीप्रसाद जी बड़े प्रसन्न-चित्त, सेवा-तत्पर, साहित्य रसिक व्यक्ति है और हिन्दी-साहित्य की प्रगति से खूब परिचित हैं। आप भी बुलंदशहर के निवासी हैं और सपरिवार यहीं रहते हैं। हमें मैसूर मुख्य दर्शनीय स्थानों की सैर कराने का जिम्मा आपने लिया था, और इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

मैसूर में यों तो देखने की बहुत-सी चीजें हैं, लेकिन हमारे पास समय न था इसलिए हमें उन्हीं स्थानों को देखकर संतुष्ट होना पड़ा, जो मैसूर से मिले हुए और जिन्हें हम कम-से-कम समय में देख सकते हैं। मैसूर बड़ा ही साफ सुथरा सुन्दर उद्यानों से सजा हुआ, रमणीक स्थान है। जिधर जाइये उधर पार्क, यहाँ तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलों की लाइन नजर आती

हैं। सड़कें चौड़ी हैं, गर्द गुबार से पाक , चौरस्ते पर बेलों और पौधों से सजे हुए स्क्रायर बने हैं। बिजली शक्ति की तो यहाँ इतनी इफरात है, कि देहातों में भी बिजली की रोशनी है। और है भी बेहद सस्ती। देहातों में तो केवल दो आना यूनिट है। दूसरे शहरों में केवल म्युनिसिपैलिटी के अन्दर रोशनी होती है। उसके बाहर अंधेरा। यहाँ हरेक पक्की सड़क पर बिजली की रोशनी है, और चामुंडा पहाड़ी से नगर को देखिये, तो मालूम होता है, बिजली प्रकाश का जाल बिछा हुआ है। यह पहाड़ी शहर से मिली हुई है और अक्सर शाम सबेरे शहर के लोग उस पर हवा खाने जाते हैं। कोई एक हजार फीट ऊँची होगी। चढ़ाई के लिए मोटर चलने लायक सडक बनी हुई है। जिस पर बिजली की रोशनी है। चोटी पर चामुंडादेवी का मन्दिर है। उससे जरा और ऊँचाई पर महाराज के निवास के लिए एक सुन्दर बंगला बना हुआ है। चामुंडा देवी मैसूर राजा को कुल-देवी है और महाराज अक्सर यहाँ पूजन के लिए आते हैं।

मैसूर नगर से दस-बारह मील पर मैसूर की पुरानी राजधानी सेरिंगापट्टम है। वहाँ तक पक्की सड़क चली गयी है। सेरिंगापट्टम पहले बहुत गुलज़ार बस्ती थी लेकिन अब लोग इसे छोड़-छोड़कर दूसरी जगहों में आबाद होते जाते हैं। पुराना किला तो हो गया। चारदीवारी कहीं-कहीं बाकी है। यहाँ की सबसे दर्शनीय वस्तु सुलतान हैदरअली और टीपू की मजार है। एक

रमणीक उद्यान के मध्य में मजार की शानदार इमारत है, जो काले पत्थर की है। अन्दर बड़ी खूबसूरत पच्चीकारी है और दरवाजे पर हाथी दांत का काम है, जो मैसूर की खास कला है। किले के बाहर सुलतान टीपू का महल है, जिसका नाम दरिया दौलत बाग है। टीपू सुलतान गर्मियों में यहाँ आकर विश्राम किया करते थे। इसी की बाहरी दीवारों पर उस जमाने की प्राय: सभी ऐतिहासिक और राजनैतिक घटनाओं के चित्र बन हुए हैं, जो बहुत कुछ उन चित्रों से मिलते हैं, जो आज भी शहर के चित्रकार दीवारों पर बनाया करते हैं. लेकिन अंदर नक्काशी बहुत ही बारीक है। जिस स्थान पर सुलतान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे, वह दरबार किसी तरह भी दिल्ली के दरबार आम से कम विशाल नहीं है।

सेरिंगापट्टम से हम कृष्णराज सागर देखने आये। यह एक बहुत बड़ा सागर है । जो कावेरी नदी को बांध से रोककर बनाया गया है। बांध कोई दो मील लंबा और जमीन से कोई एक सौ पचास फीट ऊँचा होगा। चौडा इतना है, कि उस पर मोटरें बड़ी आसानी से आ जा सकती हैं। इस बांध को बनने में मैसूर सरकार का करीब दो करोड़ से ऊपर खर्च हो गया है। इस सागर से नहर निकाली गयी है, जो लगभग पचास मील तक की भूमि की सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है, कि अब यहाँ धान और ऊख की पैदावार कसरत से होने लगी है। ऊख की खपत के लिए सरकार ने एक

शक्कर मिल भी बनवाया है। इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पाँच करोड़ खर्च हो गये हैं। भारत में इससे बड़ा दूसरा बांध नहीं हैं। बांध के नोचे एक रमणीक स्थान है, जिसे वृंदावन कहते हैं। यहाँ फौवारों की विचित्र लीला देखने में आती है। एक नाली से दरिया का पानी लाकर एक ढालू नहर में बड़े वेग से प्रवाहित किया गया है। दानों तरफ फौवारों की छटा है, जिनके पास रंग बिरंगे शीशों में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते हुए पानी पर जब इस रंगीन प्रकाश का प्रतिबिंब पड़ता है, तो ऐसा मालूम होता है कि फौवारों से रंगीन पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इंद्रधनुष का-सा दृश्य आँखों को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक हैं, मगर यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं। राजभवन तो उन रियासतों में भी आँखों को मुग्ध कर देते हैं, जहाँ प्रजा नरक के कष्ट भोग रही है। हमारे राजाओं में निन्यानवे फीसदी तो वही हैं, जो अपनी रियासत को आमदनी का बड़ा भाग अपने ही भोग विलास पर उड़ा देते हैं। उनकी प्रजा मानों है ही इसलिए कि कमा-कमाकर राजा साहब को उड़ाने के लिए दे और मुँह से बोले नहीं वर्ना उसकी जबान काट ली जायेगी। मैसूर तो सम्पन्न राज्य है और उसके राजभवन को रियासत की शान के अनुसार होना ही चाहिए। एक-एक हाल को सजावट देखते

रहिए। दरबार हाल तो इस ठाट का है कि शायद ही किसी राज्य में हो। यहाँ दशहरे के उत्सव पर महाराजा साहब सिंहासन पर विराजते हैं और दरबारी और कर्मचारी अपने रुतबे के अनुसार कुर्सियों पर बैठते हैं। इत्र-पान से उनका स्वागत किया जाता है, मगर इस इंद्रपुरी का इंद्र अतुल विभूति का स्वामी होते हुए भी, त्याग का उपासक है। अन्य रियासतों की भाँति यहाँ का दरबार इंद्र का अखाड़ा नहीं, कि संन्यासी का आश्रम है। महाराज को राज्य से बाईस लाख रुपये सालाना मिलते हैं, पर यह उनके: भोग-विलास में न खर्च कर प्रजा-हित के कामों में ही खर्च किये जाते हैं। यही कारण है, कि यहाँ की प्रजा अपने राजा को पूजती है और उस पर गर्व करती है। महाराज संगीत और व्यायाम के प्रेमी हैं और साहित्य से भी आपकी रुचि है।

मैसूर का चिड़ियाघर देखकर बंबई और मद्रास के चिड़ियाघर वैसे ही लगते हैं जैसे महल के सामने झोंपड़ा। जितने विचित्र पशु-पक्षी और जल-जीव यहाँ हैं शायद कलकत्ते के चिड़ियाघर के सिवा और कहीं नहीं हैं। पशुओं के लिए नैसर्गिक दशाओं की व्यवस्था ऐसी शायद ही कहीं हो। हमने जितने जीव देखे, सभी हृष्ट-पुष्ट, साफ सुथरे और प्रसन्न दिखायी दिये थे।

मैसूर में सरकार की ओर से रेशम का कारखाना भी खुला हुआ है, चंदन क तेल का भी। चंदन पर इस रियासत की मनोपोली या इजारा है। उसका व्यापार सरकार के हाथों में है। कला-कौशल का विभाग भी है, जहाँ लकड़ी, बेंत, हाथी-दांत, धान कुम्हारी आदि की शिक्षा दी जाती है। वहाँ की बनो हुई चीजों का प्रदर्शन हाता और बिक्री भी होती है, पर चीजों को कीमत बहुत ज्यादा है। यहाँ सबसे अचरज बात जो हमें मालूम हुई वह यह है कि रियासत के कर्मचारियों का या पुलिस का यहाँ बिल्कुल आतंक नहीं है और रिश्वत की चर्चा यहाँ बहुत ही कम है। राज्य की सुव्यवस्था का इससे बढ़कर हमारे विचार में दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता।

मैसूर में हिन्दी-प्रचार के कार्यकर्ताओं और संचालकों में मैंने शुद्ध एकात्मक भात देखा। सभी में हिन्दी के प्रति मिशनरी उत्साह और अनुराग है। पं. हिरण्यमय जी चुपचाप काम करने वाले व्यक्ति हैं, जो शायद स्वप्न में भी प्रचार ही का स्वप्न देखते हो। टी. कृष्ण मूर्ति और श्री के. श्रीनिवास मूर्ति, दोनों ही सज्जन यहाँ को प्रचार-सभा के मंत्री हैं और केवल पदाधिकारी मंत्री नहीं, बल्कि सभा में जीवन का मंत्र डालने वाले मंत्री। दोनों ही शिक्षा विभाग में अध्यापक हैं, लेकिन हिन्दी-प्रचार को अपना व्यसन बना चुके हैं। एक तीसरे उत्साही युवक मि. जे. पी. वर्मा हैं। यह इंटर यूनीवर्सिटी बोर्ड में हैं और यहाँ शायद साल-भर ही उनका रहना होगा, लेकिन हिन्दी प्रचार में

इस जार से सहयोग दे रहे हैं, जो संक्रामक है। अपने उत्साह के सामने बाधाओं को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें यहाँ उत्तर भारत के रहने वालों को संगठित करने के लिए एक हिन्दुस्तानी हितैषी मंडल खोलने की धुन है। कोई सुने या न सुने, आप अपना कथन किये जाते हैं। आखिर मेरे हाथों उस मंडल को स्थापित करा के ही छोड़ा, बुनियाद की रस्म तो मैंने कर दी, उस पर इमारत खड़ी करना मैसूर के उन सज्जनों का काम है, जो व्यापार में धन कमाना ही नहीं चाहते, अपने भाइयों को सेवा में उसका एक अंश अर्पण करत भी चाहते हैं। और जिम्मेदारी भी सबसे ज्यादा उन्हीं लोगों पर आती है, जो संसार की प्रगति को देखते और समझते हैं।

मैसूर में इंदिरा बहन से मिलकर चित्त प्रसन्न हुआ है। इस देवी से मैं काशी, प्रयाग और दिल्ली में मिल चुका था। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में दो साल तक इन्होंने हिन्दी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और आजकल यहाँ प्रचार कर रही हैं। आप प्रचार-सभा के मंत्री श्री क्यों जी की सहधर्मिणी हैं। हिन्दी-प्रेम इन्हें प्रयाग खींच ले गया। पति ने भी सहर्ष अनुमति दी। अपनी छोटी-सी बच्ची को घर पर छोड़कर वह प्रयाग चली गयीं। जिस आंदोलन में ऐसे साधक हों, वह क्यों न सफल हो। एक दूसरी देवी श्रीमती लक्ष्मी अम्मा हैं। इस वृद्धावस्था में इन्होंने विशारद पास किया और अब उर्दू पढ़ रही हैं। उनका उत्साह अदम्य है और युवकों को भी लज्जित करता है। जहाँ-जहाँ मैं

गया वह मेरे स्वागत के लिए मौजूद थीं। हम उनकी कुटिया में उस श्रद्धा से गये जैसे मंदिर में जाते हैं और वहाँ हमने दस-पाँच मिनट तक इस तरह गुजारे, मानों अपनी बहुत दिनों की बिछुडी हुई बहन से मिल रहे हों और बहन उतने ही समय में अपने स्नेह और मेहमानदारी के सारे अरमान पूरे कर लेना चाहती हो। प्रो. सूस्त्री के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में फारसी के अध्यापक हैं और उर्दू के अच्छे जानकार हैं। आपको हिन्दुस्तानी से प्रेम है और संस्कृत के तो आप पंडित हैं। आप इन दिनों भगवद् गीता का फारसी में अनुवाद कर रह हैं। हिन्दू-मुसलिम समस्या पर आपने जो सोने के-से विचार प्रकट किये, काश वह हमारे लीडरों में भी होते तो भारत आज स्वर्ग हो जाता। आप साधुओं का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सांप्रदायिक मनोवृत्ति से आपको घृणा है। आपके चरणों में बैठकर हमने जो आत्मिक शांति लाभ की, वह दिव्य दर्शन से होती है। हिन्दी में एक और उपासक प्रो. नांजुन डैया के सत्संग का भी सुअवसर हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं और इन दिनों अस्वस्थ हैं आपने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया, बह हमारे जीवन की बड़ी मधुर अनुभूति है। आप इन दिनों उर्दू का अध्ययन कर रहे हैं और हमारी कई उर्दू रचनाएँ आपकी नजरों से गुजर चुकी हैं। आपका विशुद्ध साहित्य-प्रेम और साहित्य के एक तुच्छ सेवक के

पति आपका उमड़ता हुआ सम्मान देखकर हम कृतार्थ हो गये। आपसे हमें यही शिकायत हैं कि आपने हाथी दांत की नक्काशी से सजा हुआ एक सिगरेट बक्स पेट करके हमें यह पाठ पढ़ाया कि सिगरेट पीना भी कोई सद्व्यसन है और तब में सिगरेट के प्रति हमारा अनुराग बढ़ गया है, क्योंकि बक्स को हम खाली नहीं देख सकते – दावात में स्याही नहीं तो वह कुल्हिया है – और जब सिगरेटों से भरा हुआ डब्बा सामने हो, तो लोभ को रोकना जरा कारे दरिद।

यों हमें तो यहाँ दो जलसों में हिन्दी के विषय में अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला, लेकिन विशेष आनंद का अवसर वह था, जब हम विश्वविद्यालय भवन में हिन्दी के सैनिकों से मिले। पचास मित्रों से कम न थे और यह सभी युवक हैं, जो खुद विश्वविद्यालय में पढ़ रहे हैं। पर हिन्दी से इतना प्रेम रखते हैं कि कुछ-न-कुछ समय निकालकर हिन्दी-प्रचार की भेंट करते हैं। यह राष्ट्रभाषा के उत्साही सैनिक हैं और उसके प्रचार का संपूर्ण श्रेय इनको है। कई मित्रों ने हिन्दी में अपनी रची हुई चीजें पढ़ी और हम लोगों में घंटे भर तक काफी के साथ साहित्यिक समस्या पर खूब गपशप हुई।

मैसूर की राजभाषा कन्नड़ी है और बोलने वालों की संख्या डेढ करोड़ के लगभग है, मगर यह संख्या, मद्रास, बंबई, हैदराबाद रियासत और मैसूर में फैली हुई है और इससे इस भाषा के विकास में बाधा पड़ रही है। कन्नड़ी का प्राचीन साहित्य ऊँचे दरजे का है और नये साहित्य में भी अच्छी उन्नति हो रही है। बंगलोर में कन्नड़ी साहित्य-परिषद का अपना भवन है, पुस्तकालय हे और उसके द्वारा कन्नड़ी-साहित्य के अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। मैसूर में मुझे कई कन्नड़ी-साहित्य-सेवियों की सेवा में हाजिर होने का अवसर मिला। कई अन्य प्रांतीय भाषाओं की तरह कन्नड़ी को भी यह शंका होने लगी है कि हिन्दी-प्रचार के उद्देश्य के विषय में कुछ भ्रम अभी तक बाकी है। हिन्दुस्तानी प्रचार का उद्देश्य यह हर्गिज नहीं है कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान छीन ले। वह तो अंग्रेजी भाषा का वह स्थान लेना चाहती है, जो उसने भारतवर्ष में प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं में कुछ वही संबंध रहेगा, जो प्रांतीय कौंसिलों और भारतीय एसेम्बली में है। एसेम्बली प्रांतीय कौंसिलों के किसी काम में बाधा नहीं डालती। हाँ, कुछ ऐसे विषय हैं, जिनका संबंध पूर्ण भारत से है और एसेम्बली उन्हीं के विषय में व्यवस्था करती है। जो लेखक या पत्रकार अपनी पुस्तक या पत्र का सारे भारतवर्ष में प्रचार चाहेगा, उसके लिए अंग्रेज माध्यम की जगह हिन्दी माध्यम का साधन उपस्थित कर देना ही हमारा

ध्येय है। आखिर कोई ऐसा दिन तो आयेगा ही, चाहे वह दूर भविष्य में ही क्यों न आये. कि भारत अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के साथ अन्य राष्ट्रों के पहलू में बैठे। अगर हम भारत को एक देश न मानकर महाद्वीप मान लें, जिसमे बहुत से देश हैं. तब भी तो हमें एक प्रधान भाषा की जरूरत पडेंगी ही,जिसमे अंतर्देशीय व्यवहार किया जा सके। हाँ, अगर इन देशों में कोई संबंध ही न रहे, तो दूसरी बात है। तब तो एक प्रांत भी अपनी पृथक सत्ता न कायम रख सकेगा। हमारा ख्याल है कि हिन्दुस्तानी का प्रचार साहित्य-सेवियों के लिए यश और कीर्ति का एक महान् क्षेत्र खोल देता है और प्रांतीय भाषाओं को उससे बदगुमान होने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह प्रांतीय दृष्टि से ही किया है। हम पारिभाषिक शब्दों का कोष बनाते हैं। तो अलग-अलग साधारण कोष बनाते हैं, तो भी अलग-अलग। अगर हमारे पास कोई अंतरप्रांतीय या राष्ट्र-भाषा-परिषद ऐसी होती , जहाँ प्रतिवर्ष प्रत्येक भाषा के महारथी एकत्र होकर, दो-चार दिन या दो – चार हफ्ते बैठकर राष्ट्रभाषा संबंधी समस्याओं पर विचार किया करते, तो शायद दस-बीस साल में हमारी एक संपन्न राष्ट्रभाषा बन जाती। पृथक्-पृथक् काम करने से समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा हैं। दर्शन, विज्ञान, शास्त्र के हजारों ही शब्द हैं, जो सभी प्रांतीय भाषाओं में एक हो सकते थे। अलग-अलग माथापच्ची करने की जरूरत हो न पड़ती।

पाँच दिन मैसूर की मेहमानी खाकर हमने बंगलोर का प्रस्थान किया।

मैसूर से बंगलोर कोई चार घंटे का सफर है। बीच का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही रमणीक है। कहीं हरे-भरे खेत हैं, कहीं आम, नारियल और सुपारी के बाग और कहीं हरियाली से ढकी हुई ऊँची-ऊँची पहाडियाँ। आकाश में कुछ बादल थे और उस मंद प्रकाश में वह पर्वत। शोभा स्वप्निल हो गयी थी। बीच-बीच घाटियों की गोद में विश्राम करते हुए ग्राम नजर आ जाते थे, जिनकी कलई से पुती हुई दीवारें गाँव वालों की सफाई और सुरुचि का पता दे रही थीं। यहाँ की मिट्टी लाल है | जिससे खेतों की छटा और भी सुहावनी हो जाती है। खेतों में जो किसान काम करते नजर आते थे, उनका पहिरावा कुरता और जांघिया था। धोती के मुकाबले में जांघिया किफायत की चीज है। वहाँ धान के खेत भी बहुत मिले, जिनमे नहर से सिंचाई हो रही थी। अब यहाँ गन्ना भी पैदा होने लगा है और राज्य की ओर एक शक्कर की मिल भी है।

शाम को हम बंगलोर पहुँच गये। स्टेशन पर हिन्दी-प्रचार-सभा के अध्यक्ष श्री निट्टूर. श्रीनिवास राव, श्री जम्बुनाथन जी आदि सज्जन मौजूद थे। हम अध्यक्ष जी के मेहमान हुए।

बंगलोर समुद्र की सतह से तीन हजार फीट की ऊँचाई पर है और मैसूर से कुछ ठंडा है। बंगलोर शहर के दो भाग हैं। शहर जो मैसूर राज्य के अधीन है और छावनी पर अंग्रेजी सरकार का राज्य है। आबादी तीन लाख के ऊपर है। शहर में तो कोई खास बात नहीं, प्रयाग या लखनऊ जैसा ही है, लेकिन छावनी की सड़कों की सफाई और बंगलों की सजावट देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। बंगलोर में और प्राय: दक्षिण में दे आंगन के घर होते हैं। घर में हैसियत के अनुसार दो-तीन-चार कोठरियाँ होती हैं। मकान के सामने एक छोटा-सा बाग और चारदीवारी भी बनायी जाती है। हर एक घर बंगले जैसा मालूम होता है।

पहले दिन प्रातःकाल हम लाल बाग की सैर करने गये। इसका रक्बा एक सौ एकड़ है। बाग की बनावट और सफाई और सुंदरता साफ-सुथरी रविशें, फूलों की क्यारियाँ, शीश मंडप मन को मुग्ध कर लेती है। खास बात यह है कि यह पार्क-सुलतान हैदरअली की सुरुचि और वनस्पति-प्रेम की यादगार हैं। यहाँ पौधों और बीजों की बिक्री होती है और विचित्र प्रकार की वनस्पतियों को विदेशी से माँगकर उपजाया जाता है। बंगलोर की सबसे दर्शनीय वस्तु यही पाक है।

बंगलोर से तीन मील पर विज्ञान का वह प्रसिद्ध विद्यालय है, जिसे श्री जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता ने स्थापित किया था। बंगलोर आकर इस विज्ञान-मदिर के दर्शन न करना दुर्भाग्य की बात होती है। रविवार के दिन हम कोई तीन बजे वहाँ पहुँचे। विद्यालय बन्द थे, पर डॉ. सर सी. वी. रमन ने बड़ी खुशी से हमारा स्वागत किया और हमें विद्यालय के रासायनिक विभाग, पुस्तकालय और लेबोरेटरी की सैर करायी। मैं दो-चार वैज्ञानिकों से पहले भी मिल चुका हूँ। यह बड़ा समन्वय बड़ा ही आकर्षक, गूढ, शुष्क और अपनी धुन में मस्त होता है। प्रकृति की अनंत रहस्यमयी रचनाओं में संदेह विचरते रहने के कारण कदाचित् मनुष्य उसके लिए मामूली पशु-मात्र रह जाता है, लेकिन वैज्ञानिकों के इस प्रिंस को देखकर मैं चकित हो गया। ऐसा प्रसन्नचित्त व्यक्ति, जिसका पोर-पोर बालकों के सरल उछाह से उबला पड़ता हो, मैंने दूसरा नहीं देखा। वह विज्ञान के आशिक हैं। और वह इश्क उनकी आँखों में, उनके कपोलों पर, एक-एक अंग में रमा हुआ है। वह इस तरह से दौड़-दौड़कर एक-एक चीज हमें दिखा रहे थे, मानो कोई बालक अपने किसी सखा को अपने खिलौने और कनकौवे और नये कपड़े दिखाने के लिए अधीर हो रहा हो और चाहता हो कि एक ही सांस में सारी विभूतियाँ दिखा दूँ, जिसमे कुछ बाकी न रह जाएँ। मैं अगर कहूँ कि इसी इंस्टीट्यूट में उनके प्राण बसते हैं, तो गलत न होगा। इसकी एक-एक

रविश, एक- एक फूल, एक-एक पौधे, यहाँ तक कि उसके मनोरम प्राकृतिक दृश्य पर भी उन्हें गर्व है, मानों वह प्राकृतिक छटा भी उनकी अपनी रचना हो। इस विद्यालय से देश को अब तक क्या लाभ पहुँचा है, यह तो कोई वैज्ञानिक ही जानता होगा, हम तो सर रमन के व्यक्तित्व की छाप हृदय पर लेकर आये। विद्युत-विभाग और अन्य विभाग बन्द थे, वह हम न देख सके। सर रमन ने हमें एक मजे का तमाशा दिखाया, जो हमारे लिए तो खेल था, पर बुद्धिमानों के लिए तात्विक छान-बीन की चीज है। तबले के चर्मभाग पर चुटकी भर बालू बिखेर दो और तबले पर एक थाप मारो। बालू कभी सीधी रेखा का रूप धारण कर लेती है, कभी वृत्त का। तबले की अलग-अलग ध्वनि भिन्न-भिन्न आकार में प्रकट होती है। सर रमन जिस जिंदादिली और जोश से तबले पर बालू बिखेरते और थाप लगाते थे, वह देखकर कौन ऐसा मुर्दादिल होगा, जो गद्गद न हो उठता। `

चार बजे हम डॉक्टर साहब से विदा हुए और यह सोचते हुए निकले कि काश बड़े लोग अपने बड़प्पन को अपनी कब्र न बनाकर ज्योति बना सकते, तो उससे कितना प्रकाश फैलता।

उसी दिन हमने चीनी के बर्तनों का कारखाना देखा, जो इंस्टीट्यूट से मिला हुआ है। क्रिया बिल्कुल कुम्हारों की-सी है। एक खास तरह की मिट्टी

यहाँ निकलती है, जिसमे दो-एक चीजें मिला देने से लुग्दी तैयार हो जाती है। लुग्दी को भिन्न भिन्न सांचों में डालकर बाहर निकालते हैं, फिर सुखाते हैं, रंगते हैं, और भट्टी में पकाते हैं। शो-रूम में यहाँ के बने हुए खिलौनों और मूर्तियों और फूलवानों आदि का अच्छा संग्रह है, जिससे मालूम होता है कि इस काम में यहाँ कितनी उन्नति हुई है। नल, खपरे, मार्बल, तार की चिड़ियाँ सब कुछ यहाँ तैयार होती हैं। मैसूर राज्य-में बिजली का व्यवहार बड़ी कसरत से होता है, उसके लिए चीनी का जितना सामान दरकार होता है, वह इसी कारखाने में तैयार होता है।

बंगलोर में भी मैसूर की भांति हिन्दी का अच्छा प्रचार हो रहा है। यहाँ के नेशनल हाईस्कूल में तो हिन्दी लाजिमी कर दी गयी है। कुछ उद्योग-धंधे भी सिखाये जाते हैं। यहाँ एक जलसा हुआ, जिसके सभापति प्रो. ए. आर. वाडिया थे। प्रो. वाडिया मैसूर हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रेसिडेंट हैं। मैसूर में उनके दर्शन न हो सके थे। वह सौभाग्य यहाँ मिला। आपको हिन्दी और उर्दू से विशेष रुचि है मगर बोलते हैं अंग्रेजी में और बहुत अच्छा बोलते हैं। स्कूल हेडमास्टर श्री सम्पतराव गिरि, एम. ए. भी हिन्दी के उपासक हैं और आपने तुलसीकृत रामायण का कन्नड़ी गद्य में अनुवाद किया है। इस स्कूल के साथ एक व्यायामशाला भी है, जिसे गत वर्ष महात्मा जी ने खोला था।

बंगलोर में महिलाओं की कई संचालित संस्थाएँ हैं और प्राय: उन सभी में हिन्दी पढ़ायी जाती है। सिलाई, बुनाई, कताई, बेंत का काम, संगीत, कसीदे काढ़ता प्राय: सभी संस्थाओं में जारी है। अध्यापन और संचालन-कार्य देवियों हो के हाथों में हैं। कहीं-कहीं लड़कियों के लिए व्यायामशालाएँ भी हैं। स्त्रियों की यह जागृति राष्ट्र के आशाप्रद भविष्यत् की सूचक है। यहाँ का कोमल जलवायु संगीत के लिए बहुत अनुकूल जान पड़ता है। सभी महिला-समाजों में संगीत का प्रचार है। वीणा यहाँ का प्यारा बाजा है। काश, ये देवियां महीने में दो दिन आस-पास के देहातों को भेंट कर दिया करें, तो गाँव वाली स्त्रियों को भी उनकी जागृति का कुछ प्रकाश मिले। यों तो सभी संस्थाएं तरक्की कर रही हैं, पर मल्लेश्वरम् महिला-समाज को उन्नति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ 1930 में हिन्दी क्लास खोला गया। पहले साल केवल चार देवियां परीक्षा में बैठीं और गतवर्ष यह संख्या बढ़कर पैंतालिस तक पहुँच गई। इसी संस्था की दो देवियां प्रयाग महिला विद्यापीठ में पढ़ रही हैं। अब तक तीन सौ देवियाँ इस समाज से हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर चुकी हैं। यहाँ एक वाग्वर्धिनी सभा भी है, जिसमे देवियाँ सामाजिक विषयों पर मुबाहसे करती हैं। इतना ही नहीं, यहाँ से 'समाज भारती' नाम का एक हिन्दी त्रैमासिक परचा भी निकलता है, जिसमे देवियाँ भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख लिखती हैं। समय-समय पर यहाँ विद्वानों और

राष्ट्र नेताओं के भाषण भी होते हैं। एक बार महात्मा जी भी यहाँ अपना अमृत उपदेश कर चुके हैं। इस कीर्ति पर कौन-सी संस्था गर्व न करेंगी।

कन्नड़ी भाषा और साहित्य-परिषद भी बंगलोर में ही है। हमने बड़ी श्रद्धा से इस साहित्य-मंदिर की परिक्रमा की। अच्छा खासा परिषद का अपना भवन है, जिसमे एक हॉल है, एक पुस्तकालय, वाचनालय और दफ्तर। कन्नड़ी भाषा के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-परिषद द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। आजकल परिषद में मैसूर राज्य के प्रोत्साहन से एक बृहद् कन्नड़ी-अंग्रेजी कोष बन रहा है। जिसके एडिटर और कोष-मंडल के अध्यक्ष एक वयोवृद्ध सज्जन प्रो. वेंकट नारायणप्पा हैं। आप जिस उत्साह और तन्मयता से यह कार्य-संपादन कर रहे हैं, वह जवानों को लज्जित करता है। आप पहले मैसूर विश्वविद्यालय में कैमिस्ट्री के अध्यापक थे। अब पेंशन पाते हैं। कन्नड़ी साहित्य बहुत पुराना है और इसका काव्य साहित्य तो बड़े ऊँचे दरजे का है। नया साहित्य भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। परिषद के कुशल उपसभापति श्री गुंडप्पा जी के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें हुआ। आप साहित्य के एक यशस्वी लेखक और कवि हैं और प्राचीन साहित्य क गहरे विद्वान। कन्नड़ी साहित्य कितना धनी है, इसका अनुमान इसी से किया जा पकता है कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक इसमें लगभग बारह सौ कवि हो गए थे, जिनमे पच्चीस महिलाएँ थीं और पच्चीस राजे-रईस। एक विद्वान ने तीन जिल्दों में

उनके जीवन-चरित्र लिखकर कन्नड़ी साहित्य के इतिहास की अच्छी सामग्री जुटा दी है। अगर कन्नड़ी साहित्य की कुछ चीजें हिन्दी-साहित्य में आ सकें, तो आदान-प्रदान से दोनों ही भाषाओं को लाभ हो। कुमार व्यास की अमर कृति 'भारत` शायद कन्नड़ी साहित्य का सबसे उत्तम ग्रंथ है। कन्नड़ी विद्वानों का कहना है कि ऐसे कवि भारतवर्ष में दो-चार ही हुए हैं। अब इस प्रांत में हिन्दी का प्रचार हो रहा है, तो शायद भविष्यत् में कोई कन्नड़ी विद्वान अपने साहित्य-रत्नों को हिन्दी में भेंट करें। 'हंस' में गुजराती, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी पत्रों के संग्रहणीय और विचारपूर्ण लेखों पर टिप्पणियाँ दी जाती हैं, अगर कोई हिन्दी जानने वाले कन्नड़ी विद्वान कन्नड़ी के सामयिक साहित्य पर टिप्पणियां लिखकर 'हंस' में भेजने की कृपा करें, तो 'हंस' उपकार मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करेगा, बल्कि अपना गौरव समझेगा।

बंगलोर में मि. के. बी. ऐयर का व्यायाम मंदिर भी देखने की चीज है। मालूम नहीं ऐयर महोदय ने इसका नाम हर्क्यूलीस व्यायाम मंदिर क्यों रखा है। हमारे हनुमान जी तो हर्क्यूलीस से कुछ कम न थे। हर्क्यूलीस ने अगर पहाड़ के दो टुकड़े कर दिए थे, तो हनुमान जी सूर्य को साफ निगल गए थे और धौलागिरि पर्वत को एक हाथ पर उठाकर कोई ढाई हजार मील दौड़ते चले आये थे। इस मंदिर में युवकों को हर एक तरह का व्यायाम सिखाया

जाता है। ऐयर स्वयं बड़े ही सुगठित शरीर के स्वामी हैं, और आपके कई शिष्य अच्छे-खासे पहलवान हैं। आपने सूर्य नमस्कार के आधार पर अपनी एक व्यायाम-विधि निकाली है और इस विषय का बहुत में साहित्य भी प्रकाशित कर चुके हैं, हम उनसे मिल तो न सके, क्योंकि उस दिन वह कहीं बाहर गये हुए थे। लेकिन उनके सचित्र बुकलेट जो हमने पढ़, उससे मालूम हुआ कि आपने नवीन और प्राचीन विधियों का मिश्रण करके एक वैज्ञानिक अभ्यास- क्रम निकाला है, जिससे थोड़े समय में ही आश्चर्यजनक फल प्राप्त हो सकता है। और यह पहलवान अपनी बाल्यावस्था में बहुत ही दुबला-पतला था। ऐसे मंदिरों की प्रत्येक नगर में जरूरत है और हमारा ख्याल है कि जनता उनका बड़े हर्ष से स्वागत करेगी।

मैसूर राज्य में हिन्दी अभी तक अख्तियारी मजमून है। हिन्दी प्रेमियों की ओर यह आंदोलन हो रहा है कि हिन्दी का लाजिमी बना दिया जाएँ। अगर यह उद्योग सफल हो जाएँ, तो हिन्दी-प्रचार दुगुनी गति से बढ़ने लगे। इसी विषय पर कुछ विचार विनिमय करने के लिए मैं मैसूर राज्य के दीवान सर मिर्जा इस्माइल की खिदमत में हाजिर हुआ। दीवान साहब बड़े ही विद्या-प्रेमी और उदार व्यक्ति हैं। हमारी बातचीत हिन्दुस्तानी में हुई। उर्दू साहित्य का उन्हें अच्छा परिचय है, और बेतकल्लुफ उर्दू बोलते हैं। हिन्दुस्तानी में एक राष्ट्रभाषा की जरूरत को वह भी स्वीकार करते हैं ओर इस आंदोलन

से उन्हें सहानुभूति है, लेकिन एक सांस्कृतिक विषय में वह सरकारी तौर पर कोई कार्यवाई करने के पक्ष में नहीं हैं। जब तक यह माँग इतनी बलवान नहीं हो जाती कि कार्यकारिणी समिति इसे बहुमत से स्वीकार कर ले, तब तक राज्य इसमें दखन देना मुनासिब नहीं समझता। सब-कुछ राष्ट्रभाषा के प्रेमों और प्रचारकों के धैर्य, उत्साह और सेवा पर मुनस्सर है। जब तक हम हिन्दुस्तानी को सर्वसम्मति से राष्ट्रभाषा स्वीकार न करा लें, तब तक राज्य उसे कैसे स्वीकार करेगा। दीवान साहब हमारे साथ बड़े मेहरबानी से पेश आये। गोरे अधिकारियों ने हमें यह सिखाया है कि अधिकार और सज्जनता में मेल नहीं होता। दीवान साहब इसके अपवाद हैं। आपसे मिलकर फिर-फिर मिलने को इच्छा होती है।

हमने चौथे दिन बंगलोर से पूना को प्रस्थान किया। श्रीनिवासराव जी ने हमार जो सत्कार किया, उसके लिए हम उनके एहसानमंद हैं। आप हैं तो एक हड्डी के व्यक्ति, मगर आपके पोर-पोर में सजीवता भरी हुई है। आप वकील हैं, प्रकाशक हैं, लेखक हैं और हिन्दी-प्रचार के स्तंभ हैं। आपने कन्नड़ी भाषा में Book of Knowledge के ढंग की एक माला मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित करना आरंभ किया है और शायद उसके चार नंबर निकल चुके हैं। इसमें अनेक ब्लाक हैं , और साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, कला-कौशल, जीव शास्त्र, वनस्पति आदि अनेक विषयों

पर बालकोपयोगी निबंध हैं। और चेष्टा की गई है कि उसकी भाषा सरल, सजीव और रोचक रहे। हिन्दी में अभी तक ऐसी कोई माला नहीं निकली है। श्रीनिवासराव इसका एक हिन्दी एडिशन निकालने का प्रबंध कर रहे हैं। ब्लाक उनके पास हैं ही, केवल निबंधों का सरल हिन्दी में अनुवाद करना है। हमें आशा है कि हिन्दी में इस माला का आदर होगा। बच्चों के लिए हिन्दी में किस्से-कहानियाँ तो बहुत निकली हैं, लेकिन ज्ञान बढ़ाने वाली पुस्तकों का अभाव है। इस संग्रह से यह कमी पूरी हो जाएगी।

['हंस', फरवरी 1935]

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक अंग है। श्रीमती खलीदा अदीब खानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। संभव है प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो, परंतु बौद्धों के पतन के उपरांत उसकी राष्ट्रीयता का भी अंत हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खंड-खंड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासनकाल में भी जो कुछ हुआ था, उसमे भिन्न-भिन्न प्रांतों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परंतु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत

देर से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षो से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरंभ अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ*साथ हुआ। और उसी की दृढता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अंगों और तत्त्वों में कोई ऐसा पारस्परिक संबंध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप सके। यदि आज भारतवर्ष से अंग्रेजी राज्य उठ जाएँ तो इन तत्त्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत संभव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर ऐसा नया संगठन उत्पन्न हो जाएँ जिसका एक-दूसरे के साथ कोई संबंध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाएँ जो अंग्रेजों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तंभ है, इसलिए यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाएँ। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरंभ हो जाएँगी और एक ऐसा समय आयेगा, जबकि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों

के साहित्यिक मंडल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के काबिल हो जाएँगी।

परंतु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आजकल भिन्न-भिन्न प्रांतों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं, उसमे तो राष्ट्रीय भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उसके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परंतु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं – उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इसमें से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उसमे खींचातानी हो रही है। यहाँ तक कि इस मतभेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शांत चित्त और शांत मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असंभव समझकर हिम्मत न

हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी-न-किसी प्रकार की मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतंत्र उन्नति और विकास में मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते। उन्होंने यह मान लिया है कि आरंभ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता ओर समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनो में मेल और एकता होना असंभव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक संबंध है। और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का संबंध है। उनको यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते। फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुँचावें?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने-आपको अपने जन्म-स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक हो परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विलास के संबंध में कोई आपत्ति न हो। बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू और कन्नड़ी आदि प्रांतीय भाषाओं के संबंध में हमें किसी प्रकार की चिंता नहीं है। उन्हें अधिकार है कि वह अपने अंदर चाहे जितनी संस्कृत, अरबी, या लैटिन

आदि भरती चलें। उन भाषाओं के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं, परंतु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहाँ तक दोनों ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं। परंतु वे अपने व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसीलिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरंभ हो गया। और दोनों का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी जबान कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक-दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्वसामान्य बोधगम्यता हो-जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह फारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मानदंड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं या नहीं। और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी,

बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा गा पारिभाषिक शब्द जन-साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिन्दुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं है, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिन्दुस्तान न कहकर केवल हिन्द कहें तो इसकी भाषा को हिन्दी कह सकते हैं। लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा हो नहीं जा सकता, जब तक हम हिन्दुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार संभव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा, को हिन्दी ही कहते थे और खुसरो ने खालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रंथ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जन-साधारण की आवश्यकता के शब्द उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में सहूलियत हो जाएँ। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहाँ हुई थी। जो हो, परंतु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उनके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है लेकिन फिर

भी लिखी नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिक उसे ट बाहर कर देते हैं। स्तव में उर्दू और हिन्दी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएं जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिल्कुल ठीक है कि किसी देश में भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नहीं हुआ करतीं। जो अंग्रेजी हम किताबों और अखबारों में पढ़ते हैं, वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा में बातचीत नहीं करते जिस भाषा में ग्रंथ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं और जन-साधारण भी भाषा तो बिल्कुल अलग ही होती है। इंग्लैंड के हर एक पढ़े-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जाने वाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परंतु आज क्या परिस्थिति है? हमारी हिन्दी वाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हें 'मनुष्य' से तो प्रेम है परंतु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण में भली-भाति प्रचलित है परंतु फिर भी

उसके यहाँ इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना पत्र' ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिल्कुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफा' को वह किसी तरह मंजूर ही नहीं कर सकते और इसके स्थान पर 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना सुबोध क्यों न हो, परंतु उन्हें 'वायुयान' की सर ही पसंद है। उर्दू वाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'खुदा' को तो मानते हैं, परंतु 'ईश्वर' का नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते हैं, परंतु 'अपराध' कभी नहीं कर सकते। 'खिदमत' तो उन्हें बहुत पसंद है, परंतु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिए हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिनमे दोनों एक-दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें और वह भी सिर्फ मेहमान की हैसियत से नहीं बल्कि घर के आदमी की तरह। गारसन डि टासी के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अंग्रेजी भाषा के भी अनेक रंग हैं। कहीं लैटिन भाषा और

यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लोसैक्सन शब्दों की। परंतु हैं दोनों ही अंग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमंत्रण ग्रहण करें, जो कोई नयी भाषा नहीं हैं, बल्कि उर्दू और हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त प्रांत के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अंतर ही नहीं होता। इसमें शिक्षा विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियों में बचपन से ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जाएँगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली-भांति परिचित हो जाएँगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गई हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए साहित्यिक

रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़ने वाले लड़कों के पास फारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़ने वाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भंडार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहाँ उर्दू और हिन्दी का विभेद आरंभ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुँच जाती है, अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाए शब्द मिल जाते हैं, लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि आदि। इसी तरह उर्दू का झंडा लेकर चलने वाले कहते हैं कि फारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएं, जैसे फारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या संबंधी भंडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली में गंभीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने

दिया जाएँ और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जाएँ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जाएँ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक हे वि. जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे इम दिन-पर-दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप पहुँचते जाएँ, और संभव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणित हो जाएँ। हिन्दुस्तान के हर एक सूबे से मुसलमानों की थोड़ी बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्त-प्रांत के सिवा और और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे को भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मद्रास का तमिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू को बिल्कुल आवश्यकता नहीं पटती। यदि दूसरे-दूसरे सूबे के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते है कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद

नहीं रह जाता, जो फिर संयुक्त-प्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं?

हमारे सूबे के देहातों में रहने वाले मुसलमान प्राय: देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी आपने घरों में देहाती जबान से बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोलचाल की उर्दू में साधारण हिन्दुओं को ही। बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्राय: एक-सी ही हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार-पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पंडितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्तमान कोषों में दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषों में दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाए जा सकते और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अंग्रेजी के असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य को सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते? उर्दू और हिन्दी भाषाओं में न तो अभी विस्तार ही है और न दृढता। उनके शब्दों की

संख्य। परिमित है। प्राय: साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बंगाल की तो लिपियाँ भी देवनागरी से मिलती जुलती हैं। यद्यपि दक्षिण भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिल्कुल भिन्न हैं, परंतु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फारसी के शब्द भी सभी प्रांतीय भाषाओं में कुछ-न-कुछ मिलते हैं। परंतु उसमे संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती, जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमे संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रांतों के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी में सहज में समझ सकते हैं परंतु फारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त-प्रांत और पंजाब के नगरों और कस्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं, लेकिन उर्दू बोलने वाले मुसलमान उसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार

और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाएँ? और हिन्दी में भी इस प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाएँ? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाएँ कि वह सारे भारतवर्ष में बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिंधी भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिंधी भाषा की केवल लिपि अरबी हैं, परंतु उसमे हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिए गए हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमे संस्कृत, अरबी और फारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में किस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परंतु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमे नहीं लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जाएँगा। विज्ञान और विद्या संबंधी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और

संस्कृत के असीम शब्द-भंडारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रांतीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान-संबंधी पारिभाषिक शब्द बनाए गए हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रांतीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक-दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे के पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अंग्रेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाएँ` ये पारिभाषिक शब्द केवल अंग्रेजी में ही प्रचलित नहीं हैं बल्कि प्राय: सभी उन्नत भाषाओं में उससे मिलते-जुलते पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलंबन किया है और मिस्र में भी थोड़े-बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैंकड़ों विदेशी शब्द ख़प सकते हैं तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने-देने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रांत ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिए तो फिर

भारतवर्ष को कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-संबंध भाषा न बन सकेगी। बंगला, मराठी , गुजराती और कन्नड़ी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती हैं। उर्दू भी अरबी और फारसी की सहायता कैसे अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परंतु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आइने अकबरी' ने हिन्दू दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म- शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभाषिक लेकर आई हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परंपरा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न होगी। परंतु सरलता और कोमलता का मानदंड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अंग्रेजी टोपी बेजोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणत: सभी जगह दिखाई देती हैं। स्त्रियों के लिए लंबे-लंबे सिर के बाल सौंदर्य का एक विशेष स्तंभ हैं, परंतु आजकल तराशे हुए बाल प्राय: पसंद किए जाते है। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरलता नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है।

यदि हम सरलता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिए। जबकि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करे जिसमे हर एक प्रांतीय भाषा को प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आने वाली समस्याओं की मीमांसा करें? जब हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्राय: हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोण पर अड़े रहें? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाएँ जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तान` भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रांत में प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या। होगा। इस सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्यक्रम तैयार करें। हमारा यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुंजाइश नहीं है।

['जमाना', अप्रैल 1935]

हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी

विधाता के घर में जिस समय वाणी बंट रही थी, उस समय मैं सो रहा था। इसलिए मैं उतनी अच्छी तरह बोल नहीं सकता। बोलना मेरे काबू के बाहर की बात है। हाँ, लिख जरूर लेता हूँ। यदि बोलने की कला मुझमें होती तो शायद मैं और अधिक आज आपको खुश कर सकता, परंतु अफसोस तो यही है कि न तो मुझे बोलने की कला का अभ्यास हे और न कला का स्वांग भरना ही आता है। आपने मुझे आज जो इज्ज़त बख्शी है और जो कृपा दिखाई है, उसके योग्य तो मैं नहीं था, लेकिन कृपा जो मुफ्त ही मिल रही है तो क्यों न ली?

साहित्य क्या है?

साहित्य क्या है? इस विषय पर थोडा कह लूँ। मुख्तलिफ लोगों की मुख्तलिफ राय है। कोई विशेषज्ञ कहते हैं कि साहित्य जीवन की आलोचना है, साहित्य बड़े मस्तिष्क की उपज है, साहित्य हृदय की उमंगों

और भावों का दिग्दर्शन है। लेकिन मेरी राय में "जो दिल से निकले और दिलों पर असर करे, वास्तव में तो वही साहित्य है।"

साहित्य उपन्यास नहीं है, न इतिहास साहित्य है। भूगोल भी साहित्य नहीं है, क्योंकि वे सब एक निश्चित बात को निश्चित काल तक बताते हैं। भगवान् तिलक का 'गीता-रहस्य' साहित्य है। वह हमारे भावों को जाग्रत करके जीवन-शक्ति प्रदान करने में समर्थ है। साहित्य वह भी है, जिसमे हमारे भावों को जगाने की शक्ति हो।

साहित्य की सृष्टि क्यों होती है?

साहित्य आनदंदायिनी वस्तु हैं, लेकिन आनंद क्या है? अपनी वस्तु का खुद आनंद भोगने के बाद उसी से पढ़ने वालों को सुख पहुँचाना। यही साहित्य का आनंद है। आनंद दो तरह का होता है: एक आनंद ऊँचा और दूसरा नीचा। मंगल की भावना का प्रचार ऊँचे दर्जे का आनंद है। एक हिलोर उठती है जिसे लेखक खुद भोगता हैं, फिर अपने परिचितों को उस आनंद का परिचय कराता है। नीचे दर्जे का साहित्य इसके ठीक प्रतिकूल होता है।

साहित्य और जीवन का संबंध

आजकल साहित्य को दो भागों में बांट रखा है। एक तो आदर्श जीवन का चित्रण और दूसरे यथार्थ का चित्रण। इसी का नाम Idealism और Realism है। आधुनिकता यथार्थ जीवन की प्रेरक है। जीवन की नकल कर देना साहित्य नहीं, पर साहित्य वह है जो यथार्थ जीवन को सुंदर ढंग से लिख दे। इसके सिवा जीवन को स्वयं सुंदर बनाना चाहिए। रियलिज्म जीवन के अंधकारमय पहलुओं का उज्वल कर देता है। अच्छी कला, अच्छा साहित्य वह है जिसे सर्वसाधारण बिना तकलीफ के समझ जाएँ- कुछ लोग ऐसा कहते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि साहित्य वह है, जिसे समझने में कुछ दिमाग खर्च करना पड़े। परंतु महात्मा टॉल्स्टॉय (Tolstoy) का कहना है कि कला विश्वव्यापी है, लेकिन इसके लिए रुचि का होना आवश्यक है। यदि हमें संगीत का ज्ञान नहीं है तो हम उसे समझ भी नहीं सकते। यदि नृत्य में हम रुचि नहीं रखते तो हम उसे दाद नहीं दे सकते।

साहित्य में जब रसिकों और जन-साधारण दोनों के लिए स्थान है तो कोई कारण नहीं दिखता कि उसकी महत्ता को नीचे गिराया जाएँ। जहाँ रसिकों के लिए रामायण है, वहाँ जन-साधारण के लिए आल्हा भी तो है।

लोगों को शिकायत है कि हमारा साहित्य उन्नति नहीं कर रहा है। इसका कारण जनता ही है। जनमत और लोकमत साहित्य को उन्नति के आधार हैं। यदि जनता की रुचि अच्छी समालोचक (क्रिटिक) होती है, तो उसका साहित्य निरंतर तरक्की करता जाता है, किन्तु जनता ही जब उस ओर उदासीन हो बैठती है तो उसके साहित्य का आगे बढ़ना स्वभावत: ही बन्द हो जाता है। लेखक यदि यह चाहता है कि उसकी चीज की आलोचना हो तो उसे निष्पक्ष आलोचना मिलनी चाहिए, पर मुश्किल तो यह है कि आपका एप्रिसिएशन (मूल्यांकन) क्रियाशील नहीं होता।

हिन्दी-भाषा अब राष्ट्र-भाषा होने जा रही है। अपनी मंजिल पाँच-दस मील चल भी चुकी है। यह ठीक है कि उसे अभी बहुत दूर चलना है। हमारी इच्छा तो यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों के अंदर हिन्दी का प्रयोग हो। मद्रास में तो हिन्दी का खूब प्रचार हो रहा है।

हम हिन्दी का रूप बनाकर चाहें कि उसका प्रचार हो तो नहीं हो सकता, पर महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू आदि कुछ कर जायें तो बृह चल सकता है। दम यह प्रयत्न करेंगे कि महात्माजी राष्ट्र-भाषा को कोई बोर्ड बनावें, जिसमे एक केंद्र से एक केंद्र-स्थल तक सब एक हो जायें। अतः मैं

आप लोगों से भी कहूँगा, चूंकि आपका भी इससे संबंध है, बोर्ड बनाने में आप लोग भी अपनी-अपनी राय दें।

मुझे इतने छोटे-से नगर में साहित्यिक रुचि के लोगों की इतनी तादाद देखकर बड़ा हर्ष हो रहा है।

[7 अप्रैल, 1935 को पं. माखनलाल चतुर्वेदी की अध्यक्षता में 'तुलसी उत्सव कमेटी' तथा 'ललित साहित्य मंडल' खंडवा द्वारा आयोजित अभिनंदन समारोह में दिया गया भाषण। 'धर्मवीर', 13 अप्रैल 1935]

फिल्म और साहित्य

हमने गत मास के 'लेखक' में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक से एक छोटा लेख लिखा था, जिसको पढ़कर हमारे मित्र श्री नरोत्तमप्रसाद जी नागर, संपादक 'रंग भूमि' ने एक प्रतिवाद लिख भेजने की कृपा की है। हम अपने लेख को 'लेखक' से यहाँ नकल कर रहे हैं, ताकि पाठकों को मालूम हो जाएँ कि हमारे और नरोत्तमप्रसाद जी के विचारों में क्या अंतर है। पाठक स्वयं अपना निर्णय कर लेंगे। नागर जी का मैं कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने उस लेख को पढ़ा और उस पर कुछ लिखने की जरूरत समझी। वह खुद सिनेमा में सुधार के समर्थक हैं और बरसों से यह आंदोलन कर रहे हैं , इसलिए इस विषय में उन्हें सम्मति देने का पूरा अधिकार है। हम उसके प्रतिवाद को भी ज्यों-का-त्यों छापते हैं।

‘लेखक’ में प्रकाशित हमारा लेख

अक्सर लोगों का खयाल है कि जब से सिनेमा ‘सवाक’ हो गया है, वह साहित्य का अंग हो गया, और साहित्य-सेवियों के लिए कार्य का एक नया क्षेत्र खुल गय। है। साहित्य भावों को जगाता है, सिनेमा भी भावों को जगाता है, इसलिए वह भी साहित्य है। लेकिन प्रश्न होता है – कैसे भावों को? साहित्य वह है जो ऊँचे और पवित्र भावों को जगाये, जो सुन्दरम् को हमारे सामने लाये। अगर कोई पुस्तक हमारी पशु-भावनाओं को प्रबल करती है, तो हम उसे साहित्य में स्थान न देंगे। पारसी स्टेज के ड्रामों को हमने साहित्य का गौरव नहीं दिया। इसीलिए कि ‘सुन्दरम्’ का जो साहित्यिक आदर्श अव्यक्त रूप से हमारे मन में है, उसका वहाँ कहीं पता न था। होली और कजली और बारहमासे की हजारों पुस्तकें आए-दिन छपा करती हैं, हम उन्हें साहित्य नही कहते। वह बिकती बहुत हैं, मनोरंजन भी करती हैं, पर साहित्य नहीं हैं। साहित्य में भावों की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता, सुंदरता की जो साधना होती है, वह हमें वहाँ नहीं मिलती। हमारा खयाल हे कि हमारे चित्रपटों में भी वह बात नहीं मिलती। उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। सुरुचि या सुंदरता से उन्हें काई प्रयोजन नहीं। वह तो जनता को बही चीज देंगे जो वह माँगती है। व्यापार व्यापार

है। वहाँ अपने नफे के सिवा और किसी बात का ध्यान करना ही वर्जित है। व्यापार में भावुकता आई और व्यापार नष्ट हुआ। वहाँ तो जनता की रुचि पर निगाह: रखनी पड़ती है और चाहे संसार का संचालन देवताओं ही के हाथों में क्यों न हो, मनुष्य पर निम्न मनोवृत्तियों का राज्य होता है। अगर आप एक साथ दो तमाशों की व्यवस्था कर-एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो, दूसरा किसी वेश्या का नग्न नृत्य, तो आप देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कुरसियों को अपना भाषण सुना रहे हैं और वेश्या के पंडाल में तिल रखने को जगह नहीं। मुँह पर राम-राम मन में छुरी वाली कहावत जितनी ही लोकप्रिय है, उतनी ही सत्य भी है। वही भोला-भाला ईमानदार ग्वाला, जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झिझक के दूध में पानों मिला देता है। वही बाबूजी, जो अभी किसी कवि की एक सूक्ति पर सिर धुन रहे थे, अवसर पाते ही एक विधवा से रिश्वत के दो रुपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब में दाखिल कर लेते हैं। उपन्यासों में भी ज्यादा प्रचार, डाके और हत्या से भरी हुई पुस्तकों का होता है। अगर पुस्तकों में कोई ऐसा स्थल है जहाँ लेखक ने संयम की लगाम ढीली कर दी हो तो उस स्थल को लोग बड़े शौक से पढ़ेंगे, उस पर लाल निशान बनाएँगे, उस पर मित्रों से बहस-मुबाहसे करेंगे। सिनेमा में भी वही तमाशे खूब चलते हैं जिनसे निम्न-भावनाओं की विशेष तृप्ति हो। वही सज्जन, जो

सिनेमा की कुरुचि की शिकायत करते फिरते हैं, ऐसे तमाशों में सबसे पहले, बैठे नजर आते हैं। साधु तो गली-गली भीख माँगते हैं, पर वेश्याओं को भीख माँगते किसी ने देखा होगा। इसका आशय यही नहीं कि भिखमंगे साधु वेश्याओं से ऊँचे हैं – लेकिन जनता की दृष्टि में वे श्रद्धा के पात्र हैं। इसीलिए हर एक सिनेमा प्रोड्यूसर, चाहे वह समाज का कितना बड़ा हितैषी क्यों न हो, तमाशे में नीची मनोवृत्तियों के लिए काफी मसाला रखता है, नहीं तो उसका तमाशा ही न चले। बंबई के एक प्रोड्यूसर ने ऊँचे भावों से भरा हुआ एक खेल तैयार किया, मगर बहुत हाय-हाय करने पर भी जनता उसकी ओर आकर्षित न हुई। 'पास' के अंधाधुंध वितरण से रुपये तो नहीं मिलते। आमन्त्रित सज्जनो और देवियों ने तमाशा देखकर मानों प्रोड्यूसर पर एहसान किया और बखान करके मानों उसे मोल ले लिया। उसने दूसरा तमाशा जो तैयार किया, वह वही बाजारू ढंग का था और वह खूब चला। पहले तमाशे से जो घाटा हुआ, वह इस दूसरे तमाशे से पूरा हो गया। जिस शौक से लोग, शराब और ताड़ी पीते हैं, उसके आधे शौक से दूध नहीं पीते। 'साहित्य' दूध होने का दावेदार है सिनेमा ताड़ी या शराब की भूख को शांत करता है। जब तक साहित्य अपने स्थान से उतरकर और अपना चोला बदलकर शराब न बन जाएँ, उसका वहाँ निर्वाह नहीं। साहित्य के समाने आदर्श हैं, संयम है, मर्यादा है। सिनेमा के लिए इनमें से

किसे वस्तु की जरूरत नहीं। सेंसर बोर्ड के नियंत्रण के सिवा उस पर कोई नियंत्रण नही। जिसे साहित्य की 'सनक' है, वह कभी कुरुचि की ओर जाना स्वीकार न कर मर्यादा की भावना उसका हाथ पकड़े रहती है, अतः हमारे साहित्यकारों के लिए जो सिनेमा में हैं, वहाँ केवल इतना ही काम है कि वह डाइरेक्टर साहब के लिख हुए गुजराती, मराठी या अंग्रेजी कथोपकथन को हिन्दी में लिख दें। डाइरेक्टर जानता है कि सिनेमा के लिए जिस 'रचना-कला' की जरूरत है वह लेखकों में मुश्किल से मिलेगी, इसलिए वह लेखकों से केवल उतना ही काम लेता है जितना वह बिना किसी हानि के ले सकता है। अमेरिका और अन्य देशों में भी साहित्य और सिनेमा में सामंजस्य नहीं हो सका और न शायद हो ही सकता है। साहित्य जन-रुचि का पथ-प्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जन-रुचि के पीछे चलता ह जनता जो कुछ माँगे वही देता है। साहित्य हमारी सुंदर भावना को स्पर्श करक हमें आनंद प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओं को स्पर्श करके हमें मतवाला बनाता है और इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज को माँग है, वह बाजार में आयेगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो

जाएँगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीजों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य को सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।

हिन्दी के कई साहित्यकारों ने सिनेमा पर निशाने लगाए, लेकिन शायद ही किसी ने मछली बेध पाई हो। फिर गले में जयमाल कैसे पड़ती? आज भी पंडित नारायणप्रसाद 'बेताब', मुंशी गौरीशंकरलाल अख्तर, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, मि. जमनाप्रसाद काश्यप , मि. चंद्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव, डॉ. धनीराम प्रेम, सेठ गोविन्ददास, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र आदि सिनेमा की उपासना करने में लगे हुए हैं। देखा चाहिए, सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की कायापलट कर देते हैं।

श्री नरोत्तमप्रसाद जी की चिट्ठी

श्रद्धेय प्रेमचंद जी,

'लेखक' में आपका लेख 'फिल्म और साहित्य' पढ़ा। इस चीज को लेकर 'रंगभूमि' में अच्छी-खासी कंट्रोवर्सी चल चुकी है। रंगभूमि के वे अंक आपको भेजे भी गए थे। पता नहीं, आपने उन्हें देखा कि नहीं। अस्तु।

आपने सिनेमा के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह ठीक है। साहित्य को जो स्थान दिया है, उसे भी किसी का मतभेद नहीं हो सकता। निश्चय ही सिनेमा ताड़ी और साहित्य दूध हैं पर इस चीज को जेनेरलाइज करना ठीक न होगा-सिनेमा के लिए भी और साहित्य के लिए भी। साहित्य भी इस ताड़ीपन से अछूता नहीं है। सिनेमा को मात करने वाले उदाहरण भी उसमे मिल जायेंगे-एक नहीं अनेक – और ऐसे व्यक्तियों के, जिनके साहित्यिक संसार ने रिकग्नाइज किया है। और तो और, पाठ्य कोर्स तक में जिनकी पुस्तकें हैं। अपने समर्थन में महात्मा गांधी के वे वाक्य उद्धृत करने होंगे क्या, जो कि उन्होंने इंदौर साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहे हैं? लेकिन प्रत्यक्षे क्रिम् प्रमाणम्। यही बात सिनेमा के साथ है। सिनेमा के साथ तो एक और भी गड़बड़ है। वह यह कि वह बदनाम है। आपके ही शब्दों में, “भिखमंगे साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए भी श्रद्धा के पात्र हैं। श्रद्धा के पात्र है इसलिए टालरेबुल है या उतने विरोध के पात्र नहीं हैं, जितनी कि वेश्याएँ।” इसी तर्क-शैली को लेकर आप सिद्ध करते हैं कि सिनेमा ताड़ी है और साहित्य दूध। ताड़ी ताड़ी है और दूध दूध। आपने इन दोनों के दर्मियान एक वैल सेड एंड वैल डिफाइंड लाइन आफ डिफरेंस खींच दी है।

मेरा आपसे यहाँ सैद्धान्तिक मतभेद है। मेरा खयाल है कि यह विचारधारा ही गलत है, जो इस तरह की तर्क-शैली है को लेकर चलती है। कभी जमाना था, जब इस तर्क-शैली का जोर था, सराहना थी, पर अब नहीं है। इस चीज़ों को हमें उखाड़ फेंकना ही होगा।

एक जगह आप कहते हैं – "साहित्य का काम जनता के पीछे चलना नहीं, उसका पथ-प्रदर्शक बनना है।" आगे चलकर साधुओं और वेश्याओं की मिसाल देते हैं। साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए भी जनता की श्रद्धा के पात्र हैं। यहाँ आप जनता को इस श्रद्धा को अपने समर्थन में आगे क्यों रखते हैं?

आपने जो साहित्य के उद्देश्य गिनाए हैं, उन्हें पूरा करने में सिनेमा साहित्य से कहीं आगे जाने की क्षमता रखता है। यूटिलिटी के दृष्टिकोण से सिनेमा साहित्य से कहीं अधिक ग्राह्य है, लेकिन यह सब होते हुए भी सिनेमा को उपयोगिता कुपात्रों के हाथों में पड़कर दुरुपयोगिता में परिणत हो रही है। इसमें दोष सिनेमा का नहीं, उनका है जिनके हाथ में इसकी बागडोर है। इनसे भी अधिक उनका है जो इस चीज को बर्दाश्त करते हैं। बर्दाश्त करना भी बुरा नहीं होता, यदि इसके साथ मजबूरी की शर्त न लगी होती।

गले में जयमाल पड़ने वाली बात भी बड़े मज़े की है – "कितने ही साहित्यिकों ने निशाने लगाए पर शायद ही कोई मछली बेध पाया है। जयमाल गले में कैसे पड़ती?" बहुत खूब। जिस चीज के लिए साहित्यिकों ने सिनेमा पर निशाने लगाए, वह चीज क्या उन्हें नहीं मिली – अपवाद को छोड़कर? आप या कोई साहित्यिक यह बताने की कृपा करेंगे कि सिनेमा में प्रवेश करने वाले साहित्यिकों में से ऐसा कौन है, जिसके सिनेमा-प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रंग में रंगना रहा हो? क्या किसी भी साहित्यिक ने सिसीयरली इस ओर कुछ काम किया है? फिर जयमाल गले में कैसे पड़ती? माना कि साहित्य-संसार में जयमाल और सम्राट् की उपाधियाँ टके सेर बिकती हैं; लेकिन सभी जगह तो इन चीजों का यही भाव नहीं है। पहले सिनेमा-जगत् को कुछ दीजिए; या यों ही गले में जयमाल पड़ जाये? या सिर्फ साहित्यिक होना ही गले में जयमाल पड़ने की क्वालीफिकेशन है?

आप बंबई में रह चुके हैं। सिनेमा-जगत् की आपने झांकी भी ली है। आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हमारे साहित्यिक भी, अपनी फिल्मों में निर्दिष्ट रुचि का समावेश करने में किसी से पीछे नहीं रहे हैं – या, कहें कि आगे ही बढ़ गये हैं। औरों को छोड़ दीजिए, वे साहित्यिक भी, जो कि एक तरह से कंपनी से सर्वेसर्वा हैं, अपनी फिल्म में दो सौ लड़कियों का नाम

रखने से बाज न आये, जो कि बजिद थे, कि तालाब से पानी भरने वाले सीन में हीरोइन अंडरवियर न पहने, हीरों आये, उससे छेड़खानी करे और उसका घडा छीनकर उस पर डाल दे। बदन पर अंडरवियर नहीं, वस्त्र भीगे, बदन से चिपके, और नग्नता का प्रदर्शन हो। यह सूझ उन्हीं साहित्यिकों में से एक की है जिनके कि आपने नाम गिनाए हैं।....लेकिन मुझे यह कहना चाहिए कि इसमें साहित्यिक का दोष जरा भी नहीं है।....और ऐसों ब्लैक-सीप मैंटेलिटी साहित्यिक क्या और सिनेमा क्या, सभी जगह मिल जायेगी।

आपने अपने लेख में होली, कजली और बारहमासे की पुस्तकों का जिक्र किया है। इन चीजों को साहित्य नहीं कहा जाता या साहित्यिक इन्हें रिकग्नाइज नहीं करते, यह ठीक है। लेकिन उनका अस्तित्व है और जिस प्रेरणा या उमंग को लेकर अन्य कलाओं का सृजन होता है, उन्हीं को लेकर ये होली, कजली और बारहमासे भी आये हैं। लेकिन आपका उन्हें अपने से अलग रखना भी स्वाभाविक है – यूटिलिटी के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से। इसी तरह क्या आपने कभी यह जानने का कष्ट किया है कि सिनेमा जगत् में क्लासेज एंड मॉसेज – दोनों की ही ओर से कौन-कौन सी कंपनियों, कौन कौन से डाइरेक्टरों और कौन-कौन से फिल्मों को रिकग्नाइज्ञ किया जाता है? भारत की मानी हुई या सर्वश्रेष्ठ कंपनियां कौन-सी हैं, यह पूछने पर

आपको उत्तर मिलेगा – प्रभात, न्यू थिएटर्स और रणजीत। डाइरेक्टरों की गणना में शांताराम, देवकी बोस और चंदूलाल शाह के नाम सुनाई देंगे। तब फिर आपका, या किसी भी व्यक्ति का, जो भी फिल्म या कंपनी सामने आ जाये, उसी से सिनेमा पर एक स्लैशिंग फतवा देना कहाँ तक संगत है, यह आप ही सोचें। यह तो वही बात हुई कि कोई आदमी किसी लाइब्रेरी में जाता है। जिस पुस्तक पर हाथ पड़ता है, उसे उठा लेता है। और फिर उसी के आधार पर फतवा दे देता है कि हिन्दी में कुछ नहीं है, निरा कुडा भरा है। क्या आप इस चीज को ठीक समझते हैं?

अब दो-एक शब्द आपके मादक या मतवालावाद पर भी। पहली बात तो यह कि केवल यूटिलिटेरियन एंड्स की दृष्टि से लिखा गया साहित्य ही साहित्य है, ऐसा कहना ठीक नहीं। ऐसी रचना करने के लिए साहित्यिक से अधिक प्रोपेगेंडिस्ट होने की जरूरत है। इतना ही नहीं, इन एंड्स को पूरा करने के लिए अन्य साधन मौजूद हैं, जो साहित्य से कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। तब फिर, साहित्य के स्थान पर उन साधनों को प्रिफरेंस क्यों न दिया जाये? इसे भी छोड़िए। यूटिलिटेरियन एंड्स को अपनाने में कोई हर्ज नहीं। उन्हें अपनाना चाहिए ही। लेकिन क्या सचमुच में सेक्स-अपील उतना बड़ा हौआ है, जितना कि उसे बना दिया गया है? क्या सेक्स-अपील से अपने आपको, अपनी रचनाओं को, पाक रखा जा सकता

है? पाक रखना जया स्वाभाविक और सजीव होगा? अपवाद के लिए गुंजाइश छोड़कर मैं आपसे पूछना चाहूँगा कि आप किसी भी ऐसी रचना का नाम बतायें, जिसमे सेक्स-अपील न हो। सेक्स अपील बुरी चीज नही है, वह तो होनी हो चाहिए। लोहा तो हमें उस मनोवृत्ति से लेना है, जो सेक्स अपील और सेक्स-परवर्शन में कोई भेद नहीं समझती।

अब सिनेमा-सुधार की समस्या पर भी। यह समझना कि जिनके हाथ में सिनेमा का बागडोर है, वे इनीशिएटिव लें भारी भूल होगी। यह काम प्रेस और प्लेटफॉर्म का है, इससे भी बढ़कर उन नवयुवकों का है, जो सिनेमा में दिलचस्पी रखते हैं। चूकि मैं प्रेस से संबोधित हूँ और फिलहाल एक सिनेमा-पत्रिका का संपादन कर रहा हूँ इसलिए मैंने इस दिशा में कदम उठाने का प्रयत्न किया। लेखकों तथा अन्य साहित्यिकों को एप्रोच किया। कुछ ने कहा कि सिनेमा सुधार की जिम्मेदारी लेखकों पर नहीं। अपने लेख पर दिए गए 'लेखक' के संपादक का नोट ही देखिए। कुछ इसे असंभव-सा, बताकर छोड़ दिया। सिनेमा सुधार की आवश्यकता को तो सब महसूस करते हैं सिनेमा का विरोध भी जी खोलकर करते हैं, पर क्रियात्मक सहयोग का नाम सुनते ही अलग हो जाते हैं। सिर्फ इसलिए कि सिनेमा बदनाम है और यह चीज हमारे रोम-रोम में धँसी हुई है कि 'बद अच्छा

बदनाम बुरा'। क्या यह विडंबना नहीं है? इस चीज को दूर करने में क्या आप हमारी सहायता न करेंगे?

यह सब होते हुए सिनेमा-सुधार के काम को आगे बढ़ना चाहते हैं। नवयुवक लेखकों के सिनेमा ग्रुप को योजना के लिए जमीन तैयार हो चुकी है, हम विस्तृत योजना भी शीघ्र प्रकाशित कर रहे हैं। इसके लिए जरूरत होगी एक निष्पक्ष सिनेमा पत्र को। जब तक नहीं निकलता तब तक काफी दूर तक 'रंगभूमि' हमारा साथ दे सकती है। मेरा तो यह निश्चित मत है और मैं सगर्व कह सकता हूँ कि इस लिहाज से 'रंगभूमि' भारतीय सिनेमा-पत्रों में सबसे आगे है। मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप 'रंगभूमि की आलोचनाएँ' जरूर पढ़ा करें। पढ़ने पर आपको भी मेरे – जैसा मत स्थिर करने में जरा भी देर न लगेगी, इसका मुझे पूर्ण निश्चय है।

आशा है कि आप भी सिनेमा-ग्रुप को अपना आवश्यक सहयोग देकर कृतार्थ करेंगे।

आपका

नरोत्तमप्रसाद नागर

श्री नरोत्तमप्रसाद जी की चिट्ठी का उत्तर

नागर जी ने हमारे सिनेमा-संबंधी विचारों को ठीक माना है, केवल हमारा जेनरेलाइज करना अर्थात् सभी को एक लाठी से हाँकना उन्हें अनुचित जान पड़ता है। क्या वेश्याओं में शरीफ औरतें नहीं हैं? लेकिन इससे वेश्यावृत्ति पर जो दाग है वह नहीं मिटता। ऐसी वेश्याएँ अपवाद हैं, नियम नहीं।

साधुओं और वेश्याओं में मौलिक अंतर है। साधु कोई इसलिए नहीं होता { वह मौज उड़ाएगा और व्यभिचार करेगा, हांलाकि कुछ ऐसे साधु निकल ही आते हैं, जो परले सिरे के लुच्चे कहे जा सकते हैं। साधु हम ज्ञान-प्राप्ति या मोक्ष या जन-सेवा के ही विचार से होते हैं। इस गई-गुजरी दशा में भी ऐसे साधु मौजूद जिन्हें हम महात्मा कह सकते हैं। वेश्याओं के मूल में दुर्वासना, अर्थ-लोलुपता, कामुकता और कपट होता है। इससे शायद नागर जी को भी इंकार न हो।

सिनेमा की क्षमता से मुझे इंकार नहीं। अच्छे विचारों और आदर्शों के प्रचार में सिनेमा से बढ़कर कोई दूसरी शक्ति नहीं है, मगर जैसा नागर जी खुद स्वीकार करते हैं, वह कुपात्रों के हाथ में है और वह लोग भी इस जिम्मेदारी

से बरी नहीं हो सकते, जो उसे बर्दाश्त करते हैं, अर्थात् जनता मुझे इसके स्वीकार करने में करा आपत्ति नहीं। यही तो मैं कहना चाहता हूँ। सिनेमा जिनके हाथ में है, उन्हें आप कुपात्र कहें, मैं तो उन्हें उसी तरह व्यापारी समझता हूँ, जैसे कोई दूसरा व्यापारी। और व्यापारी का काम जन-रुचि का पथ-प्रदर्शन करना नहीं, धन कमाना है। वह वही चीज के सामने रखता है, जिसमे उसे अधिक से अधिक धन मिले। एक फिल्म बनाने में पचास हजार से एक लाख तक बल्कि इससे भी ज्यादा खर्च हो जाते हैं। व्यापारी इतना बड़ा खतरा नहीं ले सकता। गरीब का दिवाला निकल जाएँगा। साहित्यकार का मुख्य उद्देश्य धन कमाना नहीं होता, नाम चाहे हो। हमारे ख्याल में साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन का बल और स्वास्थ्य प्रदान करना है। अन्य सभी उद्देश्य इसके नीचे आ जाते हैं। हजारों साहित्यकार केवल इसी भावना से अपना जीवन तक साहित्य पर पर कुर्बान कर देते हैं। उन्हें धेला भी इससे नहीं मिलता। मगर ऐसा शायद ही कोई प्रोड्यूसर अवतरित हुआ हो, और शायद ही हो, जिसने इस ऊँची भावना से फिल्में बनाई हो।

आप फरमाते हैं, सिनेमा में जाने वाले साहित्यिकों में ऐसा कौन था, जिसका मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रंग में रंगना रहा हो? हम जोरों से कह सकते हैं, कोई भी नहीं। वहाँ का जलवायु ही ऐसा है कि बड़ा आदर्शवादी भी जाएँ, तो नमक की खान में बनकर रह जाएँगा। वही लोग,

जो साहित्य में आदर्श की सृष्टि करते हैं सिनेमा में दो सौ वेश्याओं का नंगा नाच करवाते हैं। क्यों? इसलिए कि ऐसे धंधे में पड़ गए हैं, जहाँ बिना नंगा नाच नचाये धन से भेंट नहीं होती। मैं आदर्शों को लेकर गया था, लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमा वालों के पास बने-बनाये नुस्खे हैं, और आप उन नुस्खों के बाहर नहीं जा सकते। वहाँ प्रोड्यूसर यह देखता है कि जनता किस बात पर तालियाँ बजाती है। वही बात वह अपनी फिल्म के दायरे के बाहर समझता है। और फिर सारा भेद तो एसोसिएशन का है। वेश्या के मुख से वैराग्य या निर्गुण सुनकर कोई तर नहीं जाता। रही उपाधियों के टके सेर की बात। हमारे खयाल में सिनेमा में वह इससे कहीं सस्ती है जहाँ अच्छे वेतन पर लोग इसीलिए नौकर रखे जाते हैं, जो अपने ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों-की तारीफ में जमीन-आसमान के कुलाबे मिलायें।

मैं यह नहीं कहता कि होली या कजली त्याज्य हैं और जो लोग होली या कजली गाते हैं वह नीच हैं और जिन भावों से प्रेरित होकर होली और कजली का सृजन होता हे वह मूल रूप से साहित्य की प्रेरित भावनाओं से अलग हैं। फिर भी वे साहित्य नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं को भी साहित्य नहीं कहा जाता। कभी-कभी उसमे ऐसी चीजें निकल जाती हैं जिन्हें हम साहित्य कह सकते हैं। इसी तरह होली और कजली में भी कभी-कभी अच्छी चीजें निकल जाती हैं, और वह साहित्य का अंग बन जाती हैं, मगर

आमतौर पर ये चीजें अस्थाई होती हैं और साहित्य में जिस परिष्कार, मौलिकता, शैली, प्रतिभा एवं वैचारिक गंभीरता की जरूरत होती है, वह उसमे नहीं पाई जाती। देहातों में दीवारों पर औरतें जो चित्र बनाती हैं, अगर उसे चित्रकला कहा जाएँ तो शायद संसार में एक भी ऐसा प्राणी न निकले जो चित्रकार न हो। साहित्य भी एक कला है और उसकी मर्यादाएँ हैं। यह मानते हुए भी कि श्रेष्ठ कला वही है जो आसानी से समझी और चखी जा सके, जो सुबोध और जनप्रिय हो, उसमे ऊपर लिखे हुए गुणों का होना लाजमी है। आपने सिनेमा-जगत् में जिन अपवादों के नाम लिए हैं, उनकी मैं भी इज्ज़त करता हूँ और उन्हें बहुत गनीमत समझता हूँ, मगर वे अपवाद हैं जो नियम को सिद्ध नहीं करते। और हम तो कहते हैं, इन अपवादों को भी व्यापारिकता के सामने सिर झुकाना पड़ा है। सिनेमा में इंटरटेनमेंट वैल्यू साहित्य में इसी अंग से बिल्कुल अलग है। साहित्य में यह काम शब्दों, सूक्तियों या विनोदों से लिया जाता है। सिनेमा में वही काम मारपीट, धर-पकड़, मुँह चिढ़ाने और जिस्म को मटकाने से लिया जाता है।

रही उपयोगिता की बात। इस विषय में मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएँ उपयोगिता के सामने घुटने टेकती हैं। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और

इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा, वर्ना उपनिषद् और बाइबिल दृष्टांतों से न भरे होते।

सेक्स-अपील को हम हौआ नहीं समझते, दुनिया उसी धुरी पर कायम है, लेकिन शराबखाने में बैठकर तो कोई दूध नहीं पीता। सेक्स-अपील की निंदा तब होती है, जब वह विकृत रूप धारण कर लेती है। सुई कपड़े में चुभती है. तो हमारा तन ढँकती है, लेकिन देह में चुभे तो उसे जख्मी कर देगी। साहित्य में भी जब यह अपील सीमा से आगे हो जाती है, तो उसे दूषित कर देती है। इसी कारण हिन्दी प्राचीन कविता का बहुत बड़ा भाग साहित्य का कलंक बन गया है। सिनेमा में वह अपील और भी भयंकर हो गई है, जो संयम और निग्रह का उपहास है। हमें विश्वास नहीं आता कि आप आजकल के मुक्त प्रेम के अनुयायी हैं। उसे प्रेम कहना तो प्रेम शब्द का कलंकित ही करना है — उसे तो छिछोरापन ही कहना चाहिए।

अंत में हमारा यही निवेदन है कि हम भी सिनेमा को इसके परिष्कृत रूप में देखने के इच्छुक हैं, और आप इस विषय में जो सराहनीय उद्योग कर रहे है उसको गनीमत समझते हैं। मगर शराब की तरह यह भी यूरोप का प्रसाद और हजार कोशिश करने पर भी भारत-जैसे देश में उसका व्यवहार बढ़ता ही जा रहा है। यहाँ तक कि शायद कुछ दिनों में वह यूरोप की तरह हमारे

भोजन में शामिल हो जाएँ इसका सुधार तभी होगा जब हमारे हाथ में अधिकार होगा, और सिनेमा-जैसी प्रभावशाली सद्विचार और सद्व्यवहार की मशीन कला-मर्मज्ञों के हाथ में होगी, धन कमाने के लिए नहीं, जनता को आदमी बनाने के लिए, जैसा योरप में हो रहा है। तब तक तो यह नाच तमाशे की श्रेणी से ऊपर न उठ सकेगा।

[‘हंस’, जून 1935]

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य का वर्तमान युग मनोविज्ञान का युग कहा जा सकता है। साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह अब केवल विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है।

नीतिशास्त्र और साहित्य का कार्य-क्षेत्र एक है, केवल उनके रचना-विधान में अतर है। नीतिशास्त्र भी जीवन का विकास और परिष्कार चाहता है, साहित्य भी। नीतिशास्त्र का माध्यम तर्क और उपदेश है। वह युक्तियों और प्रमाणों से बुद्धि और विचार को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। साहित्य ने अपने लिए मनो-भावनाओं का क्षेत्र चुन लिया है। वह उन्हीं तत्त्वों की रागात्मक व्यंजना के द्वारा हमारे अंतस्तल क पहुँचता है। उसका काम हमारी सुंदर भावनाओं को जगाकर उनमें क्रियात्मक शक्ति की प्रेरणा करना है। नीतिशास्त्र बहुत से प्रमाण देकर हमसे कहता है, ऐसा करो, नहीं तुम्हें पछताना पड़ेगा। कलाकार उसी प्रसंग को इस तरह हमारे सामने उपस्थित

करता हे कि उससे हमारा निजत्व हो जाता है, और वह हमारे आनंद का विषय बन जाता है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं लेकिन मेरे विचार में उसकी सबसे सुंदर परिभाषा जीवन की आलोचना है। हम जिस रोमानियत के युग से गुजरे हैं, उसे जीवन से कोई संबंध न था। साहित्यकारों में एक दल तो वैराग्य की दुहाई देता था, दूसरा शृंगार में डूबा हुआ था। पतन काल में प्राय: सभी साहित्यों का यही हाल होता है। विचारों की शिथिलता ही पतन का सबसे मनहूस लक्षण है। जब समाज का मस्तिष्क अर्थात् पढ़ा-लिखा शासक भाग, विषय-भोग में लिप्त हो जाता है तो विचारों की प्रगति रुक जाती है और अकर्मण्यता का अड्डा जमने लगता है। यो तो इतिहास के उज्ज्वल युगों में भी भोग-वृत्ति की कमी कभी नहीं रही, मगर फर्क इतना ही है कि एक दशा में तो भोग हमें कर्म के लिए उत्तेजित करता है, दूसरी दशा में वह हमें पस्तहिम्मत और विचार शून्य बना डालता है। समाज इन्द्रियसुख में इतना डूब जाता है कि उसे किसी बात की चिंता नहीं रहती। उसकी दशा उस शराबी सी हो जाती है, जिसमे केवल शराब पीने की चेतना रह जाती है। उसकी आत्मा इतनी दुर्बल हो जाती है कि शराब का आनंद भी नहीं उठा सकती। वह पीता है केवल पीने के लिए, आनंद के लिए नहीं। जब शिक्षित समाज इस दशा में आ जान है तो साहित्य पर

उसका असर कैसे न पड़े। जब कुछ लोग भोग में डूबेंगे, तो वह लोग वैराग्य में भी डूबेंगे ही। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती ही है। चकले और मठ एक-दूसरे के जवाब हैं। ये मठ न होते तो चकले भी न होते। ऐसे युग में रोमाँच ही साहित्य-कला का आधार था लेकिन अब हालतें बड़ी तेजी से बदलती जा रहा हैं। आज का साहित्यकार जीवन के प्रश्नों से भाग नहीं सकता। अगर सामाजिक समस्याओं से वह प्रभावित नहीं होगा, अगर वह हमारे सौंदर्य-बोध को जगा नहीं सकता, अगग वह हममें भावों और विचारों को स्फूर्ति नहीं डाल सकता, तो वह इस ऊँचे पद के योग्य नहीं समझा जाता। पुराने जमाने में पंथी के हाथ में समाज की बागडोर था। हमारा मानसिक और नैतिक संस्कार धर्म के आदेशों का अनुगामी था। अब भार साहित्य ने अपने ऊपर ले लिया है। धर्म, भय या लोभ से काम लेना था। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, उसके यंत्र थे। साहित्य हमारी सौंदर्य भावना को सशक्त करने की चेष्टा करता है। मनुष्यमात्र में यह भावना होती है। जिसमे यह भावना प्रबल होती है, और उसके साथ ही उसे प्रकट करने का सामर्थ्य भी होता है वह साहित्य का उपासक बन जाता है। यह भावना उसमे इतनी तीव्र हो जाती है कि मनुष्य में, समाज में, प्रकृति में, जो कुछ असुंदर, असौम्य, असत्य है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है, और वह अपनी सौंदर्य-भावना से व्यक्ति और समाज में सुरुचिपूर्ण जागृति डाल देने

के लिए व्याकुल हो जाता है। यों कहिए कि वह मानवता का, प्रगति का, शराफत का वकील है। जो दलित हैं, मर्दित हैं, जख्मी है, चाहे वह व्यक्ति हों या समाज उनकी हिमायत और वकालत उसका धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और अदालत की सत्य और न्याय-बुद्धि और उसकी सौंदर्य-भावना भी प्रभावित करके ही यह संतोष प्राप्त करता है। पर साधारण वकीलों की तरह वह अपने मुवक्किल को तरफ जा और बेजा दावे नहीं पेश करता, कुछ बढ़ाता नहीं, कुछ घटाता नही, न गवाहों को सिखाता-पढ़ाता है। वह जानता है, इन हथकंडों से वह समाज की अदालत में विजय नहीं पा सकता। इस अदालत में तो तभी सुनवाई होगी, जब आप सत्य से जौ-भर भी न हटें, नहीं अदालत उसके खिलाफ फैसला कर देगी और इस अदालत के सामने वह मुवक्किल का सच्चा रूप तभी दिखा सकता है, जब वह मनोविज्ञान की सहायता ले। अगर वह खुद उसी दलित-समाज का एक अंग है, तब तो उसका काम कुछ आसान हो जाता है क्योंकि वह अपने मनोभावों का विश्लेषण करके अपने समाज की वकालत कर सकता है। लेकिन अधिकतर वह अपने मुवक्किल को आंतरिक प्रेरणाओं से, उसके मनोगत भावों से अपरिचित होता है। ऐसी दा में उसका पथ-प्रदर्शक मनोविज्ञान के सिवा कोई और नहीं हो सकता। इसलिए साहित्य के वर्तमान युग को हमने

मनोविज्ञान का युग कहा है। मानव-बुद्धि की विभिन्नताओं को मानते हुए भी हमारी भावनाएं सामान्यतः एक रूप होती हैं। अंतर केवल उनके विकास में होता है। कुछ लोगों में उनका विकास में होता है। कुछ लोगों में उनका विकास इतना प्रखर होता है कि वह क्रिया के रूप में प्रकट होता है वरना अधिकतर सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। साहित्य इन भावनाओं को सुषुप्तावस्था में जाग्रतावम्था में लाने की चेष्टा करता है। पर इस सत्य को वह कभी नहीं भूल सकता कि मनुष्य में जो मानवता और सौंदर्य-भावना छिपी हुई रहती है, वहीं उसका निशाना पड़ना चाहिए। उपदेश और शिक्षा का द्वार उसके लिए बन्द है। हाँ, उसका उद्देश्य अगर सच्चे भावावेश में डूबे हुए शब्दों से पूरा होता है, तो वह उनका व्यवहार कर सकता है।

[‘हंस’, फरवरी, 1936]

देशी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है?

आजकल जब इस सवाल पर बहस छिड़ती है कि हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों की तरक्की क्यों नहीं होती तो आमतौर पर यह कहा जाता है कि अभी जनता में देश-प्रेम और कौमी हमदर्दी का खयाल ऐसा नहीं फैला है, कि वह निजी फायदे को नज़रअंदाज करके अपने देश की चीजों को, बावजूद उनकी ख़ामियों और बुराइयों के, दूसरे देशों की चीजों से बढ़कर जगह दें। इसमें शक नहीं है कि यह दलील एक हद तक ठीक है और वास्तविकता पर आधारित है। मगर हम यह हरगिज नहीं कह सकते कि हमारी व्यापारिक मंदी केवल इसी कारण से है। इसके कुछ और कारण भी हैं जो नीचे की पंक्तियों से प्रकट होंगे।

व्यापार के रास्ते में पहली बाधा यह है कि अभी तक हमारे देश वालों को हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों और कारखानों की जरा भी जानकारी नहीं है। जिन लोगों को अखबार पढ़ने की आदत है वह अलबत्ता कुछ कारखानों से

परिचित हैं। आमतौर पर यह हमको नहीं मालूम कि हिन्दुस्तान में कौन-सी चीज कहां बनती है। इस अज्ञान को दूर करने का सिर्फ यही इलाज है कि विज्ञापनों से अधिक से अधिक फायदा उठाया जाएँ और विभिन्न देशी भाषाओं में आसानी से समझ में आने वाले विज्ञापन प्रकाशित किए जाएँ। उनको आम रास्तों पर ज्यादा से ज्यादा चिपकाया जाएँ। हर शहर के प्रतिष्ठित लोगों की सूची बनाई जाए और समय-समय पर विज्ञापन उनके पास भेजे जाएँ। कारखानों और उनकी जगहों के नाम खूब रौशन कर दिए जाएँ। जिन कारखानों ने इस तरकीब से फायदा उठाया है उनको आज अच्छी तरक्की हासिल है। सियालकोट, कानपुर वगैरह शहरों में खास-खास चीजों के कारखाने खूब रौनक पर हैं। देशी दवाइयों के इश्तिहार खूब छपते हैं और आम सड़कों पर भी खूब ज्यादा दिखाई पड़ते हैं। इसी वजह से हमारी देशी दवाएँ अंग्रेजी दवाओं के मुकाबले में बहुत ज्यादा गिरी हुई हालत में नहीं हैं। कई आयुर्वेदिक दवाखानों की खासी आमदनी है। अभी बहुत दिन नहीं बीते कि बनारस में नई चाल के रेशमी कपड़े बनने शुरू हुए और आज काशी सिल्क को लोकप्रियता प्राप्त है। ऐसा कौन-सा सजधज का शौकीन आदमी होगा जिसके संदूक में दो-एक जोडे काशी सिल्क के न होंगे। इस तात्कालिक उन्नति और लोकप्रियता का यही कारण है कि हर प्रकार के नमूनों के टुकड़े आस-पास चारों तरफ काफी बड़ी संख्या में

रवाना किए गए। कुछ पढ़े-लिखे लोग हर ढंग के कपड़े ले-लेकर दूर-दूर के शहरों में गए और उनकी अच्छाइयाँ और खूबियाँ जनता के दिलों पर अच्छी तरह जमा दीं।

एक बार हमने एक बजाज से पूछा कि तुम कानानोर से देशी कपड़े क्यों नहीं मँगाते। उसने जवाब दिया कि उन कपड़ों की बिक्री में नफा बहुत कम होता है। नफे की यह कमी पूंजी के सिद्धांतों से संबंध रखती है जिन पर हम इस वक्त बहस नहीं करना चाहते। कैसा अच्छा होता कि हर शहर के कुछ जिन्दादिल, पुरजोश, पढ़े-लिखे लोग कमर कसकर थोड़ी-सी पूंजी जुटा लेते और इस पूंजी से देशी कपड़े मँगाकर मोल के दामों पर बेचते। यह जरूरी नहीं है कि यह लोग एक बाकायदा दुकान खोलें और दुकान का किराया और दुकानदार की तनख्वाह बढ़ाकर कपड़े को और भी महंगा कर दें बल्कि एक उत्साही सज्जन देशप्रेम से काम लेकर आनरेरी मैनेजर हो जाएं और शाम-सबेरे घंटा-दो-घंटा समय इस काम के लिए दें। जब जनता की ओर से उनके प्रयत्नों के लिए प्रशंसा मिलने लगे, देशी कपड़ों की मांग ज्यादा हो जाएँ तो पूंजी भी बढ़ाई जा सकती है, दुकान और दुकानदारी का खर्चा भी उठाया जा सकता है। |

जो लोग अपनी पूंजी से व्यापारिक सिद्धांतों पर देशी कपड़ों की दुकानें खोलें उनको चाहिए कि ग्राहकों की आव-भगत, खातिर-तवाजो अच्छी तरह करें। देशी चलन के पाबन्द लोगों के लिए दो-एक बीड़ा पान, दो- चार इलायचियाँ, जरा-सी तंबाकू और अंग्रेजी चलने वालों के लिए एक-आध सिगरेट या एक प्याली चाय काफी होगी। इस थोड़े से खर्चे में यकीन है कि ग्राहकों की संख्या बहुत जल्द बढ़ जाएँगी क्योंकि लोगों को इस दुकान से एक खास प्रेम हो जाएँगा। दुकानदार भी पढ़ा-लिखा होना चाहिए जो खरीददारों से सभ्यतापूर्वक बातचीत कर सके। ऐसे दुकानदारों को ग्राहकों के साथ उस बेगरजी और रूखेपन से नहीं पेश आना चाहिए जिससे आमतौर पर मामूली सौदागर पेश आया करते हें। अगर इन दुकानों पर दो-एक अंग्रेजी और उर्दू अखबार भी रखने का बंदोबस्त कर दिया जाएँ तो यह एक और दिलचस्पी बहुत से खरीदारों को खींच लाएगी। पढ़े लिखे लोग यहाँ आकर बैठेंगे तो मौके और वक्त का तकाजा यही होगा कि व्यापार की उन्नति के बारे में बातचीत हो। और इस बातचीत से लोगों के दिलों में जोश पैदा होगा और यह जोश देशी व्यापार को उन्नति देने वाला होगा।

कहीं-कहीं देशी चीजों का जिस जोड और हमदर्दी से स्वागत किया गया है, वह उम्मीद दिलाता है कि अब हिन्दुस्तान का व्यापारिक जागरण बहुत दूर नहीं। लाहौर के आर्य समाज मेम्बरों को सर से पैर तक हिन्दोस्तान की

बनी चीजों से सजे हुए देखना सचमुच बहुत दिलचस्प और याद रखने क काबिल दृश्य था। हम अपने समाजी भाइयों के देश-प्रेम और कौमी जोश के हमेशा से प्रशंसक रहे हैं और हमको उम्मीद है कि हमारी व्यापारिक उन्नति में यह लोग उसी सम्मान और धन्यवाद के अधिकारी होंगे जिसके कि वह राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सुधारों में है। बंबई और कलकत्ता जैसे शहरों में स्वदेशी आंदोलन बड़े जोरों के साथ किया जा रहा है मगर हमको उससे कई गुना ज्यादा खुशी इस बात पर होती है कि हमारे सोए हुए सूबे में भी इस तरह की कमजोर आवाजें कभी-कभी सुनाई दे जाती हैं। हमको यकीन है कि इस साल बनारस में कांग्रेस के अधिवेशन का होना बनारस व लखनऊ व कानपुर के व्यापार के लिए बहुत अच्छा साबित होगा। मगर केवल पढ़े-लिखे लोगों के संरक्षण और सहानुभूति से हमारे व्यापार को भी यथेच्छ उन्नति नहीं हो सकती जब तक कि आबादी का वह बड़ा हिस्सा भी जो मुल्की और कौमी मामलों की तरफ से बेखबर है, इस अच्छे काम में हाथ न बटाए। पढ़े-लिखे लोगों के नाम उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। उनकी चि और उनकी काल्पनिक आवश्यकताओं ने कुछ ऐसा रंग पकड़ लिया है, कि अभी उनको पूरा करने के लिए हमारे व्यापार को एक लम्बी अवधि दरकार है।

हमारी आबादी का बहुत बडा हिस्सा देहातों में आबाद है, जिसमें बिना किसी अतिरंजना के निन्यानवे फीसदी तो ऐसे हैं जो अलिफ़ के नाम बे भी नहीं जानते और जिनको शहर में आने का बहुत कम इत्तफ़ाक होता है। लिहाजा शहरों में स्वदेशी दुकानों का खुलना, चाहे वह कैसे ही अच्छे उसूलों पर क्यों न हों, व्यापार को बहुत लाभ नहीं पहुंचा सकता। ऐसी दा में उचित है कि हमारे व्यापारी भी वही ढंग अख्तियार करें जो अरसे से विलायतियों ने अख्तियार किया है।

पाठक जानते हैं कि देहाती किसानों की ज्यादातर जरूरतें कर्ज लेकर पूरी हुआ करती हैं। अगर आज आप किसी किसान को पचास रुपये की चीज उधार दे दीजिए तो वह बिना यह सोचे कि मुझमें इस चीज के खरीदने की योग्यता है या नहीं, फौरन मोल ले लेता है और फिर किसी न किसी तरह रो-धोकर उसकी कीमत अदा करता है। विलायतियों ने देहातियों के इस स्वभाव को बखूबी समझ लिया है। चुनांचे वह जत्थे के जत्थे आते हैं, शहरों में विदेशी और रद्दी माल सस्ते दामों पर खरीदते हैं और तब गाँव में जाकर किसी एक मोतबर आदमी की जमानत पर किसानों के हाथ सौदा बेचते हैं। किसान अपनी माली हालत से बिल्कुल बेखबर होता है। उसमें दूरदर्शिता नहीं होती। झुंड के झुंड कपड़े खरीदने को टूट पड़ते हैं। आजकल अगर आप किसी गाँव में निकल जाइए तो बजाए इसके कि लोग

गंजी-गाढ़े पहने हुए नजर आएँ कोई तो इटली की बनी हुई बनियाइन पहने हुए दिखाई देता है, कोई अमरीका की बनी हुई चादर। वही चीज जो बाजार में मारी-मारी फिरती है, देहात में जाकर हाथों हाथ बिक जाती है और यह इसी वजह से कि किसानों को खरीदते वक्त दाम नहीं देना पड़ता। इन विलायतियों ने कितने ही जुलाहों को तबाह कर डाला और जुलाहों की तबाही से पूर्वी सूत की माँग जाती रही। इस तरह देशी रुई को मजबूरन इंगलिस्तान की खुशामद करना पड़ी।

हमारे देशी व्यापारियों को वह दिक्कतें हरगिज नहीं पेश आ सकतीं जो विलायतियों को पेश आती हैं। उनको सैकडों कोस की मंजिल तय करना पड़ती है, गाँव में प्रभाव रखने वाले लोगों का सहारा ढूँढना पड़ता है और कभी-कभी कीमत की वसूली से हाथ धोना पड़ता है। देशी व्यापारियों को इन कठिनाइयों के बदले में सिर्फ इतना करना है कि गाँव में मोतबर एजेंटों को रवाना करें, उनको उधार माल बेचने की इजाजत दें और जहाँ तक हो कम मुनाफा लें। देहाती आमतौर पर ईमानदार होते हें, सौदा ले लिया तो उसकी कीमत अदा करने में गड़बड़ी नहीं करते। अगर खुदा न ख्वास्ता उनका ईमान जरा डगमगाया भी तो वह डरपोक ऐसे होते हैं कि दो-चार धमकियों में सीधे रास्ते पर आ जाते हैं। हमने देखा है कि विलायतियों को दाम वसूल करने में बहुत कम दिक्कत होती है। बेचारा किसान सूद पर कर्ज

लाता है और निश्चित समय पर चीज की कीमत अदा करता है। जब विलायतियों को वसूली में कोई दिक्कत नहीं होती तो कोई वजह नहीं कि हमारे देशी एजेंटों को इस काम में कोई दिक्कत हो। बस जाडे में चीज दे आए, उसकी कीमत फसल तैयार होने पर वसूल कर ली। और गर्मी में जो माल बेचा, उसकी कीमत ऊख पेरने के वक्त वसूल कर ली, न कोई ठक-ठक न कोई बखेडा। व्यापार का यह ढंग उससे कहीं ज्यादा लाभदायक और देशभक्तिपूर्ण है जिसको हुंडी कहते हैं। बनारस, मिर्जापुर, इलाहाबाद वगैरह शहरों में हुंडी का आम रिवाज है। इसका तरीका यह है कि यह हर एक गाँव में महाजन की तरफ से कुछ लोग नौकर होते हैं। उनका काम यह है कि देहातियों को रुपया कर्ज दें और उनसे एक निश्चित अवधि के भीतर एक का सवाया वसूल कर लें। व्यापार के इस ढंग से चाहे महाजन को फायदा हो, मुल्क या कौम को सरासर नुकसान होता है। क्योंकि बेचारे किसान को दोनों तरफ से नुकसान उठाना पड़ता है। उधर तो मुगल सौदागरों को एक का डेढ दिया और इधर अपने महाजनों को एक का सवाया देना पडा। बेचारे की छोटी-सी आमदनी महाजनों ही भर को हो गई।

['जमाना', जून, 1905]

स्वदेशी आंदोलन

हिन्दुस्तान के लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रों और पत्रिकाओं ने इस देशभक्तिपूर्ण आंदोलन का समर्थन किया है और जो पहले थोडा हिचकिचा रहे थे उनका भी अब विश्वास पक्का होता जाता है। मगर अभी अक्सर भलाई चाहने वालों की जबान से सुनने में आता है कि वह उन मुश्किलों का सामना करने के काबिल नहीं हैं जो आंदोलन के रास्ते में निश्चय ही आयेंगी। मिसाल के लिए कपडा जितना हिन्दुस्तान में बनता है, उसका चौगुना विलायत से आता है, तब जाकर इस देश की जरूरतें पूरी होती हैं। क्योंकर संभव है कि यह देश बिना वर्षों के निरंतर अभ्यास और जिगरतोड़ कोशिश के परदेसी कपड़ा बिल्कुल रोक दे। मिलें जितनी दरकार होंगी उसका तखमीना एक साहब ने चालीस करोड रुपया बतलाया है। हम समझते हैं यह अत्युक्ति है क्योंकि एक दूसरे पर्चे में यह तखमीना तीस ही करोड किया गया है। कौन कह सकता है कि यह देश इतनी पूंजी लगाने के लिए तैयार है। अगर यह मान लिया जाएँ कि पूंजी मिल जाएँगी तो फिर सवाल होता है, क्या किया जाएँगा। रुई जितनी यहाँ पैदा होती है, उसमें

से दो हिस्से तो जापान ले लेता है और एक हिस्सा हिन्दुस्तान के हाथ लगता है। विलायत यहाँ की रुई बहुत कम खरीदता है। अगर मान लीजिए सब रुई जो इस वक्त पैदा होती है, यहीं रोक ली जाएँ तो भी हमारी जरूरतें ज्यादा से ज्यादा आधी पूरी होंगी। यानी एक सौ पाँच करोड गज कपड़ों के लिए हम फिर भी विलायत के मुहताज रहेंगे। यह आशा करना कि दो-चार बरस में किसान रुई की खेती को बढ़ाकर यह मुश्किल भी आसान कर देंगे, एक हद तक सपना मालूम होता है। फिर, यहाँ की रुई से महीन कपडा नहीं बुना जा सकता और हिन्दुस्तान में शरीक लोग ज़्यादातर महीन कपड़े इस्तेमाल करते हैं। उनके पहनाव के ढंग में यकायक क्रांति पैदा कर देना भी कठिन है। यह चंद बातें ऐसी हैं जो अभी कुछ अर्से तक हमारे संकल्पों में विध्न डालेंगी। मगर तस्वीर का दूसरा पहलू ज्यादा रौशन है। पश्चिमी हिन्दुस्तान में ज्यादातर कपडा देशी इस्तेमाल किया जाता है, विलायती कपड़े का खर्च बंगाल और हमारे सूबे में सबसे ज्यादा है। हम महीन कपड़ों के बहुत ज्यादा शौकीन नहीं हैं। हाँ, बंगाल वाले, क्या मर्द क्या औरत, ऐसे कपड़ों पर जान देते हैं। उनमें भी खासतौर पर वही सज्जन जो पढ़े-लिखे हैं। मगर जब यह समुदाय अपने जोश में हर तरह का बलिदान करने के लिए तैयार है, तो क्या वह महीन की जगह मोटे कपड़े न पहनेगा। कायदे की बात है, कि शहर के छोटे लोग

बड़े लोगों के कपड़ों और रहन-सहन की नकल करते हैं। जब बंगाल के बड़े लोग अपना ढंग बदल देंगे तो मुमकिन नहीं कि दूसरे लोग भी वैसा ही न करें। हमारे सूबे में ढंग तंजेब और मलमल का इस्तेमाल कुछ दिनों से उठता जाता है और उसके कद्रदाँ या तो कुछ पुराने जमाने के शौकीन-मिजाज बूढ़े हैं या बाजारी बेफिकरे। हाँ शरीफों की औरतें अभी तक उन पर जान देती हैं, मगर उम्मीद है कि वह अपने मर्दों के मुकाबिले में बहुत पिछड़ी न रहेंगी। विशेषतः जब मर्दों की तरफ से इसका तकाजा होगा। इस तरह महीन कपड़े का खर्च कम हो जाएँगा और जब मोटा कपडा इस्तेमाल में आएगा तो साल में बजाए चार जोड़ों के दो ही जोड़ों से काम चलेगा। अगर शहरों में विदेशी चीजों का रिवाज कम होने लगे तो देहातों में आप से आप कम हो जाएँगा। हम अपने सूबे के तजुर्बे से कह सकते हैं कि यहाँ देहाती ज्यादातर जुलाहों का बुना हुआ गाढा इस्तेमाल करते हैं और जाड़े में गाढ़े की दोहरी चादरें। उनको परदेसी कपड़ों की जरूरत ही नहीं महसूस होती। गो इसमें कोई शक नहीं कि कुछ दिनों से काबुलियों और मुगलों ने वहाँ जा-जाकर विदेशी चीजों का रिवाज बढ़ाना शुरू कर दिया है। यह मौका है कि पढ़े-लिखे लोग, जिनमें से अधिकतर देहाती होते हैं, जब अपने मकान को जाएँ तो अपने पड़ोसियों को भला-बुरा सुझाकर सीधे

रास्ते पर ले आएँ और जब जरूरत देखें रुई की खेती को बढ़ाने के लिए कहें।

रुई के बाद चीनी या शक्कर दूसरी जिन्स है जो हम पाँच करोड रुपये सालाना की बाहर से मँगाते हैं। यह-खेद की बात है। हमारे देश के कारखाने टूटते जाते हैं मगर इसका जवाबदेह सिर्फ तालीम याफ्ता फिरका है। देहाती बेचारे तो विलायती शक्कर को हाथ भी नहीं लगाते, और बहुतों ने तो बाजार की मिठाई खाना छ़ोड़ दिया। और शक्कर ऐसी जिन्स है, जिसकी पैदावार को आसानी से बढ़ाया जा सकता है। जरा भी माँग ज्यादा हो जाय तो देखिए ऊख की खेती ज्यादा होने लगती है। किसान मुँह खोले बैठे हैं। यही तो एक जिन्स है, जिससे वह अपनी जमीन का लगान अदा करते हैं। कपड़े के रोकने में चाहे कितनी ही दिक्कतें हों मगर शक्कर बन्द होना तो जरा भी कठिन नहीं। हम उन लोगों पर हँसा करते थे जो हम लोगों को विलायती शक्कर खाते देखकर मुँह बनाते थे। हमारी नजरों में वह लोग असभ्य मालूम होते थे। अब हमको तजुर्बा होता है कि वह ठीक रास्ते पर थे और हम गलती पर। विदेशी चीजों का रिवाज सभ्य लोगों का डाला हुआ है और अगर स्वदेशी आंदोलन की सफलता होगी तो उन्हीं के किए होगी।

[उर्दू साप्ताहिक पत्र, 'आवाज-ए-खल्क', 16 नवंबर, 1905]

●●●